प्रथमावृत्ति ११००
श्रुतपचमी ८ जून, १९८९ ई०

द्वितियावृत्ति २५००
मगसिर सुदी ५ स० २०४६
दिनाक २९-११-९२

न्योछावर मूल्य ३०.०० रुपए

प्राप्ति-स्थान



वीतराग-विज्ञान भवन
डॉ० नन्दलाल मार्ग (पुरानी मडी)
अजमेर ३०५००१

पं० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५ (राज०)

श्री माणक चन्द जैन (लुहाडिया)
सी-२/५४, एस०डी०ए०
हौज खास, नई दिल्ली-११००१६
दूरभाष · ६६३३९९ व ६६५३७४

श्री दि० जैन ज्ञान चन्द्रिका पाठशाला
उदासीन श्राविका-आश्रम
तुकोगज—इन्दौर

मुद्रक
मेसर्स अग्रवाल प्रिंटर्स
१३/१४, डिप्टीगज सदर बाजार,
देहली-११०००६
दूरभाष : ७७७४८२४

प्रकाशकीय

"आत्मज्ञान ही ज्ञान है, और सभी अज्ञान
विश्व शांति का मूल है, वीतराग विज्ञान"

प्राणीमात्र के लिए कल्याणकारी पवित्र वीतराग मार्ग को भारतवर्ष के कोने कोने में प्रसारित करने के पावन उद्देश्य से धर्म वत्सल अध्यात्म प्रेमी बंबई प्रवासी व अजमेर निवासी श्री पूनमचन्दजी लुहाडिया (सुपुत्र श्री बालचन्दजी लुहाडिया) ने १६ अप्रेल १९८५ को वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट प्रस्थापित कर एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया। इस ट्रस्ट के अन्तर्गत स्थापित श्री पं० सदासुख ग्रंथमाला द्वारा वीतरागी तत्वज्ञान के प्रचार प्रसार एवम् अनुपलब्ध दि० जैन सत्साहित्य के प्रकाश की दिशा में अब तक निम्न ग्रंथ लोकार्पित किए जा चुके है।

(१) मृत्यु महोत्सव (पुनः प्रकाशन की योजना है)
(२) सहजसुख साधन
(३) बारह भावना शतक (द्वितीय खंड)
(४) साधना के सूत्र
(५) आगम रत्न (बोलती दीवारें)

प्रस्तुत ग्रंथ 'सहजसुख साधन' (लेखक श्री ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी) का प्रथम प्रकाशन ग्रंथमाला द्वारा जून १९८९ में हुआ था और प्रकाशन के तुरंत बाद ही इसकी सभी प्रतियाँ समाप्त हो गई। समाज को चतुर्मुखी मांग को देखते हुए तथा विशेषतया इन्दौर समाज के व उदासीन श्राविकाश्रम की प्रेरणा से इसको पुनः प्रकाशित किया जा रहा है जिसका हमें अपार हर्ष है।

प्रस्तुत आध्यात्मिक ग्रंथ की रचना ब्रह्मचारी श्री सीतलप्रसादजी ने १९३४ ई० में अमराबती में की थी। इस ग्रंथ में उन्होंने जैन धर्म के विविध विषयों व मौलिक सिद्धान्तों को पूर्व आचार्यों एवं विद्वानों के द्वारा रचित ग्रंथों का समावेश करते हुये बड़े ही भावपूर्ण ढंग से सरल व सुबोध शैली में प्रस्तुत

किया है; तथा अपनी अगाध साधना के परिणामस्वरूप निम्न ३१ छोटे बड़े दिगम्बर जैन ग्रंथो का सार इस ग्रंथ में भर दिया है :-

१. समयसार	१२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	२२ सारसमुच्चय
२. समयसार नाटक	१३ पद्मनंदि पञ्चविंशति	२३. तत्त्वार्थसार
३. प्रवचनसार	१४. ज्ञानार्णव	२४ तत्त्वसार
४. पंचास्तिकाय	१५. स्वयंभूस्तोत्र	२५. बनारसी विलास
५. अष्टपाहुड़	१६ इष्टोपदेश	२६. द्यानत विलास
६. समयसार कलश	१७. रत्नकरंड श्रावकाचार	२७ ब्रह्म विलास
७. द्वादश अनुप्रेक्षा	१८ मूलाचार	२८ पात्रकेसरीस्तोत्र
८. भगवती आराधना	१९. तत्त्वज्ञानतरंगिणी	२९ वैराग्य मणिमाला
९. सर्वार्थसिद्धि	२० तत्त्वानुशासन	३० सामायिक पाठ
१०. समाधि शतक	२१. योगसार	३१. तत्त्व भावना
११. आत्मानुशासन		

आत्मबोध, आत्मचिंतन, आत्मनिरीक्षण, आत्मावलोकन एवम् आत्मानुशासन ही दुर्लभता से प्राप्त मानव जीवन का कर्त्तव्य एवम् पुरुषार्थ है। राग द्वेष, विषय कषाय एवम् अज्ञान रूप आत्मा की अनादिकालीन मिथ्या मान्यता ही परिभ्रमण एवम् अशांति का मूल कारण है—मिटाने का एकमात्र उपाय शास्त्र स्वाध्याय एवम् तत्वाभ्यास द्वारा आतमसाधना के मार्ग में लगना है। सहजसुख प्राप्ति का यही साधन है जिसे इस ग्रंथ में बहुत विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त अध्यात्म प्रवक्ता श्री डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल जयपुर द्वारा लिखित मार्मिक प्रस्तावना हेतु ट्रस्ट उनका हृदय से आभार मानता है।

प्रस्तुत ग्रंथ के प्रकाशन में श्री माणकचन्दजी जैन लुहाडिया देहली तथा श्री निहालचन्दजी पाण्डया एम० ए० एल० एल बी अजमेर द्वारा प्रदत्त योगदान उल्लेखनीय है। श्री विनीत अग्रवाल प्रो० अग्रवाल प्रिन्टर्स, डिपटीगंज सदरबाजार देहली वालों ने सुन्दर प्रकाशन में सराहनीय सहयोग प्रदान किया है। ट्रस्ट इन सभी का आभार प्रकट करता है।

इस वर्ष पर्यूषण पर्व के पुनीत अवसर पर आयोजित श्री दश-लक्षण विधान के समय प्रस्तुत ग्रंथ की कीमत कम करने हेतु दिए गए आर्थिकसहयोग

के लिए ट्रस्ट आभार प्रकट करता है। दातारों की सूचि पुस्तक में अलग से प्रकाशित है।

श्रीमान् मूलचन्द जैन पारमार्थिक ट्रस्ट, धर्मपत्नी श्रीमति केसरबाई इन्दौर, श्रीमती स्व० कपूरीदेवी जी धर्मपत्नी श्री आनंदीलाल जी सेठी पारमार्थिक ट्रस्ट २८ धेनू मार्केट इन्दौर एवं श्री प्रेमचन्द जी घाटे, श्रीमती शांति बाई जैन मातु श्री अनिल सुनील जैन, श्रीमती कुसुम सोनी धर्मपत्नी श्री सुभाषचंद इन्दौर, श्रीमान् सौभाग्यमल जो सा०, श्रीमती सुदर्शना बाई अग्रवाल उपरोक्त सभी धर्मानुरागी बन्धुओं के हम आभारी हैं जिन्होंने अग्रिम राशि भेजकर अनुकरणीय एवं सराहनीय कार्य किया है।

इस पवित्र ग्रथ के स्वाध्याय द्वारा आकुलता एवम् अशांति से ग्रस्त सभी भव्य प्राणी सम्यक्ज्ञान एवम् वैराग्य की आंतरिक शक्ति को पहचानकर आत्म कल्याण के पवित्र मार्ग में लग सकें—इसी पुनीत भावना के साथ।

दिनाक
२-११-९२

विनीत
हीराचन्द बोहरा
मंत्री
वीतराग विज्ञान स्वाध्याय मदिर ट्रस्ट
अजमेर

प्रस्तावना

प्रस्तुत कृति 'सहजसुख-साधन' एक ऐसी अनुपम कृति है, जिसमे अध्यात्मरसिक ब्र० सीतलप्रसादजी ने ३१ आध्यात्मिक ग्रन्थो के महत्त्वपूर्ण मार्मिक अशो को विषयवार सकलित कर दिया है, जिसमे अध्यात्मप्रेमी पाठको को परम हितकारी वह सब सामग्री एक स्थान पर उपलब्ध हो गई है, जो उन्हे इन ग्रन्थो के गम्भीर अध्ययन के उपरान्त ही उपलब्ध हो पाती।

नौ अध्यायो मे विभक्त इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ मे भूमिका के रूप मे दश-पाच पृष्ठ लिखकर आत्मानुभवी आचार्यो एव आध्यात्मिक विद्वानो की वाणी सकलित कर दी गई है। प्राकृत एव सस्कृत भाषा मे लिखे गये आचार्यो के छन्दो का सरल भाषा एव सुबोध शैली मे सक्षेप मे अर्थ दिया गया है, पर आध्यात्मिक विद्वानो के हिन्दी पद्यो का अर्थ लिखने की आवश्यकता नही समझी गई है।

ब्र० सीतलप्रसादजी की भावना आचार्यो की मार्मिक वाणी को जन-जन तक पहुँचाने की ही थी। अपनी भावना को व्यक्त करते हुए वे प्रशस्ति मे लिखते है –

> "सहजसुख-साधन निमित्त, जैन रिषिन के वाक्य।
> जो सग्रह हो जांय तो, पढै भविक ते वाक्य॥ ३९॥
> ऐसी इच्छा पायके, लिखा ग्रन्थ यह सार।
> भूल-चूक कछु होय तो विद्वत् लेहु सम्भार॥ ४०॥

दिगम्बर ऋषियो के वाक्य सहजानन्द के साधन होते है, अत ग्रन्थ का नाम 'सहजसुख-साधन' सार्थक ही है।

सहजसुख अर्थात् सहजानन्द प्रत्येक आत्मा का सहज स्वभाव है। अपने इस सहज स्वभाव को भूलकर यह भगवान आत्मा सुख की आकाक्षा से पर की ओर देखता है, अनेक प्रकार के भोगो को भोगता है, फिर भी इसकी आकुलता कम नही होती, क्योकि सच्चा सुख तो स्वय मे ही है, निज भगवान आत्मा मे ही है।

भगवान आत्मा के इस सहजानन्द स्वभाव का भान भवदु ख से सतप्त प्राणियो को सहज भाव से हो—इस भावना से लिखे गए इस ग्रन्थ के मगलाचरण मे भी भगवान आत्मा के सहजानन्द स्वभाव का स्मरण किया गया है और उस सहजानन्द स्वभाव को ही सभी प्रकार के भ्रमो का निवारण करनेवाला, परमशरण एव परमशान्ति का दातार बताया गया है। तथा जिन्हे इस सहज सुखामृत के चखने का अत्यन्त उत्साह है, उनके

हित के लिए इस ग्रन्थ के लिखने का सकल्प व्यक्त किया गया है, जो उन्हीके शब्दों में इसप्रकार है :–

सहजानन्द स्वभाव को, सुमरण कर बहु बार ।
भाव द्रव्य से नमन कर, लहूँ सुबुद्धि उदार ॥ १ ॥
आत्मधर्म जग सार है, यही कर्म क्षयकार ।
यही सहज सुखकार है, यही भर्म हरतार ॥ ८ ॥
यही धर्म उत्तम महा, यही शरण धरतार ।
नमन करूँ इस धर्म को, सुख शान्ती दातार ॥ ६ ॥
सहजानन्द सुधा महा, जे चाखन उत्साह ।
तिन हित साधन सार यह, लिखू तत्त्व अवगाह ॥ १० ॥

पुण्योदय से प्राप्त होने वाले सासारिक सुख वस्तुत. दुःख ही हैं, क्योकि वे पराधीन हैं, विषम हैं, बाधासहित हैं, और पचेन्द्रियो के भोगो से उत्पन्न होने के कारण पापबध के कारण हैं । इस बात को पहले ही अध्याय मे अनेक तर्क एव युक्तियों से सिद्ध किया गया है, तदर्थ चतुर्गति के दु खो का विशद वर्णन किया गया है । ससार-सुखो को दु ख सिद्ध करनेवाले अनेकानेक आचार्य वचनो का प्रथम अध्याय मे ही सकलन कर पाठको के हृदय को कोमल बनाकर विषयो से अरुचि एव सहज सुखस्वरूप भगवान आत्मा की सच्ची रुचि जागृत कराने का सफल प्रयास किया गया है ।

अज्ञानी जीवो की सर्वाधिक मूर्च्छा शरीर मे होती है । यही कारण है कि प्रथम अध्याय मे चतुर्गति दु खो का वर्णन करने के उपरान्त दूसरे अध्याय में शरीर के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है ।

सम्पूर्ण परपदार्थों मे शरीर ही एक ऐसा परपदार्थ है, जो इस भगवान आत्मा से एकक्षेत्रावगाह रूप से सम्बन्धित है, जन्म से लेकर मरण तक इसका साथ रहता है; इसकारण सहज रूप से इससे भिन्नता भासित नही होती । माता-पिता, भाई-बहिन व स्त्री-पुत्रादि भी इसी के माध्यम से अपने लगते हैं । यदि एकवार इस शरीर का एकत्व-ममत्व टूट जाय तो स्त्री-पुत्रादि मे भी ममत्व टूटते देर न लगेगी । शरीर से एकत्व-ममत्व तोडने का एक ही उपाय है कि इसके स्वरूप पर गहराई से विचार किया जाये; इसका भगवान आत्मा से किसप्रकार का सम्बन्ध है—इस बात पर चिन्तन किया जाय; साथ ही निज भगवान आत्मा के सच्चे स्वरूप की पहिचान भी आवश्यक है । यदि यह भगवान आत्मा एक बार स्वय को सही रूप मे जान ले, स्वय को अच्छी तरह पहिचान ले तो फिर आत्मा मे एकत्व हुए बिना नही रहेगा और शरीर से भिन्नता भी भासित हुए बिना नही रहेगी ।

यही कारण है कि चतुर्गति दुःखो के वर्णन के उपरान्त शरीर के स्वरूप पर गहराई से मथन किया गया है ।

देह और आत्मा के सम्बन्ध को वस्त्र और देह के उदाहरण से ब्रह्मविलास में भैया भगवतीदासजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं :—

> लाल वस्त्र पहरे सों देह तो न लाल होय,
> लाल देह भये हंस लाल तो न मानिये ।
> वस्त्र के पुरान भये देह न पुरान होय,
> देह के पुराने जीव जीरन न जानिये ।
> वस्त्र के नाश कछू देह को न नाश होय,
> देह के नाश हुए नाश न बखानिये ।
> देह दर्व पुदगल कि चिदानन्द ज्ञानमई,
> दोउ भिन्न-भिन्न रूप 'भैया' उर आनिये ।

इसके उपरान्त तीसरे अध्याय में भोगों के स्वरूप का विचार किया गया है; क्योंकि अनादिकाल से यह आत्मा इन्द्रियों के भोगों में ही लिप्त रहा है, उनमें ही सुख मानता रहा है। जबतक भोगों की निस्सारता ध्यान में न आवेगी, तबतक उनसे विरक्ति सम्भव नहीं है। भोगों की असारता पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए ब्र० सीतलप्रसादजी इसी अध्याय में लिखते हैं –

"इन्द्रियों के भोग रोग के समान हैं, असार हैं। जैसे केले के खम्भे को छीला जावे तो कहीं भी गूदा या सार नहीं मिलेगा, वैसे इन्द्रियों के भोगों से कभी भी कोई सार फल नहीं निकलता है। इन्द्रियों के भोगों की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढ़ती है, हिंसात्मक भाव हो जाते हैं, धर्मभाव से च्युति हो जाती है; अतएव पापकर्म का भी बंध होता है।"

इसप्रकार आरम्भ के तीन अध्यायों में संसार, शरीर और भोगों का स्वरूप दिखाकर, इनसे विरक्ति उत्पन्न कराकर, चौथे अध्याय में अतीन्द्रिय सहजसुख की चर्चा आरम्भ की गई है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, मूलतः पठनीय है। उसका प्रारम्भिक अंश इसप्रकार है –

"गत अध्याय में यह भले प्रकार दिखा दिया है कि जिस सुख के पीछे संसारी अज्ञानी जीव बावले हो रहे हैं वह सुख सुख-सा भासता है, परन्तु वह सच्चा सुख नहीं है। इन्द्रियों के भोग द्वारा प्राप्त सुख तृष्णा के रोग का क्षणिक उपाय इतना असार है कि उस सुख के भोगते-भोगते तृष्णा का रोग अधिक-अधिक बढ़ता जाता है। भ्रम से, भूल से, अज्ञान से जैसे रस्सी में सर्प की बुद्धि हो, पानी में चन्द्र की परछाईं को देखकर कोई बालक चन्द्रमा मान ले, सिंह कुए में अपने प्रतिबिम्ब को देख सच्चा सिंह जान ले, पक्षी दर्पण में अपने को ही देख दूसरा पक्षी मान ले, पित्त ज्वरवाला मीठे को कटुक जान ले, मदिरा से उन्मत्त पर की स्त्री को स्वस्त्री मान ले, इसी तरह मोहांध प्राणी ने विषय-सुख को सच्चा सुख मान लिया है।

सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभाव मय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कडवा है, इमली का स्वभाव खट्टा है, जल का स्वभाव ठण्डा है, अग्नि का स्वभाव गर्म है, चादी का स्वभाव श्वेत है, सुवर्ण का स्वभाव पीला है, स्फटिक मणि का स्वभाव निर्मल है, कोयले का स्वभाव काला है, खडी का स्वभाव श्वेत है, सूर्य का स्वभाव तेजस्वी है, चन्द्र का स्वभाव शीत उद्योत है, दर्पण का स्वभाव स्वच्छ है, अमृत का स्वभाव मिष्ठ है, वैसे अपने आत्मा का स्वभाव सुख है।

जैसे लवण मे सर्वाङ्ग खारपना, मिश्री मे सर्वाङ्ग मिष्ठपना है, जल मे सर्वाङ्ग द्रवपना है, अग्नि मे सर्वाङ्ग उष्णपना है, चन्द्रमा मे सर्वाङ्ग शीतलता है, सूर्य मे ताप है, स्फटिक मे सर्वाङ्ग निर्मलता है, गोरस मे सर्वाङ्ग चिक्कनता है, बालू मे सर्वाङ्ग कठोरता है, लोहे मे सर्वांग भारीपन है, रूई मे सर्वांग हल्कापन है, इत्र मे सर्वांग सुगध है, गुलाब के फूल मे सर्वांग सुवास है, आकाश मे सर्वांग निर्मलता है, वैसे आत्मा मे सर्वांग सुख है। सुख आत्मा का अविनाशी गुण है। आत्मा गुणो मे सर्वांग तादात्म्यरूप है।

जैसे लवण की कणिका जिह्वा द्वारा उपयोग मे लवणपने का स्वादबोध कराती है, मिश्री की कणिका उपयोग मे मिष्ठपने का स्वाद जनाती है, वैसे ही आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहजसुख का ज्ञान कराता है। परमात्मा सहजसुख की पूर्ण प्रगटता से ही परमानन्दमय अनन्त सुखी है, अनन्ते सिद्ध इसी सहजसुख के स्वाद मे ऐसे मगन हैं, जैसे भ्रमर कमल पुष्प की गन्ध मे आसक्त हो जाता है। सर्व ही अरहत केवली इसी सहजसुख का स्वाद लेते हुए पांच इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी उनकी ओर नही झुकते हैं, इस आनन्दमयी अमृत के रसपान को एक क्षण को नही त्यागते हैं। सर्व ही साधु इस ही रस के रसिक हो सहजसुख के स्वाद के लिये मन को स्थिर करने के हेतु परिग्रह का त्याग कर प्राकृतिक एकान्त वन, उपवन, पर्वत, कदरा, नदीतट का सेवन करते हैं, जगत के प्रपच मे, आरम्भपरिग्रह से मुह मोड, पाच इन्द्रियो की चाह की दाह को शमन कर, परम रुचि से आत्मिक स्वभाव मे प्रवेश करके सहजसुख का पान करते हैं, तथा इसी सुख मे मगन होकर वीतरागता की तीव्र ज्वाला से कर्मईधन को भस्म करते हैं, अपने आत्मा को स्वच्छ करने का सदा साधन करते हैं।

सर्व ही देशव्रती श्रावक पाच अणुव्रतो की सहायता से सतोषी रहते हुए इसी सहजसुखामृत के पान के लिये प्रात मध्याह्न तथा सायकाल यथासम्भव सर्व से नाता तोड, जगत प्रपच से मुह मोड, एकान्त मे बैठ मोह की डोर को तोड, बडे भाव से आत्मा के उपवन मे प्रवेश करते हुए सहजसुख का भोग करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ मानते हैं। सर्व ही सम्यग्दृष्टि अविरति भाव के धारी होते हुए भी सर्व जगप्रपच से उदासीन रहते है, गृहस्थ मे रहते हुए भी इन्द्रियसुख को नीरस, असुख व रागवर्द्धक जानते हुए, भेद-विज्ञान से अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मामय यथार्थ पहचानते हुए, आत्मा मे पर

के स्वभाव को लेशमात्र भी सयोग न करते हुए, अपने को शुद्ध सिद्धसम अनुभव करते हुए, इसी सहजसुख का स्वाद लेते हुए अपने को कृतार्थ मानते है ।

सहजसुख अपने आत्मा का अमिट अटूट अक्षय अनन्त भण्डार है । अनन्तकाल तक भी इसका भोग किया जावे तो भी परमाणु मात्र भी कम नही होता, जैसा का तैसा ही बना रहता है । कोई भी बलवती शक्ति ऐसी नही है जो इस सुख को हरण कर सके, आत्मा गुणी से इस गुण को पृथक् कर सके, आत्मा को सहजसुख से रहित कर सके । हर एक आत्मा सहजसुख समुद्र है ।"[1]

इस प्रकार चौथे अध्याय मे अतीन्द्रिय सहजसुख का विस्तार से निरूपण कर पांचवें अध्याय मे भगवान आत्मा के एकत्व पर प्रकाश डाला गया है और छठवे अध्याय मे सहजसुख के साधन रूप मे आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान एव आचरण को स्थापित किया गया है; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र को सहजसुख का साधन बताया गया है ।

यही कारण है कि आगे सातवें, आठवें एव नौवें अध्यायो मे क्रमश सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र का विस्तार से निरूपण किया गया है । आचार्यो एव विद्वानो के तत्सम्बन्धी आवश्यक छन्द तो प्रत्येक अध्याय मे दिये ही गये हैं ।

इसप्रकार इस सहजसुख-साधन नामक ग्रन्थ मे वह सब-कुछ सग्रहीत हो गया है, जो एक आत्मार्थी के लिये आवश्यक है । वैराग्यरस सरोवर इस कृति मे सर्वत्र ही आत्महित की प्रेरणा दी गई है । अत: यह ग्रन्थ सहज ही सर्वोपयोगी बन गया है । सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयो का यह पावन कर्त्तव्य है कि इसका स्वय तो गहराई से स्वाध्याय करें ही, अन्य भाई-बहिनो को भी इसके स्वाध्याय की प्रेरणा दें ।

अध्यात्मप्रेमी बन्धुवर श्री पूनमचन्दजी लुहाडिया ने इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर एक बहुत ही अच्छा कार्य किया है । आशा है भविष्य मे भी पण्डित सदासुख ग्रन्थमाला से इसीप्रकार के आध्यात्मिक ग्रन्थो का प्रकाशन कर मुमुक्षु भाइयो तक पहुँचाते रहेगे ।

सभी आत्मार्थी मुमुक्षु भाई एव बहिन इस ग्रन्थ का गहराई से अध्ययन कर अपने आत्मा मे ही विद्यमान सहजसुख को प्राप्त कर अनन्त सुखी हो– इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ ।

श्री महावीर जयन्ती
१८ अप्रेल, १९८९ ई०

–(डॉ०) हुकमचन्द भारिल्ल
जयपुर

---

१. प्रस्तुत ग्रन्थ . पृष्ठ १००

भूमिका

मानव पर्याय एक दिन बदल जरूर जाती है, परन्तु पर्यायधारी द्रव्य नित्य बना रहता है। यह मानव पर्याय जीव और पुद्गल द्रव्यसे रचित है। दोनोकी अनादि सगति ससारमे होरही है। दोनोमे वैभाविक परिणमन शक्ति है। इस कारण कार्माण शरीरमे बद्ध कर्मोंके विपाकसे आत्माकी राग द्वेष मोह परिणति होती है। इस अशुद्ध भावका निमित्त पाकर पुन कार्माण शरीरमें कर्म पुद्गलोका कर्मरूप बन्ध होता है। बीज वृक्षवत् एक दूसरेके विभाव परिणमनमे निमित्त होरहे है। मिथ्यात्व और अनतानुबधी कषायके उदयसे यह जीव पुद्गलके मोहमे उन्मत्त होकर अपने असल जीव द्रव्यको भूला हुआ है। जिस-जिस पर्यायको यह जीव धारता है उसीमे तन्मय होजाता है और तद्रूप ही अपनेको मान लेता है। रातदिन इन्द्रिय सुखकी तृष्णामे आकुल होकर उसके शमनका उपाय करता है। परन्तु सत्य उपायको न पाकर तृष्णाका रोग अधिक-अधिक बढता चला जाता है।

पुद्गलकी सगतिसे जीवको भी उसी तरह अनेक दु ख व त्रास भोगने पडते हैं जैसे लोहेकी सगति से अग्नि पीटी जाती है। इस कर्म पुद्गलकी सगतिसे जीव उसी तरह पराधीन है जैसे पिजरेमे बद पक्षी पराधीन है। सच्चा सहजसुख आत्माका गुण है। इसकी श्रद्धा बिना यह मूढ प्राणी विषय सुखका लोलुपी होकर भव भ्रमणमे सकट उठाता हुआ पराधीनताकी बेडीमे जकडा हुआ महान विपत्तिमें गृसित है। यदि उस प्राणीको अपने सहजसुखकी श्रद्धा हो जावे और यह ज्ञान होजावे कि वह सहजसुख मेरे ही पास है तथा मुझे मेरे ही द्वारा मिल सकता है तब इसको स्वाधीन होनेका मार्ग मिल जावे। रागद्वेष मोह जब पराधीनताको आमन्त्रण करते है तब वैराग्यपूर्ण आत्मज्ञान पराधीनता काटकर आत्माको स्वाधीन करता है।

जिस चिकनईसे बध होता है उस चिकनईके सूखनेसे ही बध कटता है। प्राचीन कालमे श्री रिषभ, अजित, सभव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभु, सुपार्श्व, चद्रप्रभु, पुष्पदत, सीतल, श्रेयास, वासपूज्य, विमल, अनत, धर्म, शाति, कु थु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि, पार्श्व, महावीर चौबीस तीर्थंकर होगए हैं। इनके मध्यमे अनगिनती महात्मा होगए हैं। श्री महावीर पीछे श्री गौतम, सुधर्म, जबू तीन केवलज्ञानी हो गए है। इन सबोने आत्माको पहचाना और जाना था कि आत्मा स्वभावसे शुद्ध ज्ञानदर्शन सुखवीर्यमय परमात्मा रूप ही है।

यह आत्मा भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादिसे भिन्न है। इसी ज्ञानको सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान करके उन महात्माओने इसी आत्माके शुद्ध स्वभावका ध्यानरूप सम्यक्चारित्र पाला। इसी रत्नत्रयमयी आत्म-समाधिके द्वारा अपनेको बन्धरहित मुक्त करके परमात्मपदमे स्थापित किया। उन्ही तीर्थंकरादि महान् पुरुषोके दिखाये हुये मार्गपर उनके पश्चात् अनेक महात्मा चले और अनेकोने उसी मार उपदेशको ग्रथो के भीतर स्थापित किया।

अध्यात्ममय निश्चय धर्मके ग्रथ निर्माताओमे श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम अति प्रसिद्ध है। उनके निर्मापित पचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्टपाहुड आदिमे श्री समयसार एक अपूर्व ग्रथ है, जो आत्माको आत्मारूप परसे भिन्न दिखानेको दर्पणके समान है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यके तीनो प्राभृतोके टीकाकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य वडे ही आत्मज्ञानी व न्यायपूर्ण सुन्दर लेखक हो गए हैं। श्री समयसारके अर्थको खोलनेवाले जयपुर निवासी पडित जयचन्दजी होगए हैं। उनकी आत्मख्याति नाम टीका आत्मतत्त्व झलकानेको अपूर्व उपकार करती है। कारजा (वरार) निवासी श्रीसेनगणके विद्वान् भट्टारक श्री वीरसेन स्वामी समयसारके व्याख्यान करनेको एक अद्वितीय महात्मा है। उनके पास एक वर्षाकाल विताकर मैंने समयसार आत्मख्यातिका वाचन किया था। श्री वीरसेनस्वामीके अर्थ प्रकाश से मुझ अल्प बुद्धिको विशेष लाभ पहुचा था। उसीके आश्रयसे और भी जैन साहित्यके मनन करनेसे तथा श्रीमद् राजचन्द्रजीके मुख्य शिष्य श्री० लघुराजजी महाराजकी पुनः प्रेरणासे इस ग्रन्थके लेखनमे इस बात का उद्यम किया गया है कि श्री तीर्थंकर प्रणीत जिन धर्मका बोध दर्शाया जावे व अनेक आचार्यों के वाक्योका सग्रह कर दिया जावे जिससे पाठकगण स्वाधीनताकी कुजीको पाकर अपने ही अज्ञानके कपाटोको खोलकर अपनेही भीतर परमात्मदेवका दर्शन कर सके।

जो भव्य जीव इस ग्रथको आदिसे अततक पढकर फिर उन ग्रथोका पठन करेंगे जिनके वाक्योका इसमे सग्रह है तो पाठकोको विशेष आत्मलाभ होगा। इसमे यथासम्भव जिनवाणीका रहस्य समझकर ही लिखा गया है। तोभी कही अज्ञान व प्रमादसे कोई भूल हो तो विद्वज्जन मुझे अल्पश्रुत जानकर क्षमा करें व भूल ठीक करलें। मेरी भावना है कि यह ग्रथ सर्वजन पढकर आत्मज्ञानको पाकर सुखी हों।

अमरावती
आश्विन सुदी ८ वीर स० २४६०
ता० १६-१०-१९३४

जैन धर्मप्रेमी—
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद

प्रस्तुत ग्रंथ का मूल्य कम करने में सहायक दातारों की नामावली

श्रीमान् शीतलचद जी जैन बडजात्या, थाना ओली लश्कर, ग्वालियर	5000
श्रीमती शशि प्रभा धर्मपत्नी श्री प्रकाशचन्द जी लुहाडिया इन्दौर	2100
श्रीमती कुसुम जैन धर्मपत्नी श्री जितेन्द्र कुमार जी, सेठी इन्दौर (आनन्द कूलर्स वाले)	2011
श्रीमती शान्तिदेवी जैन धर्मपत्नी श्री मानकचन्द जी, बाकलीवाल इन्दौर	2000
श्रीमान् पूनमचन्दजी सेठी, ग्रेटर कैलाश देहली	1100
श्रीमती मैनादेवी धर्मपत्नी श्री पूनमचन्द जी सेठी, देहली	1100
श्रीमान् इन्द्रसेनजी जैन, स्वास्थ्य विहार, देहली	1100
श्रीमान् सुभाषचन्दजी जैन (राजा टायज) देहली	1100
श्रीमती शोभा देवी जैन धर्मपत्नी श्री सुभाषचन्दजी जैन, देहली	1100
श्रीमती शातिदेवी धर्मपत्नी श्री रूपचन्दजी कटारिया, देहली	1100
श्रीमान् रूपचन्दजी कटारिया (कटारिया ट्रांस्पोर्ट वाले), देहली	1000
श्रीमान् माणकचन्दजी लुहाडिया, देहली	1100
श्रीमती कमलप्रभा धर्मपत्नी मानकचन्दजी लुहाडिया, देहली	1100
श्रीमती चन्द्रप्रभा देवी धर्मपत्नी श्रीपूनमचन्दजी लुहाडिया, अजमेर	1100
श्रीमती आशादेवी धर्मपत्नी श्री नरेशचन्दजी लुहाडिया, देहली	1100
श्रीमती मोनीदेवी धर्मपत्नी श्री विनयचन्द्रजी लुहाडिया, बम्बई	1100
श्रीमती शांतिदेवी धर्मपत्नी हीराचन्दजी बोहरा, कलकत्ता	501
श्रीमती लक्ष्मीदेवी धर्मपत्नी श्री निहालचन्दजी पाण्डया, अजमेर	501
श्रीमती कचनदेवी धर्मपत्नी श्री माणकचन्दजी पाण्डया, अजमेर	501
श्रीमान् अजितकुमारी पाटनी, अजमेर	501
,, लेखचन्दजी धर्मचन्दजी, अजमेर	501
,, चिरजीलालजी खुशालचन्दजी गगवाल, अजमेर	501
,, श्रीपालजी सुभाषचन्दजी शाह, अजमेर	501
श्रीमती झकारीबाई खेमराज बाफना चेरीटेबल ट्रस्ट खैरागढ वाले	301
श्रीमान् गुमानमलजी महावीरचन्दजी काला, अजमेर	251
,, कैलाशचन्दजी नरेन्द्रकुमार जैन केसरगज अजमेर	251
,, शिखरचन्दजी त्रिलोकचन्दजी सोनी, अजमेर	251
,, गुप्तदान मार्फत श्री माणकचन्दजी पाण्डया, अजमेर	201
श्रीमती शांतिदेवी धर्मपत्नी श्री सम्पतलाल पाटनी, जयपुर	201
श्रीमान् ताराचन्दजी जैन अलवर वाले	201
,, सोभागमलजी भागचन्दजी बज, अजमेर	201
,, माणकचन्दजी गदिया एडवोकेट, अजमेर	201

श्रीमती शांतिदेवी धर्मपत्नी श्री रूपचन्दजी सोगानी, अजमेर	201
श्रीमान् सुशीलचन्दजी चूड़ीवाल, अजमेर	201
,, महावीरचन्दजी बड़जात्या, अजमेर	201
,, गुप्तदान	201
,, कुन्दकुन्द मूलचन्द फेमिली चेरीटेबल ट्रस्ट, अजमेर	151
,, कैलाशचन्दजी पाटनी, अजमेर	101
,, गुप्तदान	101
,, जम्बुकुमारजी पाण्ड्या, अजमेर	101
,, सुरेशकुमारजी विनोदकुमारजी, अजमेर	101
,, पंडित ज्ञानचन्दजी जैन, विदिशा	101
श्रीमती चम्पादेवी पाटोदी, अजमेर	101
,, नारंगीदेवी गंगवाल, अजमेर	101
,, शांतिदेवी धर्मपत्नी श्री शांतिलालजी पाटनी, अजमेर	101
,, इन्दुबाला जैन, अजमेर	101
,, मैनादेवी वोहरा, अजमेर	101
श्रीमान् धनराजजी पाटोदी, अजमेर	101
,, बिरदीचन्दजी वैद, अजमेर	101
,, गुप्तदान मार्फत निर्मलचन्दजी गंगवाल, अजमेर	101
,, नोरतमलजी बड़जात्या, अजमेर	101
,, पदमचन्दजी गंगवाल, अजमेर	101
,, इन्दरचन्दजी पाटनी, अजमेर	71
,, महावीरचन्दजी झाझरी, अजमेर	55
,, पदमचन्दजी काला, नसीराबाद	51
कुल योग	32424

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठवाँ अध्याय

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नौवाँ अध्याय



सहजसुख-साधन

दोहा

सहजानद स्वभाव को, सुमरण कर बहु बार ।
भाव-द्रव्य से नमन कर, लहूँ सुबुद्धि उदार ।।१।।

श्री जिनेन्द्र ऋषभेश से, वीर धीर पर्यन्त ।
वर्तमान चौबीस जिन, नमहुँ परम गुणवन्त ।।२।।

सिद्ध शुद्ध आतम विमल, परमानद विकास ।
नमहुँ भाव निज शुद्ध कर, होय आतम हुल्लास ।।३।।

श्री गुरु आचारज गुणी, साधु मघ प्रतिपाल ।
निजाराम के रमण से, पायो ज्ञान विशाल ।।४।।

उपाध्याय श्रुत के धनी, ज्ञानदान कर्तार ।
अध्यातम सत ज्ञान से, किये भव्य उद्धार ।।५।।

साधु साधते आपको, निज अनुभव पथ लीन ।
कर्म कलक मिटाय के, रहे सदा स्वाधीन ।।६।।

तीनो पद धर गुरुनि को, -बार-बार सिर नाय ।
जिनवाणी पावन नमूँ, आतमतत्त्व दरशाय ।।७।।

आत्मधर्म जग सार है, यही कर्म क्षयकार ।
यही सहज सुखकार है, यही भर्म हरतार ।।८।।

यही धर्म उत्तम महा, यही शरण धरतार ।
नमन करूँ इस धर्म को, सुख-शाति दातार ।।९।।

सहजानन्द मुधा महा, जे चाखन उत्साह ।
तिन हित साधन सार यह, लिखूँ तत्त्व अवगाह ।।१०।।

अध्याय प्रथम

संसार स्वरूप

'संसरणं संसारः परिवर्तनम्' ससार उसको कहते है, जहाँ जीव ससरण या भ्रमण करता रहता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारता है, उसको छोडकर फिर अन्य अवस्था को धारता है। ससार मे थिरता नही, ध्रुवता नही, निराकुलता नही, ससार दुखो का समुद्र है।

शरीर सम्बन्धी दु ख है जन्मना, मरना, वृद्ध होना, रोगी होना, अशक्त होना, भूख-प्यास से पीडित होना, गर्मी-सर्दी से कष्ट पाना, डॉस-मच्छरादि से पीडित होना, बलवानो द्वारा शस्त्रघात सहना आदि। मन सम्बन्धी दु ख है इष्ट-वियोग व अनिष्ट-सयोग तथा रोग-पीडा से शोकित व खेदित होना, पर की सपत्ति अधिक देखकर ईर्षाभाव से सतापित रहना, बहुत धनादि परिग्रह की प्राप्ति की तृष्णा से आकुलित रहना, अपनी हानि करने वाले पर द्वेष व क्रोध भाव से कष्ट पाना, अपमानकर्त्ता को हानि करने के भाव से पीडित रहना, सताप व कष्ट दातारो से भयभीत रहना, इच्छानुकूल वस्तु न पाकर क्षोभित रहना, आदि।

शारीरिक तथा मानसिक दु खो से भरा हुआ यह ससाररूपी खारा समुद्र है, जैसे खारे समुद्र से प्यास बुझती नही, वैसे ससार के नाशवन्त पदार्थो के भोग से तृष्णा की दाह शमन होती नही। बडे-बडे सम्राट भी ससार के प्रपचजाल से कष्ट पाते हुए अन्त मे निराश हो मर जाया करते है।

इस ससार के चार गतिरूपी विभाग है। नरकगति, तिर्यञ्चगति, देवगति, मनुष्यगति। इनमे से तिर्यञ्चगति व मनुष्यगति के दु ख तो प्रत्यक्ष प्रगट हैं। नरकगति व देवगति के दु.ख यद्यपि प्रगट नही है, तथापि आगम के द्वारा श्रीगुरु वचन प्रतीति से जानने योग्य है।

नरकगति के दुःख

नरकगति मे नारकी जीव दीर्घकाल तक वास करते हुए कभी भी सुख शाति नही पाते। निरतर परस्पर एक-दूसरे से क्रोध करते हुए वचन-प्रहार, शस्त्र-प्रहार, काय-प्रहार आदि से कष्ट देते व सहते रहते है। उनकी भूख-प्यास की दाह मिटती नही, यद्यपि वे मिट्टी खाते है, वेतरणी नदी का खारा जल पीते है, परन्तु इससे न क्षुधा शात होती है, न प्यास बुझती है। शरीर वैक्रियिक होता है, जो छिदने-भिदने पर भी पारे के समान मिल जाता है। वे सदा मरण चाहते हैं, परन्तु वे पूरी आयु भोगे बिना नरकपर्याय छोड नही सकते। जैसे यहाँ किसी जेलखाने मे दुष्ट बुद्धिधारी चालीस-पचास कैदी एक ही बड़े कमरे मे धर दिये जावे, तो वे एक-दूसरे को सतायेंगे, परस्पर कुवचन बोलेगे, लड़ेगे, मारेगे, पीटेगे और सब ही दु खी होगे व घोर कष्ट पाने पर रुदन करेगे, चिल्लावेगे तो भी कोई कैदी उनपर दया नही करेगा। उलटे वाक्प्रहार के बाणो से उनके मन को छेदित किया जायगा। यही दशा नरक धरा मे नारकी जीवो की है।

वे पचेन्द्रिय सैनी नपु सक होते है। पाचो इन्द्रियो के भोगो की तृष्णा रखते है, परन्तु उनके शमन का कोई साधन न पाकर निरन्तर क्षोभित व सतापित रहते है। नारकियो के परिणाम बहुत खोटे रहते है। उनके अशुभतर कृष्ण, नील व कापोत तीन लेश्याये होती है, ये लेश्याये बुरे भावो के दृष्टान्त है। सबसे बुरे कृष्ण लेश्या के, मध्यम बुरे नील लेश्या के, जघन्य खोटे कापोत लेश्या के भाव होते है। नारकियो मे पुद्गलो का स्पर्श, रस, गध, वर्ण सर्व बहुत अशुभ वेदनाकारी रहता है। भूमि कर्कश दुर्गन्धमयी होती है। हवा छेदक व असह्य चलती है। शरीर उनका बहुत ही कुरूप भयावना होता है, जिसके देखने से ग्लानि आ जावे। अधिक शीत व अधिक उष्णता की घोर वेदना सहनी पडती है। इसतरह नरकगति मे प्राणी बहुकाल तक तीव्र-पाप के फल से घोर वेदना सहते है। जो रौद्रध्यानी है, वे अधिकतर नरकगति मे जाते है।

दुष्ट परघातक, स्वार्थसाधक, हिसक परिणामो की प्रणाली को रौद्रध्यान कहते है, यह चार प्रकार का है –

१. हिंसानन्दी :– दूसरे प्राणियो को कष्ट देकर, कष्ट दिलाकर व कष्ट देते हुए जानकर, जिसके मन में बडी प्रसन्नता रहती है, वह हिंसानन्दी रौद्रध्यानी है। वह मानवो को रोगी, शोकी, दु खित, भूखे-प्यासे देखकर भी दया नही लाता है, किन्तु उनसे यदि कुछ अपना मतलब निकलता हुआ जानता है, तो उनकी हिंसा करके उनसे धनादि ग्रहण कर लेता है। किसी देश के मानव कारीगरी के द्वारा मेहनत-मजूरी करके अपना पेट भरते है, हिंसानन्दी ऐसा उद्योग करता है कि वैसी कारीगरी की वस्तु स्वय बनाकर व बनवाकर उस देश में सस्ते दाम मे विक्रय करता है और उस देश की कारीगरी का सत्यानाश करके व आप धनी होकर अपने को बडा चतुर मानता है व बडा ही प्रसन्न होता है।

हिंसानन्दी वैद्य दिन-रात यही चाहता है कि प्रजा मे रोगो की वृद्धि हो, जिससे मेरा व्यापार चले। वह रोगी को जो शीघ्र अच्छा हो सकता है, देर तक बीमार रख के अपना स्वार्थ साधता है। हिंसानन्दी अनाज का व्यापारी यह चाहता है कि अन्न पैदा न हो, दुर्भिक्ष पडे, लोगो को अन्न का कष्ट हो, जिससे मेरा अन्न अच्छे दामों मे बिके और मैं धनवान हो जाऊँ। हिंसानन्दी वकील यह चाहता है कि भाई-भाई मे, माता-पुत्र मे, परस्पर झगडा हो, मुकदमा चले, मैं खूब धन कमाऊँ व जगत के प्राणी परस्पर मार-पीट करे, फौजदारी चले, मुझे खूब धन मिले। हिंसानन्दी वेश्या यह चाहती है कि धनिक पुत्र अपनी स्त्री से स्नेह न करके मुझसे स्नेह करे और मुझे अपना सब धन दे डाले तथा धर्म-कर्म से शून्य हो जावे। हिंसानन्दी चोर मानवो को गोली से, खड्ग से मारकर धन लूट लेते है।

हिंसानन्दी देवी-देवताओ के नाम पर पशुओ की निर्दयता से बलि करता हुआ, शिकार मे पशुओ का घात करता हुआ व मासाहार के लिए पशुओ का बध करता हुआ बडा ही प्रसन्न होता है। हिंसानन्दी व्यापारी पशुओ के ऊपर भारी बोझा लादकर उनको मार-मारकर चलाता है। भूखे-प्यासे होने पर भी अन्नादि नही देता है। दु खी करके अपना काम लेता है। हिंसानन्दी ग्राम मे, वन मे आग लगाकर प्रसन्न होता है। थोडी-सी बात मे क्रोधित हो मानवो को मार डालता है। जगत मे हिसा होती हुई सुनकर प्रसन्न होना, हिंसानन्दी का भाव रहता है। हिंसानन्दी व्यर्थ बहुत पानी फेंककर,

भूमि खोदकर, अग्नि जलाकर, वायु को आकुलित कर, वृक्षो को काटकर प्रसन्न होता है । हिंसानन्दी के बड़े क्रूर परिणाम रहते है । यदि कोई अपना दोष स्वीकार करके आधीनता मे आता है तो भी उस पर क्षमा नही करता है और उसे जडमूल से नाश करके ही प्रसन्नता मानता है ।

२. **मृषानंदी :–** जो असत्य बोल करके, असत्य बुलवा करके, असत्य बोला हुआ जान करके व सुन करके प्रसन्न होता है, वह मृषानदी रौद्रध्यानी है । मृषानदी धन कमाने के लिये भारी असत्य बोलता है, उसको दया नही आती है कि यदि इसे मेरी मायाचारी विदित होगी तो कष्ट पायेगा । मृषानदी टिकट मास्टर मूर्ख गरीब ग्रामीण स्त्री को असत्य कहकर अधिक दाम लेकर कम दाम का टिकट दे देता है । मृषानदी झूठा मुकदमा चलाकर, झूठा कागज बनाकर, झूठी गवाही देकर दूसरो को ठगकर बडा प्रसन्न होता है । मृषानदी हिसाब-किताब मे भोले ग्राहक से अधिक दाम लेकर असत्य कहकर विश्वास दिलाकर ठग लेता है । मृषानदी गरीब विधवा के गहनो का डिब्बा रखकर पीछे मुकर जाता है और उसे धोखा देकर अपने को बडा ही चतुर मानता है । मृषानदी मिथ्याधर्म की कल्पनाओ को इसलिए जगत मे फैलाता है कि भोले लोग विश्वास करके खूब धन चढायेगे, जो मुझे मिल जायगा । उसे धर्म के बहाने ठगते हुए कुछ भी दया नही आती है ।

३ **चौर्यानदी :–** चोरी करके, चोरी कराके व चोरी हुई जानकर जो प्रसन्न होता है, वह चौर्यानदी रौद्रध्यानी है । चौर्यानदी अनेक प्रकार के जालो से चाहे जिसका धन बिना विचारे ठग लेता है, छिपके चुरा लेता है, डाका डाल कर ले लेता है, प्राणवध करके ले लेता है, छोटे-छोटे बच्चो को फुसलाकर जगल मे ले जाता है, उनका गहना उतारकर उन्हे मारकर फेक देता है । चौर्यानदी चोरो से मित्रता करके चोरी का माल सस्ते दाम मे खरीदकर धनिक होकर अपना बडा गौरव मानता है, झूठा सिक्का चलाकर, झूठे नोट बनाकर प्रजा को ठगता है । घी मे चरबी, तेल व चाहे जो कुछ मिलाकर ठीक घी कहकर बेचता है और धन कमाता है । वह कम तोलकर व कम नापकर धोखा देकर धन एकत्र करने मे बडा ही राजी रहता है । चौर्यानदी चोरी करने की शिक्षा देकर अनेको को चोरी के व्यवसाय मे फँसा देता है ।

४ परिग्रहानंदी :– जो तृष्णावान होकर अन्याय से दूसरो को कष्ट देकर भी धनादि परिग्रह को एकत्र करने की तीव्र लालसा रखता है, वह परिग्रहानदी रौद्रध्यानी है। परिग्रहानदी स्त्रियो के उचित हको को मारकर व भाईयो के हको को मारकर लक्ष्मी अपनाना चाहता है। वह दूसरो को अपने से अधिक परिग्रह देखकर निरन्तर यह भावना करता है कि या तो मेरा धन बढ जावे या इन दूसरो का धन नष्ट हो जावे। परिग्रहानदी धर्म सेवन के लिए समय नही निकालता है। धर्म के समय मे धन के सचय के आरम्भ मे लगा रहता है। परिग्रह के लिए भारी से भारी पाप करने मे उसको ग्लानि नही आती है। अत्यन्त तृष्णावान होकर जगत के मानवो को व पशुओ को कष्टदायक व्यापार का आरम्भ करता है। वृद्धि होने पर भी धनाशा त्यागता नही। परिग्रह के मोह मे अन्धा बना रहता है। परिग्रहानदी को जब कभी धन की व कुटुम्ब की हानि हो जाती है, तब घोर विलाप करता है। प्राण निकलने के समान उसको कष्ट होता है।

इन चारो ही प्रकार के रौद्रध्यान करनेवाले प्राणियो के भाव अशुभ रहते है। उनके कृष्ण, नील, कापोत लेश्या सम्बन्धी भाव पाये जाते है, जिससे वे नरक आयु बाधकर नरक चले जाते है वहा भी ये ही तीन लेश्याएँ होती है। अन्याय-पूर्वक आरम्भ करने का व तीव्र धनादि का मोह प्राणी को नरक मे पटक देता है।

तिर्यचगति के दुःख

तिर्यश्चगति मे छह प्रकार के प्राणी पाये जाते है –

१. एकेन्द्रिय स्थावर :– जैसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक तथा वनस्पतिकायिक, ये सब सचित्तदशा मे हवा के द्वारा जीते है व बढते है, हवा न मिलने से मर जाते है। खान की व खेत की मिट्टी जीव-सहित है। सूखी व जली हुई मिट्टी जीवरहित है। कूप, बावडी, नदी का पानी सचित्त है। गर्म किया हुआ, रौंदा हुआ, टकराया हुआ पानी जीवरहित है। लाल ज्योतिमय स्फुलिगो के साथ जलती हुई अग्नि सचित्त है। गर्म कोयलो मे अचित्त आग है। समुद्र, नदी, सरोवर व उपवन की गीली हवा सचित्त है। गर्म व सूखी धुएँ वाली हवा अचित्त है। फल-फूल, पत्ता, शाखा, हरी-भरी सचित्त

वनस्पति है । सूखा व पका फल, गर्म व पकाया हुआ सागादि व यत्र से छिन्न-भिन्न किया हुआ साग फलादि व लवणादि से स्पर्श रस गधादि बदलाया हुआ साग फलादि जीवरहित अचित्त वनस्पति है ।

जीवसहित सचित्त एकेन्द्रिय जीवो को एक स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर ज्ञान होता है, इसे मतिज्ञान कहते है। स्पर्श के पीछे सुख व दु ख का ज्ञान होता है, इसे श्रुतज्ञान कहते है । ये दो ज्ञान के धारी होते है, इनके चार प्राण पाये जाते है – स्पर्शनेन्द्रिय, शरीर का बल, श्वासोच्छ्वास, आयुकर्म ।

२. द्वेन्द्रिय :– जैसे सीप, शख, कौडी, केचुआ, लट आदि । इनके दो इन्द्रियाँ होती है स्पर्शन और रसना, ये इनसे जानते है । इनके प्राण छह होते है, एकेन्द्रिय से दो प्राण अधिक होते है, रसना इन्द्रिय और वचन बल । एकेन्द्रिय की तरह इनके भी दो ज्ञान होते है ।

३ तेन्द्रिय :– जैसे कुन्थु, चीटी,कुम्भी, बिच्छू, घुन, खटमल, जू । इनके घ्राणेन्द्रिय अधिक होती है, ये छूकर, स्वाद लेकर या सू घकर जानते है । ज्ञान दो होते है – मति, श्रुत । प्राण एक अधिक होता है । घ्राण को लेकर सात प्राण होते है ।

४ चौन्द्रिय :– जैसे मक्खी, डास, मच्छर, भिड, भ्रमर, पतगा आदि । इनके आँख अधिक होती है, इसमे आठ प्राण व दो ज्ञान मति-श्रुत होते है ।

५ पंचेन्द्रिय (मनरहित असैनी) :– जैसे कोई जाति के पानी मे पैदा होने वाले सर्प । इनके कान भी होते है, इससे नौ प्राण व मति-श्रुत ज्ञान होते है ।

६ पंचेन्द्रिय (मनसहित सैनी) :– जैसे चार पगवाले मृग, गाय, भैस, कुत्ता, बिल्ली, बकरा, घोडा, हाथी, ऊँट आदि । दो पगवाले पक्षी जैसे मोर, कबूतर, तीतर, बटेर, काक, चील, हस, मैना, तोता आदि । उर से चलनेवाले नागादि व जल मे पैदा होनेवाले मछली, मगरमच्छ, कछुए आदि । इनके मन बल को लेकर दश प्राण होते है । साधारण दो ज्ञान मति-श्रुत होते है । मन एक सूक्ष्म हृदय स्थान में कमल के आकार अग होता है, जिसकी सहायता से सैनी प्राणी सकेत समझ सकता है, शिक्षा ग्रहण कर सकता है, कारण-कार्य का विचार कर सकता है, तर्क-वितर्क कर सकता है व अनेक उपाय सोच सकता है ।

छह प्रकार के तिर्श्चचो को क्या-क्या दु ख है, वे सब जगत को प्रगट हैं। एकेन्द्रिय जीवो के अकथनीय कष्ट है। मिट्टी को खोदते है, रौदते है, जलाते है कूटते है, उसपर अग्नि जलाते है। धूप की ताप से मिट्टी के प्राणी मर जाते है। मिट्टी के शरीरधारी का देह एक अ गुल के असख्यातव भाग बहुत ही छोटा होता है। एक चने के दाने के बराबर सचित्त मिट्टी मे अनगिनत पृथ्वीकायिक जीव है। जैसे हमे कोई कूटे, छीले, कुल्हाडी से छेदे तो स्पर्श का कष्ट होता है वैसे पृथ्वी के जीवो को हल चलाने आदि से घोर कष्ट होता है, वे पराधीनपने सहते है, कुछ बचने का उपाय नही कर सकते, भागने मे असमर्थ है।

सचित्त जल को गर्म करने, मसलने, रौदने आदि से महान कष्ट उसी तरह होता है, जैसे पृथ्वी के जीवो को। इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक पानी की बू द मे अनगिनत जलकायिक जीव होते है।

पवनकायिक जीव भीतादि की टक्करो से, गर्मी के झोको से, जल की तीव्र वृष्टि से, पखो से, हमारे दौडने-कूदने से टकराकर बड े कष्ट से मरते है। इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक हवा के छोटे झोके मे अनेक वायु-कायिक प्राणी होते है।

अग्नि जल रही है, उसे पानी से बुझाते है, मिट्टी डालकर बुझाते हैं व लोहे से निकलते हुए स्फुलिगो को घन की चोटो से पीटते है, तब उन अग्नि-कायिक प्राणियो को स्पर्श का बहुत दु ख होता है, इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है। एक उठती हुई अग्नि की लौ मे अनगिनत अग्निकायिक जीव है।

वनस्पति दो प्रकार की होती है – एक साधारण, दूसरी प्रत्येक।

जिस वनस्पति का शरीर एक हो व उसके स्वामी बहुत से जीव हो, जो साथ-साथ जन्मे व साथ-साथ मरे, उसको साधारण वनस्पति कहते है। जिसका स्वामी एक ही जीव हो. उसको प्रत्येक वनस्पति कहते है। प्रत्येक के आश्रय जब साधारणकाय रहते हैं, तब उस प्रत्येक को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं। जब साधारणकाय उनके आश्रय नही होते है, तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है। जिन पत्तो मे. फलादि मे, जो रेखाएँ बधन आदि निकलते हैं, वे जबतक न निकले तबतक उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है, और जब

वे निकल आते है, तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है। तुच्छ फल सप्रतिष्ठित प्रत्येक के दृष्टान्त है ।

साधारण वनस्पति को ही एकेन्द्रिय निगोद कहते है । बहुधा आलू, घुईयाँ, मूली, गाजर, भूमि मे फलने वाली तरकारियाँ साधारण या सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति होती है। अपनी मर्यादा को प्राप्त पकी ककडी, नारगी व पका आम, अनार, सेव, अमरूद आदि प्रत्येक वनस्पति है । इन वनस्पतिकायिक प्राणियो को बडा कष्ट होता है । कोई वृक्षो को काटता है, छीलता है, पत्तो को नोचता है, तोडता है, फलो को काटता है, साग छोकता है, पकाता है, घास को छीलता है । पशुओ के द्वारा और मानवो के द्वारा इन वनस्पति जीवो को बडी निर्दयता से कष्ट दिया जाता है । वे बेचारे पराधीन होकर स्पर्श द्वारा घोर वेदना सहते है व बडे कष्ट से मरते है ।

इस तरह एकेन्द्रिय प्राणियो के कष्टो को विचारते हुए रोएँ खडे हो जाते है । जैसे कोई किसी मानव की आख बन्द कर दे, जबान पर कपडा लगा दे, हाथ-पैर बाध दे और मुग्दरो से मारे, छीले, पकावे, कुल्हाडी से टुकडे करे, तो वह मानव महाकष्ट वेदन करेगा, पर कह नही सकता, चिल्ला नही सकता, भाग नही सकता, इसी तरह ये एकेन्द्रिय प्राणी अपने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान के अनुसार जानकर घोर दु ख सहन करते है । वे सब उनके ही बाधे हुए असाता-वेदनीय आदि पापकर्म के फल है ।

दोइन्द्रिय प्राणियो से चौइन्द्री प्राणियो को विकलत्रय कहते है । ये कीडे, मकोडे, पतगे, चीटी, चीटे आदि पशुओ व मानवो से व हवा, पानी, आग आदि से भी घोर कष्ट पाकर मरते है । बडे सबल जतु छोटो को पकड कर खा जाते है । बहुत से भूख-प्यास से, पानी की वर्षा से, आग जलने से, दीपक की लौ से, नहाने व धोने के पानी से, बुहारने से, फटकारने से, कपडो से, शस्त्रो से तडफ-तडफ कर मरते हैं । पैरो के नीचे, गाडियो के नीचे, भार के नीचे, चौकी, पलग, कुर्सी सरकाने से, बिछौना बिछाने से दबकर, टुकडे होकर, कुचलकर प्राण देते है । निर्दयी मानव जान-बूझकर इनको मारते है । मक्खियो के छत्तो मे आग लगा देते है, मच्छरो को हाथो से, मुरछलो से मारते है ।

रात्रि को भोजन बनाने व खाने से बहुत से भूखे प्यासे जन्तु अग्नि मे व भोजन मे पडकर प्राण गमाते है। सडी-बुसी चीजो मे ये पैदा हो जाते है, अनाज मे पैदा हो जाते है। इनको धूप मे, गली मे डाल दिया जाता है, गर्म कडाओ मे पटक दिया जाता है, आटे, मैदे एव शक्कर की बोरी मे बहुत से चलते-फिरते दीख पडते है तो भी हलवाई लोग दया न करके उनको खौलते हुए पानी मे डाल देते है। रेशम के कीडो को औटते पानी मे डालकर मार डालते है। इन विकलत्रयो के दु ख अपार है।

पचेन्द्रियो के दु खो को विचारा जावे तो विदित होगा कि जिन पशु-पक्षियो का कोई पालक नही है, उनको रात-दिन भोजन ढूढते हुए बीतता है, पेटभर खाने को नही मिलता है, वे बेचारे भूख-प्यास से, अधिक गर्मी-सर्दी से, अधिक वर्षा से तडफ-तडफ कर मरते हैं। शिकारी निर्दयता से गोली व तीर मारकर मार डालते है। मासाहारी पकड कर कसाईखानो मे तलवार से सिर अलग करते है। पशुबलि करने वाले धर्म के नाम पर पकड कर बडी ही कठोरता से मारते है। जिनको पाला जाता है, उनसे बहुत अधिक काम लिया जाता है ज्यादा बोझा लादा जाता है, जितना चाहिये उतना घास-दाना नही दिया जाता है। थके-माँदे होने पर भी कोडो की मार से चलाया जाता है, बेकाम व जखमी होने पर यो ही जगल मे व रास्ते मे कही पटक दिया जाता है। वे भूखे-प्यासे व रोग की वेदना से तडफ-तडफ कर मरते है। पिजरो मे बन्द किया जाता है, वे स्वतन्त्रता से उड नही सकते।

मछलियो को पकड कर जमीन पर छोड दिया जाता है, वे तडफ-तडफ कर मरती है, जाल मे फँस कर प्राण गमाती है। हाथियो को दात के लिये मार डाला जाता है। बैल, गाय, भैसो को हड्डी के लिये, चमडे के लिये मारा जाता है।

जीते हुये पशुओ को उबाल कर चर्बी निकाली जाती है। उनको कोडो से मारकर चमडा खीचा जाता है। सबल पशु-पक्षी निर्बलो को मारकर खाते है। हिंसक मानव पशुओ को घोर कष्ट देते है, अपना स्वार्थ साधते है, उनके अगो को छेद डालते है, उनकी पूंछ काट डालते है, उनको घोर मानसिक व

शारीरिक कष्ट देते है। इस तरह पचेन्द्रिय तिर्यचो को असहनीय दुख सहना पडता है।

तिर्यचगति मे व मनुष्यगति मे कितने प्राणी तीव्र पाप के उदय से लब्धऽपर्याप्त पैदा होते है। जो गर्मी-सर्दी, पसीना, मलादि मे सम्मूर्छन जन्म पाते है, वे एक श्वास मे अठारह बार जन्मते-मरते है। उनकी आयु १/१८ श्वास होती है। स्वास्थ्ययुक्त पुरुष की नाडी फडकन की एक श्वास होती है। ४८ मिनट या एक मुहूर्त मे ऐसे ३७७३ श्वास होते है। ऐसे जीव एक अतर्मुहूर्त मे ६६,३३६ नीचे प्रमाण क्षुद्र भव धरकर जन्म-मरण का कष्ट पाते है –

पृथ्वीकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
पृथ्वीकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
जलकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
जलकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
वायुकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
वायुकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
अग्निकायिक	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
अग्निकायिक	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
साधारण वनस्पति	बादर के	लगातार	६०१२	जन्म
साधारण वनस्पति	सूक्ष्म के	लगातार	६०१२	जन्म
प्रत्येक वनस्पति	के	लगातार	६०१२	जन्म
कुल एकेन्द्रियो	के	लगातार	६६,१३२	जन्म
द्वेन्द्रियो	के	लगातार	८०	जन्म
तेन्द्रियो	के	लगातार	६०	जन्म
चौइन्द्रियो	के	लगातार	४०	जन्म
पचेन्द्रियो	के	लगातार	२४	जन्म
			६६,३३६	जन्म

पचेन्द्रियो के २४ मे से ८ असैनी तिर्यंच, ८ सैनी तिर्यच, ८ मनुष्य के गर्भित है। तिर्यंचगति के महान दु खो मे पडने लायक पाप अधिकतर आर्तध्यान से बधता है।

आर्तध्यान :– दु खित व शौकित भावो की प्रणाली को आर्तध्यान कहते है। इसके चार भेद है –

(क) इष्टवियोगज आर्तध्यान :– प्रिया, पुत्र, माता-पिता, भाई-बहिन के मरने पर व किसी बन्धु व मित्र के परदेश जाने पर व धनादि की हानि होने पर शोक भाव करके भावो को दु खित रखना, सो इष्टवियोगज आर्तध्यान है।

(ख) अनिष्टसंयोगज आर्तध्यान :– अपने मन को न रुचनेवाले चाकर, भाई, पुत्र, न रुचनेवाली स्त्री आदि के होने पर व मन को न रुचनेवाले स्थान, वस्त्र, भोग व उपभोग के पदार्थ होने पर उनका सम्बन्ध कैसे छूटे ? इस बात की चिन्ता करना अनिष्टसयोगज आर्तध्यान है।

(ग) पीड़ाचिन्तवन आर्तध्यान :– शरीर मे रोग होने पर, उसकी पीडा से क्लेशित भाव रखना पीडाचिन्तवन आर्तध्यान है।

(घ) निदान आर्तध्यान :– आगामी भोग मिले, इस चिन्ता से आकुलित भाव रखना निदान आर्तध्यान है।

आर्तध्यानी रात-दिन इष्टवस्तु के न पाने पर व अनिष्ट के सयोग होने पर व पीडा होने से व आगामी भोग की तृष्णा से क्लेशित भाव रखता है। कभी रुदन किया करता है, कभी उदास हो पड जाता है, कभी रुचि से भोजन-पान नही करता है। शोक से धर्म-कर्म छोड बैठता है। कभी छाती पीटता है, कभी चिल्लाता है, कभी आघात तक कर लेता है। रोगी होने पर रात-दिन हाय-हाय करता है। भोगो की प्राप्ति के लिये भीतर से तडफडाता है। अनिष्ट सम्बन्ध दूर करने के लिये चिन्तित रहता है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थो के साधन मे मन नही लगता है।

मायाचार से भी तिर्यच आयु का बध होता है। जो कोई कपट से दूसरो को ठगते है, विश्वासघात करते है, कपट से अपनी प्रतिष्ठा कराते है, वे तिर्यच आयु का बध करते है।

एक मुनि ने एक नगर के बाहर चार मास का वर्षा योग धारण किया था। योग समाप्त होने पर वह दूसरे दिन वहाँ से विहार कर गये। दूसरे एक मुनि निकटवर्ती ग्राम से आकर वही ठहर गए। तब नगर के नर-नारी आकर मुनि वन्दना पूजा करते हुए ऐसा कहने लगे कि आपने हमारे नगर के बाहर वर्षाकाल मे योग साधन किया, हमारा स्थान पवित्र हुआ आदि-आदि। उस समय उन मुनि को कहना चाहिये था कि मैं वह मुनि नही हूँ, परन्तु वह अपनी पूजा देखकर चुप रहे। कपट से अपना परिचय नही दिया। इस माया के भाव से मुनि ने पशुगति बाँध ली और मरकर हाथी की पर्याय पाई।

एकेन्द्रिय से चौइन्द्रिय तक को कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्याएँ होती है। पचेन्द्रिय असैनी के पीत सहित चार, सैनी पचेन्द्रियो के पीत, पद्म, शुक्ल सहित छहो हो सकती हैं। अधिकतर खोटी लेश्यारूप भावो से तिर्यंचायु बाँध कर एकेन्द्री आदि में आकर जन्मते है। तिर्यंचगति के कष्ट प्रत्यक्ष प्रगट है, वे प्रत्यक्ष पाप के फल बता रहे हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नही है।

देवगति के दु:ख

देवगति में यद्यपि शारीरिक कष्ट नही है, परन्तु मानसिक कष्ट बहुत भारी है। देवो में छोटी-बडी पदवियाँ होती है, विभूति, सम्पदा कम व अधिक होती है, उनमे दस दरजे है –

(१) राजा के समान इन्द्र,
(२) पिता, भाई के समान सामानिक,
(३) मत्री के समान त्रायस्त्रिश,
(४) सभा निवासी सभासद के समान पारिषद,
(५) इन्द्र के पीछे खडे होने वाले आत्मरक्ष,
(६) कोतवाल के समान लोकपाल,
(७) सेना बनने वाले अनीक,
(८) प्रजा के समान प्रकीर्णक,
(९) दास के समान वाहन बनने वाले आभियोग्य,
(१०) कातिहीन क्षुद्रदेव किल्विषक।

इन दस जातियो मे भी अनेक भेद होते है, नीची पदवीवाले ऊँचो को देखकर मन मे बडा ईर्पाभाव रखते है, जला ही करते है।

भोग-सामग्री अनेक होती है। एक समय एक ही इन्द्रिय द्वारा भोग हो सकता है। इच्छा यह होती है कि पाँचो इन्द्रियो के भोग एक साथ भोगूँ, सो भोगने की शक्ति न होने पर आकुलता होती है। जैसे किसी के सामने पचास प्रकार की मिठाई परोसी जावे तो वह बार-बार घबडाता है कि किसे खाऊँ, किसे न खाऊँ, चाहता यह है कि मै सबको एक साथ भोगूँ। शक्ति न होने पर वह दु खी होता है। इसी तरह देव मन मे क्षोभित हो कष्ट पाते हैं। जब किसी देवी का मरण होता है, तब इष्टवियोग का दु ख होता है। जब अपना मरण काल आता है, तब वियोग का बडा दु ख होता है, सबसे अधिक कष्ट मानसिक तृष्णा का होता है। अधिक भोग करते हुए भी उनकी तृष्णा बढ जाती है। यद्यपि कुछ दान, पूजा, परोपकार आदि शुभ भावो से पुण्य बाँधकर देव होते है, परन्तु मिथ्यादर्शन के होने से वे मानसिक कष्ट मे ही जीवन बिताते है।

शरीर को ही आपा जानना, इन्द्रिय सुख को ही सुख समझना, आत्मा पर व अतीन्द्रिय सुख पर विश्वास न होना मिथ्यादर्शन है। सच है मिथ्यादृष्टि हर जगह दु खी रहता है, क्योकि उसे तृष्णा की दाह सदा सताती है।

मनुष्यगति के दुःख

इस गति के दु ख प्रकट ही है। जब गर्भ मे नौ मास रहना पडता है, तब उल्टा टँगकर दुर्गंध स्थान मे रहकर नरक सम महान दु ख होता है। गर्भ से निकलते हुए घोर कष्ट होता है। शिशु अवस्था मे असमर्थ होने के कारण खाने-पीने को न पाकर बार-बार रोना पडता है, गिरकर पडकर दु ख सहना पडता है, अज्ञान से जरा-सा भी दु ख बहुत वेदित होता है। किसी के छोटी वय मे माता-पिता मर जाते है, तब बडे दु ख से जीवन बिताना पडता है। कितने ही रोग से पीडित रहते है, कितने अल्प आयु मे मर जाते है, कितने ही दरिद्रता से दु खी रहते हैं, कितने ही इष्टमित्र व इष्टबन्धु के वियोग से, कितने अनिष्ट भाई व मालिक व सेवक के सयोग से दु खी रहते है।

मानव गति मे बडा दु ख तृष्णा का होता है। पॉचो इन्द्रियो के भोगो की घोर तृष्णा होती है। इच्छित पदार्थ नही मिलते है, तव दु ख होता है। यदि मनोज्ञ पदार्थ चेतन या अचेतन छूट जाते है, तब उनके वियोग से घोर कष्ट होता है। किसी की स्त्री दु खदाई होती है, किसी के पुत्र कुपुत्र होते है, किसी के भाई कष्टदायक होते है। चाह की दाह मे बडे-बडे चक्रवर्ती राजा भी जला करते है। मानव गति मे घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट है।

जिन किन्ही मानव, पशु व देवो को कुछ सुख देखने मे आता है, वह ऐसा विनाशीक व अतृप्तिकारी है कि उससे आशा-तृष्णा वढ जाती है। वह सुख अपने फल मे कष्टदायक ही होता है। जैसे मृग की पानी रहित जगल मे मृगतृष्णारूप चमकती घास या बालू से प्यास नही बुझती, मृग पानी समझ कर जाता है, परन्तु पानी न पाकर अधिक तृषातुर हो जाता है, वैसे ही ससारी प्राणी सुख पाने की आशा से पाँचो इन्द्रियो के भोगो मे बार-बार जाते है, भोग करते है, परन्तु विषयसुख की तृषा को मिटाने की अपेक्षा बढा लेते है, जिससे उनका सताप भव-भव मे कभी भी नही मिटता।

असल बात यह है कि यह ससार केले के खभे के समान असार व दु खो का समुद्र है। इसमे जो आसवत है, इसमे जो मगन है, ऐसे मूढ मिथ्यादृष्टि वहिरात्मा को चारो ही गति मे कही भी सुख नही मिलता है। वह कही शारीरिक व कही मानसिक दु खो को ही भोगता है। तृष्णा की आताप से अनतबार जन्म-मरण करता हुआ चारो गतियो मे भ्रमण करता हुआ फिरता है।

यह ससार अथाह है, अनादि व अनन्त है। इस ससारी जीव ने पॉच प्रकार के परिवर्तन अनतबार किये है। वे परिवर्तन है – द्रव्य परिवर्तन, क्षेत्र परिवर्तन, काल परिवर्तन, भव परिवर्तन, भाव परिवर्तन। इनका अति सक्षेप से स्वरूप यह है –

१ **द्रव्य परिवर्तन** :– पुद्गल द्रव्य के सर्व ही परमाणु व स्कन्धो को इस जीव ने क्रम-क्रम से ग्रहण करके व भोग करके छोडा है। एक ऐसे द्रव्य परिवर्तन मे अनतकाल बिताया है।

२ **क्षेत्र परिवर्तन** :– लोकाकाश का कोई प्रदेश शेष नही रहा, जहाँ यह क्रम-क्रम से उत्पन्न न हुआ हो। इस एक क्षेत्र परिवर्तन मे द्रव्य परिवर्तन से भी अधिक अनन्तकाल बीता है।

३ काल परिवर्तन :– उत्सर्पिणी : जहाँ आयु, काय, सुख बढते जाते है। **अवसर्पिणी :** जहाँ ये घटते जाते है। इन दोनो युगो के सूक्ष्म समयो मे कोई ऐसा समय शेष नही रहा, जिसमे इस जीव ने क्रम-क्रम से जन्म व मरण न किया हो। इस एक काल परिवर्तन में क्षेत्र परिवर्तन से भी अधिक अनन्तकाल बीता है।

४ भव परिवर्तन :– चारो ही गतियो मे नौ ग्रैवेयिक तक कोई भव शेप नही रहा, जो इस जीव ने धारण न किया हो। इस एक भव परिवर्तन में काल परिवर्तन से भी अधिक अनन्तकाल बीता है।

५ भाव परिवर्तन :– इस जीव ने आठ कर्मो के बँधने योग्य भावो को प्राप्त किया है। इस एक भाव परिवर्तन मे भव परिवर्तन से भी अधिक अनतकाल बीता है।

इस तरह ये पाँचो परिवर्तन इस ससारी जीव ने अनतबार किये है।

इस ससार के भ्रमण का मूल कारण मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शन के साथ अविरति, प्रमाद, कपाय तथा योग भी है। जो मिथ्यादृष्टि ससार के भोगो की तृष्णा स हिंसा, झूँठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह के अतिचाररूपी पाँच अविरति भावो मे फँसा रहता है, वही मिथ्यादृष्टि आत्महित मे प्रमादी रहता है। तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय करता है तथा मन-वचन-काय को अति क्षोभित रखता है।

इस असार ससार मे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही कष्ट पाता है, उसी के लिये ही ससार का भ्रमण है। जो आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि होता है, वह ससार से उदास व वैराग्यवान हो जाता है व अतीन्द्रिय आत्मिक सच्चे सुख को पहचान लेता है, वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी हो जाता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यदि कर्मों के उदय से कुछ काल किसी गति मे रहना भी पडता है तो वह ससार मे लिप्त न होने से, ससार मे प्राप्त शारीरिक-मानसिक कष्टो को कर्मोदय विचार कर समताभाव से भोग लेता है। वह हर एक अवस्था में आत्मिक सुख (जो सच्चा सुख है) को स्वतन्त्रता से भोगता रहता है, यह बात सच है।

मिथ्यादृष्टि सदा दुःखी – सम्यग्दृष्टि सदा सुखी।

जैनाचार्यो ने ससार का स्वरूप क्या बताया है, सो पाठको को उनके नीचे लिखे अनुभवपूर्ण वाक्यो से प्रगट होगा –

श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है –

पंचविहे ससारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

भावार्थ :– इस द्रव्य-क्षेत्रादि पाँच तरह के ससार भ्रमण मे जहाँ यह जीव जन्म, बुढापा, मरण, रोग, भय के महान कष्ट पाता है, श्री जिनेन्द्र के धर्म को न जानता हुआ दीर्घकाल तक भ्रमण किया करता है।

सव्वेपि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असय अणतखुत्तो पुग्गलपरियट्टससारे ॥२५॥

भावार्थ :– प्रथम पुद्गल द्रव्य परिवर्तन मे इस एक जीव ने सर्व ही पुद्गलो को बार-बार अनन्त वार ग्रहण कर और भोगकर छोडा है।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्यि जण्ण उप्पण्ण।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तससारे ॥२६॥

भावार्थ :– दूसरे क्षेत्र परिवर्तन मे यह जीव बार-बार सर्व ही लोकाकाश के प्रदेशो मे क्रम-क्रम से जन्मा है। कोई स्थान ऐसा नही है जहाँ बहुबार पैदा न हुआ हो और अनेक प्रकार के छोटे व बडे शरीर न धारे हो।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालससारे ॥२७॥

भावार्थ :– तीसरे काल परिवर्तन मे इस जीव ने उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी के सर्व समयो मे बहुत बार जन्म-मरण किया है। कोई समय बचा नही जिसमे यह अनतबार जन्मा या मरा न हो।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा दुगेवज्जा।
मिच्छत्तससिदेण दु बहुसो वि भवट्ठिदीभमिदा ॥२८॥

भावार्थ :– चौथे भव परिवर्तन मे नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊर्द्ध्व लोक की ग्रैवेयिक की उत्कृष्ट आयु तक सर्व ही जन्मो को इस जीव ने बहुबार मिथ्यादर्शन के कारण धारण करके भ्रमण किया है।

सव्वे पयडिट्ठिदिओ अणुभागप्पदेसबंघठाणाणि ।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे ॥२९॥

भावार्थ :– पाँचवे भाव परिवर्तन मे यह जीव मिथ्यादर्शन के कारण आठो कर्मो के सर्व ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश इन चार प्रकार के बन्ध स्थानो को धारता हुआ बार-बार भ्रमा है ।

पुत्ताकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए ।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे ॥३०॥

भावार्थ :– जो जीव पुत्र व स्त्री के लिए पाप की बुद्धि से धन कमाता है, दया, धर्म व दान छोड देता है, वह जीव ससार मे भ्रमण करता है ।

मम पुत्त मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकंखाए ।
चइऊण धम्मबुद्धि पच्छा परिपडदि दीहसंसारे ॥३१॥

भावार्थ :– मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरे धन-धान्यादि इत्यादि तीव्र तृष्णा के वश यह जीव धर्म की बुद्धि को त्यागकर इस दीर्घ ससार मे भ्रमता रहता है ।

मिच्छोदयेण जीवो णिदंतो जेण्णभासियं धम्मं ।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे ॥३२॥

भावार्थ :– मिथ्यादर्शन के उदय से यह जीव श्री जिनेन्द्र कथित धर्म की निदा करता है और मिथ्या धर्म, मिथ्या गुरु व मिथ्या तीर्थ को पूजता है, इसलिए ससार मे भ्रमता है ।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि ससारे ॥३३॥

भावार्थ :– यह जीव अनेक जन्तु-समूह को मारता है, मास, मदिरा, मधु खाता है, परद्रव्य व परस्त्री को ग्रहण कर लेता है, इसलिये ससार मे भ्रमता है ।

जत्तेण कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो ।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

भावार्थ :– यह जीव मोह के अधेरे मे अधा होकर, रात दिन उद्योग करके, विषय-भोगो के लिए पाप किया करता है, इसीलिये इस ससार मे भ्रमता है ।

सजोगविप्पजोग लाहालाह च सुहं च दुक्खं च।
ससारे भूदाण होदि हु माण तहावमाण च ॥३५॥

भावार्थ :– इस ससार मे जीवो को सयोग-वियोग, लाभ-हानि, सुख-दु ख, मान-अपमान हुआ करता है।

कम्मणिमित्त जीवो हिंडदि ससार घोर कातारे।
जीवस्सण ससारो णिच्चयण कम्मणिम्मुक्को ॥३७॥

भावार्थ – कर्मो के वश होकर यह जीव इस भयानक ससार वन मे भ्रमता फिरता है। निश्चय नय से विचार किया जावे तो इस जीव के ससार नही है। यह तो कर्मो से भिन्न ही है।

ससारमदिक्कन्तो जीवोवादेयमिदि विचितिज्जो।
ससारदुहक्कन्तो जीवो सो हेयमिदि विचितिज्जो ॥३८॥

भावार्थ :– जो जीव समार मे पार हो गया है, उसकी भी अवस्था ग्रहण करने योग्य है ऐसा विचार करना चाहिये। तथा जो जीव मसार के दु खो मे फमा है, यह ससार दशा त्यागने योग्य है ऐसा मनन करना चाहिये।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है –

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए।
पत्तोसि तिव्वदुक्ख भावहि जिणभावणा जीव ॥८॥

भावार्थ .– हे जीव ! तूने भयानक नरकगति मे, पशुगति मे कुदेवगति मे व मनुष्यगति मे तीव्र कष्ट पाए है। अब तो तू शुद्ध आत्मतत्त्व की भावना कर ! वही जिन या कषायो को जीतनेवाला परमात्मारूप है।

सत्तसुणरयावासे दारुणभीसाइ असहणीयाइ।
भुत्ताइ सुइरकाल दुक्खाइ णिरतर सहिय ॥९॥

भावार्थ '– सात नरको के आवासो मे तीव्र, भयानक, असहनीय दु खो को दीर्घकाल तक निरन्तर भोगकर तूने कष्ट सहा है।

खणणुत्तावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोह च।
पत्तोसि भावरहिओ तिरयगईए चिर काल ॥१०॥

भावार्थ – हे जीव ! तूने पशुगति मे शुद्ध भावो को न पाकर चिरकाल तक खोदे जाने के, गर्म किये जाने के, जलाने के, धक्के खाने के, छेदे जाने के, रोके जाने के दु ख पृथ्वीकायादि मे क्रम से पाए है।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि।
दुक्खाइ मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥११॥

भावार्थ :– हे जीव ! तूने मनुष्यगति में पुन पुन जन्म लेकर अनतकाल अकस्मात् वज्रपात गिरने आदि के, शोकादि के, मानसिक कर्म के द्वारा सहज उत्पन्न रागद्वेषादि के, तथा रोगादि शारीरिक-ऐसे चार तरह के कष्ट पाए है।

सुरणिलएसु सुरच्छरविओयकाले य माणसं तिव्वं।
संपत्तोसि महाजस दुःखं सुहभावणा रहिओ ॥१२॥

भावार्थ :– हे महायशस्वी जीव ! तूने देवो के स्थानो मे प्रिय देव या देवी के वियोग के काल मे तथा ईर्ष्या सबधी मानसिक दु ख शुद्ध आत्मा की भावना से शून्य होकर उठाया है।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मतराइं जणणीणं।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१८॥

भावार्थ :– हे महायशस्वी जीव ! तूने अनन्त मानव जन्म धारण करके भिन्न-भिन्न माता के स्तनो का दूध पिया है, जो एकत्र करने पर समुद्र के जल से अधिक हो जायेगा।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलाहु अहिययर ॥१९॥

भावार्थ :– तूने माता के गर्भ से निकल कर फिर मरण किया, तब भिन्न-भिन्न जन्मो की अनेक माताओ ने रुदन किया। उनके आँखो के आँसुओ को एकत्र किया जावे तो समुद्र के जल से अधिक ही हो जायेगा।

तिहुयण सलिलं सयलं पीयं तिण्हाइ पीडिएण तुमे।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चित्तेह भवमहणं ॥२३॥

भावार्थ :– हे जीव ! तूने तीन लोक का सर्व पानी प्यास की पीडा से पीडित होकर पिया है। तो भी तेरी- तृषा या तृष्णा न मिटी। अब तू इस ससार के नाश का विचार कर।

छत्तं सं तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अन्तोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥

भावार्थ – हे जीव ! तूने एक श्वास के अठारहवे भाग आयु को धारकर निगोद की लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मे एक अतर्मुहूर्त के भीतर ६६३३६ जन्म-मरण किये हैं। इनका हिसाब पीछे लिख चुके है।

रयणत्तए अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहि भणिय त रयणत्तं समायरह ॥३०॥

भावार्थ :– रत्नत्रयमयी जिनधर्म को न पाकर तूने ऊपर प्रमाण इस दीर्घससार मे भ्रमण किया है, ऐसा श्री जिनेन्द्र ने कहा है। अब तू रत्नत्रय को पाल ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते है –

जो खलु ससारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ॥१२८॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो इ दियाणि जायंते ।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ॥१२९॥

जायदि जीवस्सेव भावो ससारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहि भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो व ॥१३०॥

भावार्थ – इस ससारी जीव के रागादि भाव होते है, उनके निमित्त से आठ कर्मो का बन्ध होता हे, कर्मो के उदय से एक गति से दूसरी गति मे जाना है। जिम गति मे जाता है, वहाँ स्थूल शरीर होता है, उस देह मे इन्द्रियाँ होती है। उन इन्द्रियो से भोग्य पदार्थो को भोगता है तव फिर राग व द्वेष होता है। इस तरह इस ससाररूपी चक्र मे इस जीव का भ्रमण हुआ करता है। किसी के यह ससार अनादि अनन्त चला करता है, किसी के अनादि होने पर भी अन्त हो जाता है।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है –

मिच्छत्तेणो छण्णो मग्ग जिणदेसिद अपेक्खतो ।
भमिहदी भीमकुडिल्ले जीवो ससार कतारे ॥१३॥

भावार्थ .– यह जीव मिथ्यादर्शन से ढका हुआ व श्री जिनेन्द्र कथित मार्ग पर श्रद्धान न लाता हुआ इस ससाररूपी अति भयानक व कुटिल वन मे भ्रमण किया करता है।

तत्थ जरामरण भय दुक्ख पियविप्पओग वीहणयं ।
अप्पियसजोग विषय रोग महावेदणाओ य ॥१६॥

भावार्थ :– इस ससार में बूढापना, मरण, भय, क्लेश, भयानक इष्ट-वियोग, अनिष्टसयोग, रोग आदि की महान वेदनाओं को यह जीव सहा करता है।

जायंतो या मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ॥१७॥

भावार्थ :– यह जीव पशुगति, नरकगति, मनुष्यगति व देवगति मे तथा जलचर, थलचर, नभचर प्राणियो मे जन्मता व मरता हुआ सहस्रो कष्टो को भोगता है।

संजोगविप्पओगा लाहालाहं सुहं च दुक्खं च।
संसारे अणुभूदा माण च तहावमाण च ॥१६॥

एवं बहुप्पयारं ससार विविहदुक्खथिरसार।
णाऊण विचितिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥२०॥

भावार्थ :– इस ससार मे इस जीव ने सयोग-वियोग, लाभ-हानि, सासारिक सुख-दु ख, मान-अपमान का अनुभव किया है। इस तरह इस ससार के नाना प्रकार के सदा ही मिलने वाले दु खो को जानकर यह असार ससार जिस उपाय से कम हो वह उपाय विचारना चाहिए।

श्री समतभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते है –

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभि: प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदंजगज्जन्मजरान्तकार्त्तं निरजनां शातिमजीगमस्त्वम् ॥१२॥

भावार्थ :– यह ससार अनित्य है, अशरण है, अहकार बुद्धि से ससारी प्राणियो म मिथ्यात्व भाव प्रवेश हो रहा है। यहाँ ससारी जीव नित्य जन्म, जरा व मरण मे दु खी है – ऐसा-जानकर हे सभवनाथ ! आपने निर्मल शाति को ही भजा।

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवा श्रमार्त्ता निशि शेरते प्रजा।
त्वमार्य्य नक्त दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ॥४८॥

भावार्थ :– ससार के प्राणी अपने जीवन की तथा काम-भोगो की तृष्णा से पीडित होकर दिन भर परिश्रम करके थक जाते हैं व रात को सो रहते है। इस तरह कभी तृष्णा को व ससार के कष्टो को नही मिटा सकते, ऐसा जान

कर हे शीतलनाथ ! आपने आलस्य टालकर इस ससार के नाश के लिये आत्मिक वीतराग मार्ग मे रात-दिन सदा जागृत रहना ही स्वीकार किया ।

श्री शिवकोटि मुनि भगवती आराधना मे कहते है –

णिरयेसु वेयणाओ अणोवमाओ असादवहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतसो तं बहु विधाओ ॥१५६२॥

भावार्थ :– हे मुने ! इस ससार मे काय के निमित्त असयमी होकर तूने ऐसा कर्म बाधा, जिससे नरक मे जाकर बहुत प्रकार की उपमा रहित बहुत असाता सहित वेदना अनन्तबार भोगी ।

ताडणतासणबन्धण,—वाहणलछणविहेडणं दमणं ।
कण्णच्छेदणणासा,—वेहणणिल्लछणं चेव ॥१५८२॥

छेदणभेदणडहण, णिच्छलणं गालणं छुहा तण्हा ।
भक्खणमद्दणमलण, विकत्तणं सीदउण्हं च ॥१५८३॥

ज अत्ताणो णिप्पडियम्मो बहुवेदणट्टिओ पडिओ ।
बहुएहि मदो दिवसेहि, चडयडतो अणाहो तं ॥१५८४॥

रोगा विविधा बाधाउ, तह य तिव्व भय च सव्वत्तो ।
तिव्वा उ वेदणाओ, धाडणपादाभिघादा य ॥१५८५॥

इच्चेवमादि दुक्ख, अणतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
ज पत्तो सि अदीदे, काले चिंतेहि त सव्वम् ॥१५८७॥

भावार्थ :– हे मुने ! तिर्यंचगति मे तूने नाना प्रकार की लाठी, घूसे व चाबुको की ताडना भोगी, शस्त्रनि की त्रास सही, दृढता से बाधा गया, नाक बीधी गई, हाथ-पगादि बाधे गए, गला बाधा गया, पिजरे मे डाला हुआ तीव्र दु ख पाया, तथा कान छेदे-गये, नाक छेदी गई, शस्त्रो से बीधा गया, घसीटा गया आदि दु ख भोगे, बहुत बोझे से हाड टूट गए, मार्ग मे बोझ लादे बहुत दूर रात-दिन चलना पडा, आग मे जला, जल मे डूबा, परस्पर खाया गया, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी की घोर वेदना भोगी, पीठ गल गई, असमर्थ होकर कीचड मे पडा रहा, घोर धूप मे पडा रहा । जो-जो क्लेश पाये हैं, उनका विचार करो । नाना प्रकार के रोग सहे, सर्व तरफ से डरता रहा तथा दुष्ट मनुष्य व पशुओ

से घोर कष्ट पाया, वचन का तिरस्कार सहा, परों की मार दीर्घकाल तक सही इत्यादि दुःख अनन्तवार तिर्यंच योनि में तूने गत काल मे भोगे है, उन सबका अब विचार करो ।

देवत्तमाणुसते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।
दुक्खाणि किलेसा वि य, अणंतखुत्ता समणु भूदग् ।।१५८८।।

भावार्थ :– हे मुने ! अपने किये हुए कर्मों के वश से देवगति मे तथा मनुष्यगति में पैदा होकर अनन्तवार बहुत दुःख क्लेश भोगे है ।

जं गब्भवासकुणिमं, कुणिमाहारं छुहादिदुक्खं च ।
चितं तस्स य मुचियसुहिदस्स दुःखं चयणकाले ।।१६०१।।

भावार्थ :– देवों को मरते हुए ऐसा चितवन होता है जो मेरा गमन अब तिर्यञ्चगति व मनुष्यगति के गर्भ मे होगा । दुर्गंध गर्भ मे रहना, दुर्गंध आहार लेना, भूख-प्यास सहना पड़ेगा, ऐसा विचारते बहुत कष्ट होता है ।

एवं एदं सव्वं दुक्खं च दुगदिगंद च जपत्ते ।
ततो अणंत भागो होज्जणवा दुदसमिसंगते ।।१६०२।।

भावार्थ :–उस मनुष्य पर्याय मे निर्धनता, सप्त धातुमय मलीन रोगों की भरी देह का धारना, कुदेश मे बसना, स्वचक्र-परचक्र का दुःख सहना, वैरी समान बांधवों मे रहना, कुपुत्र का संयोग होना, दुष्ट स्त्री की संगति होना, नीरस आहार मिलना, अपमान सहना, चोर, दुष्ट राजा व मंत्री व कोतवाल द्वारा घोर त्रास सहना, दुष्काल मे कुटुम्ब का वियोग होना, पराधीन रहना, दुर्वचन सहना, भूख-प्यास आदि सहना इत्यादि दुःखो का भरा मनुष्य जन्म है ।

तण्हा अणंतखुत्तो, संसारे तारिसी तुमं आसि ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं पि ण तीरेज्ज ।।१६०५।।

आसी अणंतखुत्तो, संसारे ते क्षुधा वि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो, पुग्गलकाओ ण तीरिज्ज ।।१६०६।।

भावार्थ :– हे मुने ! संसार मे तुमने ऐसी प्यास की वेदना अनंतवार भोगी, जिसके शान्त करने को सर्व समुद्रो का जल समर्थ नही तथा ऐसी क्षुधा वेदना अनंतबार भोगी, जिसके शान्त करने को सर्व पुद्गल काय समर्थ नही ।

जावं तु किंचि दुःखं, सारीरं माणस च संसारे।
पत्तो अणंतखुत्तं कायस्स ममत्तिदोसेण ॥१६६७॥

भावार्थ :– हे मुने ! इस ससार मे जो कुछ शारीरिक व मानसिक दु ख अनतबार प्राप्त हुए हैं, सो सर्व इस शरीर मे ममता के दोष से प्राप्त हुए है ।

णत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्ख।
जम्मणमरणादंकं छिण्णममत्ति सरीरादो ॥१६६९॥

भावार्थ :– इस ससार मे मरण के समान भय नही है, जन्म के समान दु ख नही है । इसलिये जन्म-मरण से व्याप्त इस शरीर से ममता छोड ।

श्री पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि मे कहते हैं –

'अत्र जीवा-अनादिससारेऽनन्तकाल नानायोनिषु दु ख भोग भोग पर्यटन्ति । न चात्र किंचिन्नियतमस्ति, जलबुद्बुदोपम जीवित, विद्युन्मेघादिविकारचपलाभोग-सम्पदइत्येवमादि जगत्स्वभावचितनात् ससारात् सवेगो भवति' ॥१२-७॥

भावार्थ :– इस जगत मे जीव अनादिकाल से अनतकाल तक नाना योनियो मे दु ख भोगते हुए भ्रमण किया करते है । जल के बुल-बुले के समान जीवन क्षणिक है । बिजली की चमक, बादलो के विघटन के समान भोग सम्पदा अथिर है, ऐसा जगत का स्वभाव विचारने से भय होता है ।

श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते है –

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।
त्यक्त्वैना प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

भावार्थ :– इस ससार के दु खो का मूल यह शरीर है, इसलिये आत्म-ज्ञानी को इसका ममत्व छोडकर व इन्द्रियो से विरक्त होकर अतरग आत्मध्यान करना चाहिये ।

शुभं शरीर दिव्याश्च विषयानभिवाछति ।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

भावार्थ :– शरीर को आत्मा मानकर अज्ञानी सुन्दर शरीर व मनोहर भोगो की सदा वाछा किया करता है, परन्तु तत्वज्ञानी इस शरीर को ही नही चाहते हैं ।

जगद्देहात्मदृष्टीना विश्वास्य रम्यमेव च ।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीना क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४६॥

भावार्थ :— जो शरीर मे आत्मबुद्धि रखने वाले है, उनको यह ससार विश्वास योग्य तथा रमणीक भासता है, परन्तु आत्मबुद्धि धारको का इस ससार मे न विश्वास है, न उनकी रति है ।

स्वबुद्धया यावद्गृह्णीयात् कायवाक् चेतसा त्रयम् ।
ससारस्तावदेतेषा भेदाभ्यासे तु निर्वृति. ॥६२॥

भावार्थ :— जब तक कोई शरीर, वचन, काय को आत्मारूप मानता रहेगा. तब तक ससार का दु ख है । जब आत्मा को इनसे भिन्न विचारने का अभ्यास करेगा, तब दु खो से छूट जायगा ।

श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश मे कहते है —

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिवाह्यते ।
यावत्तावद्भवत्यन्या प्रचुरा विपद. पुरः ॥१२॥

भावार्थ :— इस ससार की घटी यत्र मे इतनी विपत्तिया है कि जब एक दूर होती है, तब दूसरी अनेक आपदाए सामने आकर खडी हो जाती है ।

विपत्तिमात्मनो मूढ परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनातरतरुस्थवत् ॥१४॥

भावार्थ :— जैसे कोई मानव वन के वृक्ष पर बैठा हुआ यह तमाशा देखे कि वन मे आग लगी है, मृग भागे जाते है, परन्तु आप स्वय न भागे और वह यह न विचारे कि आग इस वृक्ष को जलाने वाली है इसी तरह ससार मे मूर्ख प्राणी दूसरो की विपदाओ को देखा करता है, परन्तु मेरे पर आपत्तिया आने वाली है, मेरा मरण होने वाला है, ऐसा नही देखता है ।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है —

ससारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं ।
दु खानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ॥
तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापाङ्गै रनङ्गायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धन. ॥५३॥

भावार्थ :-- हे जीव ! तूने इस ससार मे नरक आदि योनियो मे अत्यन्त दु ख भोगे है, जिनके स्मरण करने से आकुलता पैदा होती है, उन दु खो की वात से दूर ही रहो, इस नरभव मे तू निर्धन हुआ है, परन्तु नाना प्रकार भोगो का अभिलाषी है । काम मे पूर्ण स्त्रियो के मद हास्य ओर काम के बाण समान तीक्ष्ण कटाक्षो से बेधा हुआ तू पाले से भरे हुए वृक्ष की दशा को प्राप्त हुआ है । इस दु ख ही को तू विचार कर । काम की तृष्णा भी बडी दु खदाता है ।

उत्पन्नोस्यतिदोषधातुमलवद्देहोसि कोपादिमान् ।
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोस्यऽस्यात्मनो वञ्चक ॥

मृत्युव्याप्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रस्तोसि जन्मिम् वृथा-
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहितो किं वासि वद्धस्पृह. ॥५४॥

भावार्थ :– हे अनत जन्म के धरनहारे अज्ञानी जीव ! तू इस ससार मे अनेक योनियो मे उपजा है । अब यहाँ तेरा शरीर दोषमई धातु से वना अति-मलीन है, तेरे भीतर क्रोधादि कपाय है । तू शरीर के रोग व मन की चिन्ता से पीडित है, हीन आचार मे फँसा है, अपनी आत्मा को ठग रहा है, जन्म-मरण के बीच मे पडा है, वुढापा सता रहा है, तो भी वृथा बावला हो रहा है, मालूम होता है तू आत्मा के हित का शत्रु है, तेरी इच्छा अपना वुरा ही करने की झलकती है ।

उग्रग्रीष्म कठोर घर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभै ।
सतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो सवृद्धतृष्णो जन ॥

अप्राप्याभिमत विवेकविमुख पापप्रय साकुल—
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमततक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

भावार्थ :– भयानक गर्म ऋतु के सूर्य की तप्तायमान किरणो के समान इन्द्रियो की इच्छाओ से आकुलित यह मानव हो रहा है । इसकी तृष्णा दिन पर दिन बढ रही है सो इच्छानुकूल पदार्थो को न पाकर विवेक रहित हो अनेक पाप रूप उपायो को करता हुआ व्याकुल हो रहा है व उसी तरह दु खी है जैसे जल के पास की गहरी कीचड मे फँसा हुआ दुर्बल वूढा बैल कष्ट भोगे ।

शरणमशरण यो बधवो बध मूल ।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ॥
विपरिमृशत पुत्रा शत्रव सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मल शर्म्मकामा. ॥६०॥

भावार्थ :– जिस घर को तू रक्षक समझता है, वही तुझे मरण से बचा नही सकता । ये भाई-बन्धु सर्व स्नेह के बंधन के मूल है, दीर्घकाल से परिचय मे आई हुई तेरी स्त्री अनेक आपदाओ का द्वार है, ये तेरे पुत्र स्वार्थ के सगे तेरे शत्रु है । ऐसा विचार कर इन सबको तज और यदि तू सुख को चाहता है तो तू पवित्र धर्म की सेवा कर ।

अवश्य नश्वरैरेभिरायुः कायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते ।।७०।।

भावार्थ :– ये आयु शरीरादि अब अवश्य नाश होने वाले है, यदि इन की ममता छोडने से अविनाशी मोक्षपद तेरे हाथ मे आ सकता है तो सहज मे ही आया जान ।

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं ।
खलः कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम् ।।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयमयमिदं जीवितमिह ।
स्थिता भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्यास्नुमपधीः ।।७२।।

भावार्थ :– यह आयु प्रकट ही अरहट की घडी के जल की तरह छिन-छिन गल रही है, यह दुष्ट शरीर भी आयु की गति के अनुसार निरन्तर पतनशील है, जरावान होता जाता है, जिनसे जीवन है, वे आयु व काय ही क्षणभगुर है व विनाशीक है तब पुत्र स्त्री व धनधान्यादि के सम्बन्ध की क्या बात, वे तो छूटने ही वाले है तो भी यह अज्ञानी अपने को थिर मानता है । जैसे नाव मे बैठा पुरुष चलता हुआ भी भ्रम से अपने को थिर मान लेता है ।

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णाङ्गो हित वाहितम् ।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने ।।
मध्ये वृद्धतृषार्ज्जितुम् वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्मफलितं धर्मो भवेन्निर्मलः ।।८९।।

भावार्थ :– हे जीव ! बालावस्था मे तू पूर्णांग न पाता हुआ अपने हित या अहित को कुछ भी नही जानता है । जवानी मे स्त्री रूपी वृक्षो के वन मे भ्रमता हुआ काम भाव से अन्धा बन गया है । मध्य वय मे बढी हुई धन की तृष्णा से पशु के समान खेती आदि कर्मों को करता हुआ क्लेश पाता है । बुढापे

से अधमरा हो गया । तब बता नर जन्म को सफल करने के लिये तू पवित्र धर्म को कहाँ पालन करेगा ।

श्री पद्मनन्दि मुनि अनित्य पचाशत् मे कहते है—

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं ।
मुग्धास्तत्र वधू मृगी गतधियस्तिष्ठंति लोकैणकाः ।।
कालव्याध इमान्निहंति पुरतः प्राप्तान् सदा निर्दयः ।
तस्माज्जीवति नो शिशुर्न च युवा वृद्धोपि नो कश्चन ।।३४।।

भावार्थ – यह ससार रूप वन सर्व जगह शोकरूपी दावानल से व्याप्त हो रहा है । यहाँ विचारे भोले लोगरूपी हिरण स्त्रीरूपी मृगी मे प्रेम कर रहे है, अचानक कालरूपी शिकारी आकर निर्दयी हो सामने से इनको मारता है इस कारण न तो बालक मरण से बचता है, न युवा बचता है और न वृद्ध बचता है । इस ससार मे मरण सर्व को घात करता है ।

वांछत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं पर प्राप्यते ।
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति ।।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुव ।
दु खोर्मिप्रचुरे पतंति कुधियः संसारघोरार्णवे ।।३६।।

भावार्थ :– यह जीव इस ससार मे निरन्तर इन्द्रियजनित सुख ही की वाछा करता है, परन्तु उतना ही मिलता है जितना पुण्य कर्म का उदय है । इच्छा के अनुसार नही मिलता है । निश्चय से मरण सब मानवो को आने वाला है । इसलिये यह जीव मरने से भय करता रहता है । ऐसे यह कुबुद्धि जीव काय की तृष्णा और भय से मलीन चित्त होता हुआ मोह से वृथा ही दु ख रूपी लहरो से भरे हुए इस भयानक समुद्र मे गोते खाता है ।

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषादः ।
कस्त्रस्यति लंघनतः प्रविधाय चतु.पथे सदनं ।।४६।।

भावार्थ :– यह ससार आपत्तियो का घर है । यहाँ रोग, शोक, इष्ट-वियोग, अनिष्ट सयोग, जरा, मरणरूपी आपदाए आने ही वाली है । इसलिये विद्वान को आपत्ति आने पर शोक नही करना चाहिये । जो कोई चौराहे पर अपना मकान बनाएगा उसको लोग उल्लघन करेगे ही, उससे कौन भय करेगा ।

स्वकर्म्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा ।
समाघ्रात साक्षाच्छरणरहिते ससृतिवने ॥
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिद ।
वदन्नेव मे मे पशुरिव जनो याति मरणं ॥४८॥

भावार्थ :– जैसे अशरण वन मे बलवान् सिह से पकडा हुआ पशु 'मै मे' करता मर जाता है, वैसे इस शरण रहित ससाररूपी वन मे उदय प्राप्त अपने कर्मरूपी सिह से पकडा हुआ प्राणी मेरी स्त्री, मेरे पुत्र, मेरा धन, मेरा घर ऐसे पशु की तरह 'मै मैं' करता हुआ मरण को प्राप्त हो जाता है ।

लोकागृहप्रियतमासुतजीवितादि ।
वाताहतध्वजपटाग्रचल समस्त ॥
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे ।
धर्मे मति कुरुत किं बहुभिर्वचोभि ॥५४॥

भावार्थ :– हे लौकिकजनो ! यह घर, स्त्री, पुत्र, जीवन आदि सर्व पदार्थ उसी तरह चचल है, विनाशीक है, जैसे पवन से हिलती हुई ध्वजा के कपडे का अग्रभाग चचल है इसलिये तू धनादि व मित्रो मे मोह को छोडकर धर्मसाधन मे बुद्धि को धारण कर । अधिक वचनो से क्या कहा जावे ।

श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना या बृहत् सामायिक पाठ मे कहते है –

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगै-
स्तनुधनसुतहेतो कर्म्म यादृक् करोषि ।
सकृदपि यदि तादृक् सयमार्थं विधत्से-
सुखममलमनत किं तदा नाऽश्नुषेऽल ॥६६॥

भावार्थ :– हे मूढ प्राणी ! तू शरीर, धन, पुत्र के लिये असिकर्म, मसिकर्म, विद्याकर्म, शिल्पकर्म तथा वाणिज्यकर्म से जैसा परिश्रम करता है, वैसा यदि तू एक दफे भी सयम के लिये करे तो तू निर्मल अनतसुख क्यो नही भोग सकेगा ?

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिदो ।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जगमत्व ॥
न पुनरिह कदाचित् घोरससारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म्म पुसा ॥६८॥

भावार्थ :– कदाचित् सूर्य ठडा हो जावे, चन्द्रमा उष्ण हो जावे, मेरु पर्वत चलने लग जावे तो भी इस भयानक दु खो के भरे हुए ससार चक्र मे भ्रमण करते हुए प्राणी को सच्चा सुख नही प्राप्त हो सकता है ।

श्वभ्राणामविसह्यमतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यज ।
दाहच्छेदविभेदनादिजनित दु ख तिरश्चां पर ।।
नृणा रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसा मानसं ।
विश्व वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये ।।७९।।

भावार्थ :– हे भव्य जीव ! तू इस जगत को सदा कष्टो से भरा हुआ देखकर इनसे मुक्ति पाने की बुद्धि कर । नारकियो के असह्य, अनन्त, वचन अगोचर पारस्परिक दु ख होता है । तिर्यंचो के अग्नि मे जलने का, छेदन-भेदन आदि के द्वारा महान् दु ख होता है । मानवो के रोग, वियोग, जन्म, मरण का दु ख है । देवो के मानसिक कष्ट है ।

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेह. स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दु खदान कुशल· कर्म प्रपच कथं ।।
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटा. शुष्यति कि पादपा. ।
भृज्जत्तापनिपातरोधनपरा शाखोपशाखान्विता ।।९६।।

भावार्थ :– जब तक तेरे मन मे बाहरी पदार्थो के सम्बन्ध मे राग-भाव दृढता से मौजूद है, तब तक तेरे किस तरह दु खकारी कर्म नाश हो सकते हैं ? जब पृथ्वी पानी से भीगी हुई है, तब उसके ऊपर सूर्य ताप के रोकने वाले अनेक शाखाओ से मडित जटाधारी वृक्ष कैसे सूख सकते है ?

रामा पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता बह्वनर्था ।
गात्र व्याध्यादिपात्र जितपवनजवा मूढलक्ष्मीरशेषा ।।
कि रे दृष्ट त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु-
र्येन त्व स्वार्थनिष्ठो भवसि न सतत बाह्यमत्यस्य सर्वम् ।।९८।।

भावार्थ :– हे मूढ ! ये स्त्रियाँ पाप वर्द्धक अहितकारी हैं । ये पुत्र परिजन बहुत अनर्थ के कारण है । यह शरीर रोग शोक से पीडित है । यह सम्पूर्ण सम्पदा हवा से अधिक चचल है । इस ससार रूपी भयानक वन मे हे आत्मा ! तूने क्या देखा है ? जिससे तू सर्व बाहरी पदार्थो को छोडकर अपने आत्महित मे सदा के लिये लीन नही होता है ।

सकललोकमनोहरणक्षमाः करण यौवन जीवित संपदः ।
कमलपत्रपयोलवचंचलाः किमपि न स्थिरमस्ति जगत्त्रये ॥१०६॥

भावार्थ :– सर्व जन के मन को हरने वाली इन्द्रियाँ, युवानी, जीतव्य व सम्पदाए उसी तरह चचल है, जैसे कमल के पत्ते पर पडी हुई पानी की बूँद चचल है । इन तीनो लोको मे कोई भी पर्याय स्थिर रह नही सकती ।

जननमृत्युजरानलदीपितं जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपि धर्ममतिं विदधाति नो रतमना विषयाकुलितो जनः ॥११८॥

भावार्थ :– यह सर्व जगत जन्म, मरण, जरा की अग्नि से जल रहा है, ऐसा देखते हुए भी यह विषयो की दाह से आकुलित प्राणी उनमे मन को लीन करता हुआ धर्म साधन मे विलकुल बुद्धि को नही लगाता है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है –

चतुर्गतिमहावर्त्ते दुःखवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ॥१॥

भावार्थ :– चार गति रूपी महान भवरवाले तथा दु ख रूपी बडवानल से प्रज्वलित इस ससार रूपी समुद्र मे जगत के दीन प्राणी निरन्तर भ्रमा करते है ।

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रङ्गेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्र वाहकः ॥८॥

भावार्थ – जैसे नृत्य के अखाडे मे नृत्यकार अनेक भेषो को धारता है और छोडता है, वैसे यह प्राणी सदा भिन्न-भिन्न रूपो को, शरीरो को ग्रहण करता है और छोडता है ।

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्रूप न तद्देशो न तत्कुलम् ॥१२॥

भावार्थ :– इस ससार की चार गतियो मे फिरते हुए जीव के वह योनि, वह रूप, वह देश, वह कुल, वह सुख-दु ख, वह पर्याय नही है, जो निरन्तर गमनागमन करने से प्राप्त न हुई हो ।

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वंचितो बलात् ॥१५॥

भावार्थ – इस ससार मे यह प्राणी कर्मों के फल से ठगा हुआ, राजा से मरकर लट हो जाता है और लट का जीव क्रम-क्रम से इन्द्रपद पा लेता है।

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽङ्गजा।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिक पदम् ॥१६॥

भावार्थ :– इस ससार मे प्राणी की माता मरकर पुत्री हो जाती है, बहन मरकर स्त्री हो जाती है, वही स्त्री मरकर अपनी ही पुत्री हो जाती है, पिता मरकर पुत्र हो जाता है, फिर वही मरकर पुत्र का पुत्र हो जाता है, इस प्रकार उलट-पुलट हुआ करती है।

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तिर्यक्षु श्रमदु खपावकशिखासभारभस्मीकृतै ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
ससारेऽत्रदुरन्तदुर्गतिमये वम्भ्रम्यते प्राणिभि ॥१७॥

भावार्थ :– इस दुर्निवार दुर्गतिमय ससार मे जीव निरन्तर भ्रमण करते है। नरको मे तो ये सूली, कुल्हाडी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा, कटारी आदि से पीडा को प्राप्त हुए नाना प्रकार के दु खो को भोगते हैं। पशुगति मे अग्नि की शिखा के भार से भस्म होकर खेद और दु ख पाते है। मनुष्य गति मे भी अतुल परिश्रम करते हुए नाना प्रकार के कष्ट भोगते है। देवगति मे राग भाव से उद्धत होते हुए दु ख सहते है।

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञान-तरगिणी मे कहते है –

दृश्यन्ते गंधनादावनुजसुतसुताभीरुपित्रंबिकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये।
आहार्येऽङ्गे वनादौ व्यसनकृषिमुखे कूपवापीतडागे
रक्ताश्च प्रेवणादौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ॥२२-११॥

भावार्थ :– इस ससार में कोई मनुष्य तो इत्र-फुलेल आदि सुगधित पदार्थों में रागी है। बहुत से छोटा भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता, ग्राम, घर, इन्द्रिय भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, वाहन, राजकार्य, भक्ष्य पदार्थ, शरीर, वन, सात व्यसन, खेती, कुआ, बावडी, सरोवर आदि मं राग करने वाले है। बहुत से मनुष्य व वस्तुओ को इधर उधर भेजने मे, यश, लाभ मे, तथा पशुओ के पालन में मोह करने वाले है, परन्तु शुद्ध आत्मा के स्वरूप के प्रेमी कोई नही है।

कीर्ति वा पररंजनं खविषयं केचिन्निजं जीवितं
संतानं च परिग्रह भयमपि ज्ञानं तथा दर्शनं।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुति तद्धेतुमुद्दिश्यच
कुर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै परं ॥८-६॥

भावार्थ :– इस ससार मे बहुत से मोही पुरुष कीर्ति के लिये काम करते है, अनेक दूसरों को रजायमान करने के लिये, बहुत से इन्द्रियो के विषयो की प्राप्ति के लिये, अपने जीवन की रक्षा के लिये, संतान व परिग्रह प्राप्ति के लिये, भय मिटाने के लिये, ज्ञान-दर्शन पाने के लिये, रोग मिटाने के लिये काम करते है। कोई बुद्धिमान ही ऐसे है जो शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के लिये उपाय करते हैं।

एकेंद्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यंतदेहिनः।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः॥
पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यतां।
नृत्वं चालम्य तादृक्षाः भवंत्यार्याः सुबुद्धयः ॥१०-११॥

भावार्थ :– इस ससार मे एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेंद्रिय तक अनतानंत जीव हैं, उनमे किसी के भी सम्यग्दर्शन के पाने की योग्यता नहीं है। पचेन्द्रिय सैनी मे भी जो निकट भव्य मनुष्य है, आर्य है व सुबुद्धि है वे ही मुख्यता से सम्यक्ती होकर चिद्रूप का ध्यान कर सकते हैं।

पूरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥६-१७॥

भावार्थ :– जो मानव मोही है पर पदार्थ मे रागी है, वे चाहे पुर, ग्राम, पर्वत का शिखर, समुद्र व नदी के तट, मठ, गुफा, वन, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किला, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामण्डप, तम्बू आदि स्थानो पर कही भी निवास करे; उन्हे निराकुल सुख रंचमात्र भी प्राप्त नही हो सकता।

पण्डित बनारसीदासजी बनारसीविलास मे कहते है –

[सवैया इकतीसा]

जामे सदा उतपात रोगनिसो छीजे गात ।
कछू न उपाय छिन-छिन आउ खपनो ।
कीजे बहु पाप और नरक दुःख चिता व्याप ।
आपदा कलाप मे विलाप ताप तपनो ॥
जामे परिग्रह को विषाद मिथ्या बकवाद
विषै भोग सुख है सवाद जैसो सपनो ।
ऐसो है जगत वास जैसो चपला विलास ।
जामे तू मगन भयो त्यागि धर्म अपनो ॥ ६ ॥
जग मे मिथ्याति जीव भ्रम करे है सदीव ।
भ्रम के प्रवाह मे बहा है आगे बहेगा ॥
नाम राखिवे को महारम्भ करे दंभ करे ।
यो न जाने दुर्गति मे दुःख कौन सहेगा ॥
बार-बार कहे मैं ही भागवत धनवत ।
मेरा नाम जगत मे सदाकाल रहेगा ।
याही ममता सो गहि आयो है अनन्त नाम ।
आगे योनि-योनि मे अनत नाम गहेगा ॥ १० ॥

[कवित्त]

जैसे पुरुष कोई धन कारन, हीडत दीप-दीप चढि यान ।
आवत हाथ रतन चितामणि, डारत जलधि जानि पाषान ॥
तैसे भ्रमत-भ्रमत भवसागर, पावत नर शरीर परधान ।
परम जतन नहिं करत बनारसि, खोवत वादि जनम अज्ञान ॥ ४ ॥
ज्यो जड़मूल उखाडि कलपतरु, बोवत मूढ कनक को खेत ।
ज्यो गजराज बेचि गिरिवर सम, कूर कुबुद्धि मोल खर लेत ॥
जैसे छाडि रतन चितामणि, मूरख काच खण्ड मन देत ।
तैसे धरम विसारि बनारसि, धावत अधम विषयसुख हेत ॥ ५ ॥
ज्यो मतिहीन विवेक बिना नर, साजि मतगज ईंधन ढोवै ।
कचन भाजन धूरि भरै शठ, मूढ सुधारस सो पग धोवै ॥

बाहित काग उडावन कारण, डारि महामणि मूरख रोवै ।
त्यो यह दुर्लभ देह 'बनारसि, पाय अजान अकारथ खोवै ।। ६ ।।

[सवैया तेईसा]

मात-पिता, सुत, बन्धु, सखी जन, मीत हितू सुख कामिन कीके ।
सेवक राजि मतगज वाजि, महादल साजि रथी रथ नीके ।।
दुर्गति जाय दु खी विललाय परै सिर आय अकेले ही जीके ।
पथ कुपथ सुगुरु समझावत और सगे सब स्वारथ ही के ।। १५ ।।

पडित द्यानतरायजी अपने द्यानतविलास मे कहते है –

[सवैया तेईसा]

हाट बनाय के बाट लगाय के, टाट बिछाय के उद्यम कीना ।
लेन को बाढ सु देन को घाट, सुवाटनि फेरि ठगे बहु दीना ।।
ताहू मे दान को भाव न रचक, पाथर की कहु नाव तरी ना ।
'द्यानत' याही ते नर्क मे वेदनि, कोड किरोडन और सही ना ।। ४१ ।।

नर्कन माँहि कहे नहि जाँहि, सहे दु ख जे जब जानत नाही ।
गर्भ मझार कलेश अपार, तले सिर था तब जानत नाही ।।
धूल के बीच मे कीच नगीच मे, नीच क्रिया सब जानत नाही ।
द्यानत दाव उपाय करो जम, आवहिगो जब जानत नाही ।। ४४ ।।

आए तजि कौन धाम, चलवो है कौन ठाम,
करत हो कौन -काम, कछूहू विचार है ।
पूरब कमाय लाय, यहा आइ खाय गए,
आगे को खरच कहा बाध्यो निरधार है ।।
बिना लिये दाम, एक कोस गाम को न जात,
उतराई दिये बिना कौन भयो पार है ।
आजकाल विकराल काल सिंघ आवत है,
मै करू पुकार धर्मधार जो तैयार है ।। २४ ।।

[सवैया इकतीसा]

केई-केई वार जीव भूपति प्रचण्ड भयो,
केई-केई वार जीव कीट रूप धरो है।
केई-केई वार जीव नवग्रीवक जाय वस्यो,
केई-केई वार जीव सातवे नरक जावतरो है ।।
केई-केई वार जीव राघो मच्छ होइ चुक्यो,
केई-केई वार साधारन काय वरो है।
सुख और दु ख दोउ पावत है जीव सदा,
यही जान ज्ञानवान हर्ष शोक हरो है ।। १६ ।।

याही जगमाहि चिदानद आप डोलत है,
भर्म भाव धरे हरे आतम सकति को।
कष्टकर्म रूप जे जे पुद्गल के परिनाम,
तिनको सरूप मान मानत सुमति को ।।
जाही समै मिथ्या मोह अन्धकार नाशि गया,
भयो परकाश भानु चेतन को तन को।
ताही समै जान्यो आप आप, पर पररूप,
मानि भव भावरी निवारो चारो गति को ।। ७५ ।।

[छप्पय]

कबहुँ चढत गजराज बोझ, कबहुँ सिर भारी।
कबहुँ होत धनवत, कबहुँ जिम होत भिखारी ।।
कबहुँ असन लहि सरस कबहुँ, नीरस नही पावत।
कबहुँ बसन शुभ सघन, कबहुँ तन नगन दिखावत ।।
कबहुँ स्वच्छन्द बन्धन, कबहुँ, करमचाल बहु लेखिये।
यह पुन्य-पाप फल प्रगट जग, राग-दोष तजि देखिये ।। ५२ ।।
कबहुँ रूप अति सुभग, कबहुँ दुर्भग दु खकारी।
कबहुँ सुजस जस प्रगट, कबहुँ अपजस अधिकारी ।।
कबहुँ अरोग शरीर, कबहुँ बहु रोग सतावत।
कबहुँ वचन हित मधुर, कबहुँ कछु बात न आवत ।।

कबहुँ प्रवीन, कबहुँ मुगध, विविध रूप नर देखिये।
यह पुन्य-पाप फल प्रगट जग, राग दोष तजि देखिये ।। ५३ ।।

[सवैया इकतीसा]

रुजगार बने नाहि धन तो न घरमाँहि,
खाने की फिकर बहु नारि चाहे गहना।
देने वाले फिरि जाहि मिलत उधार नाहि,
साँझ मिले चोर धन आवे नाहि लहना ।।
कोऊ पूत जारी भयो घरमाँहि सुत थयो,
एक पूत मरि गयो ताको दुःख सहना।
पुत्री वर जोग भई व्याही सुता मरि गई,
एते दुःख सुख माने तिसे कहा कहना ।। ४० ।।

शिष्य को पढावत हैं हेम को गढावत है,
मान को बढ़ावत हैं नाना छल छान के।
कौडी कौडी मागत हैं कायर हो भागत है,
प्रात उठे जागत है स्वारथ पिछान के ।।
कागद को लेखत है केई नग पेखत है,
केई कृषि देखत है आपनी युवनि के।
एक सेर नाज काज अपनो सरूप त्याज,
डोलत हैं लाज काज धर्म काज हान के ।। ३६ ।।

देखो चिदानंद राग ज्ञान दृष्टि खोल करि,
तात मात भ्रात सुत स्वारथ पसारा है।
तू तो इन्हे आप मानि ममता मगन भयो,
वह्यो भर्म माहिं निज धर्म को विसारा है ।।
यह तो कुटुम्ब सब दुख ही को कारण है,
तजि मुनिराज निज कारज विचारा है।
ताते धर्म सार स्वर्ग मोक्ष सुखकार,
सोई लहे भवपार जिनधर्म ध्यान धारा है ।। ३४ ।।

[कुण्डलिया]

यह ससार असार है, कदली वृक्ष समान ।
यामे सारपनो लखै, सो मूरख परधान ।।
सो मूरख परधान मान कुसुमनि नभ देखै ।
सलिल मथै घृत चहै शृङ्ग सुन्दर खर पेखै ।।
अगिनि माहि हिम लखै सर्प मुख माहि सुधा तह ।
जान जान मन माहि नाहि ससार सार यह ।। ३० ।।

भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते है —

[सवैया तेईसा]

काहे को देह सो नेह करै तू, अन्त न राखी रहेगी ये तेरी ।
मेरी ये मेरी कहा करै लच्छि सो, काहू की ह्वै के कहु रहि तेरी ।।
मानि कहा रहो मोह कुटुम्ब सो, स्वारथ के रस लागे सवेरी ।
ताते तू चेत विचच्छन चेतन, झूठि ये रीति सबै जग केरी ।।८८।।

[सवैया इकतीसा]

कोटि कोटि कष्ट सहै कष्ट मे शरीर दहै,
धूमपान किये पै न पायो भेद तन को ।
वृक्षनि के मूल रहे जटानि मे भूल रहे,
मानमध्य भूलि रहे किये कृष्ट तन को ।।
तीरथ अनेक नए तीरथ न कहू भये,
कीरति के काज दियो दान हू रतन को ।
ज्ञान बिना वेर वेर क्रिया फेर फेर,
कियो कोऊ कारज न आतम जतन को ।। ६४ ।।

[सवैया तेईसा]

बालक है तब बालक सी बुधि, जोबन काम हुताशन जारे ।
वृद्ध भयो तन अङ्ग रहे थकि, आये है श्वेत गए सब कारे ।।
पाय पसारि परयो धरनी महि, रोवै रटै दुख होत महारे ।
वीती यो बात, गयो सब भूलि, तू चेतत क्यो नहि ।।५१।।

[सवैया इकतीसा]

देखत हो कहा-कहा केलि करै चिदानद,
आतम सुभाव भूलि और रस राचो है।
इंद्रिन के सुख मे मगन रहे आठो जाम,
इद्रिन के दुख देख जानै दुख साचो है ॥
कहूँ क्रोध, कहूँ मान, कहूँ माया, कहूँ लोभ,
अहभाव मानि मानि ठौर ठौर माचो है।
देव, तिरयच, नर, नारकी, गतीन फिरै,
कौन कौन स्वाग धरै यह ब्रह्म नाचो है ॥ ३६ ॥

पाय नर देह कहो कीना कहा काम तुम,
रामा-रामा, धन-धन करत विहातु है ।
कैक दिन कैक छिन रही है शरीर यह,
याके सग ऐसे काज करत सुहातु है ॥
जानत है यह घर मरवे को नाहि डर,
देख भ्रम भूलि मूढ फूलि मुसकातु है ।
चेतरे अचेत पुनि चेतवे को ठौर यह,
आज काल पीजरे सो पक्षी उड जातु है ॥ २१ ॥

विकट भवसिंधु तारू तारिवे को तारू कौन,
ताके तुम तीर आये देखो दृष्टि धरिके ।
अबके सभारेते पार भले पहुँचते हो,
अबके सभारे बिन बूडत हो तरिके ॥
बहुरि फिर मिलवो न ऐसो सजोग कहू,
देव-गुरु-ग्रन्थ करि आये यही धरिके ।
ताहि तू विचार निज आतम निहारि भैया,
धारि परमातमा विशुद्ध ध्यान करिके ॥ ७ ॥

धूम्रन के धौर हर देखि कहा गर्व करे,
ये तो छिन मांहि जाइ पौन परसत ही ।

सन्ध्या के समान रग देखत ही होय भग,
दीपक पतग जैसे काल गरसत ही ॥
सुपने मे भूप जैसे इन्द्र धनु रूप जैसे,
ओसबूद धूप जैसे दुरे दरसत ही ।
ऐसो ही भरम सब कर्मजालवर्गणा को,
तामे मूढ मग्न होय मरै तरसत ही ॥१७॥

जहाँ तोहि चलिवो है साथ तू तहा को ढूढि,
यहा कहा लोगनि सो रह्यो तू लुभाय रे ।
सग तेरे कौन चलै देख तू विचार हिये,
पुत्र कै, कलत्र, धन-धान यह काय रे ॥
जाके काज पाप करि भरतु है पिड निज,
ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जाय रे ।
तहा तो इकेलो तू ही पाप-पुण्य साथ दोय,
तामे भलो होइ सोई कीजे हसराय रे ॥

—

अनादिनिधन वस्तुएँ भिन्न-भिन्न अपनी मर्यादा सहित परिणमित होती है, कोई किसी के आधीन नही है, कोई किसी के परिणमित कराने से परिणमित नही होती । उन्हे परिणमित करना चाहे वह कोई उपाय नही है, वह तो मिथ्यादर्शन ही है ।

—मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ५२

दूसरा अध्याय

शरीर स्वरूप

इस ससार मे जितनी आत्माएँ भ्रमण कर रही है, वे सब शरीर के सयोग मे है। यदि शरीर का सम्बन्ध न होता तो सर्व ही आत्माए सिद्ध परमात्मा होती, ससार का अभाव ही होता। वास्तव मे दूध-पानी की तरह शरीर और आत्मा का सम्बन्ध हो रहा है। आत्मा बडा ही सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थ है जबकि शरीर जड मूर्तिक पुद्गल परमाणुओ के स्कधो से बना है। इसलिये ससारी प्राणियों की स्थूल दृष्टि मे आत्मा के होने का विश्वास नही होता, क्योकि रात-दिन शरीर का ही प्रभुत्व व साम्राज्य हो रहा है, आत्मा का महत्व ढक रहा है।

यह मोही प्राणी बाहरी स्थूल शरीर को ही आपा म न रहा है, उसके जन्म मे, मैं जन्मा, उसके मरण मे, मै मरा, उसके रोगी होने पर, मै रोगी, उसके दुर्बल होने पर, मै दुर्बल, उसके वृद्ध होने पर, मै वृद्ध, उसके निरोगी होने पर, मै निरोगी, उसके सवल होने पर, मै सबल, उसके जवान होने पर, मैं जवान, ऐसा मान रहा है। यदि वह धनवान माता-पिता से जन्मा है तो अपने को धनवान मानता है। यदि निर्धन से जन्मा है तो निर्धन भानता है। राज्य कुलवाला अपने को राजा दरिद्र कुलवाला अपने को दरिद्री, कृपक कुलवाला अपने को किसान, जुलाहे के कुलवाला अपने को जुलाहा, दर्जी कुलवाला अपने को दरजी, धोवी कुलवाला अपने को धोवी, चमार कुलवाला अपने को चमार, मुनार कुलवाला अपने को सुनार, लुहार कुलवाला अपने को लुहार, वढई कुलवाला अपने को वढई, थवई कुलवाला अपने को थवई, रगरेज कुलवाला अपने को रगरेज, माली कुलवाला अपने को माली मान रहा है।

शरीर की जितनी दशाये होती है, वे सव मेरी है ऐसा घोर अज्ञान तम छाया हुआ है। शरीर के मोह मे इतना उन्मत्त है कि रात-दिन शरीर की

चर्चा करता है। सवेरे से सध्या होती है, सध्या से सवेरा होता है। शरीर की ही रक्षा, शरीर के ही शृगार का ध्यान रहता है। इसे साफ करना है, इसे धोना है, इसे कपडे पहनाने है, इसे चदन लगाना है, इसे भोजन-पान कराना है, इसे व्यायाम कराना है, इसे परिश्रम कराना है, इसे आराम देना है, इसे शयन कराना है, इसे आभूषण पहिनाने है, इसे वाहन पर ले जाना है, इसके लिये द्रव्य कमाना है, इसके सुखदाता स्त्री, नौकर, चाकरो की रक्षा करनी है, इसके विरोधी शत्रुओ का सहार करना है – इसी धुन मे इतना मस्त है कि इसे अपने आत्मा को जानने की व समझने की फुरसत ही नही मिलती है।

जिस शरीर के मोह मे आपको भूलकर काम किया करता है, वही शरीर पुराना पडते-पडते या जवानी मे ही या बालवय मे ही आयुकर्म के समाप्त होने पर छूटने लगता है तो महा-विलाप करता है, मै मरा, मैं मरा, मेरे साथी छूटे, मेरा धन छूटा, मेरा घर छूटा, मेरा सर्वस्व लुट गया, ऐसा मेरा-मेरा करता हुआ मरता है और तुरन्त ही दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त कर लेता है।

जिसकी सगति से यह बावला हो रहा है, उसका स्वभाव क्या है ? इसका यदि विचार किया जावेगा, विवेक बुद्धि से इस बात का मनन किया जावेगा तो विदित होगा कि 'शरीर' का भिन्न सडन, गलन, पडन, मिलन, बिछुडन स्वभाव है, जब कि मै अखण्ड, अविनाशी, अजात, अजर, अमर, अमूर्तिक, शुद्ध ज्ञातादृष्टा ईश्वर स्वरूप परमानन्दमय अनुपम एक सत् पदार्थ हू ।

ससारी जीवो के सर्व शरीर पाँच तरह के पाये जाते हैं – कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रियिक और औदारिक। सबसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय कार्मण शरीर है, सबसे स्थूल औदारिक है, तथापि सबसे अधिक पुद्गल के परमाणुओ का सघट्ट कार्मण मे है, उससे बहुत कम तैजस आदि मे क्रम से है। सबसे अधिक परम बलिष्ट शक्ति कार्मण मे है, उससे कम शक्ति क्रम से और शरीरो मे है।

कार्मण शरीर, कार्मण वर्गणा रूपी सूक्ष्म स्कधो से बनता है। इसके बनने मे मुख्य कारण ससारी जीवो के शुभ व अशुभ राग-द्वेष-मोहमयी भाव तथा मन-वचन-काय योगो का हलन-चलन है। यही अन्य चार शरीरो के बनाने का निमित्त कारण है। इसी के फल से बिजली (Electric) की सी शक्ति

को रखने वाली तैजस वर्गरणा रूपी सूक्ष्म स्कधो से तैजस शरीर बनता है। ये दो शरीर प्रवाहरूप से ससारी जीव के साथ अनादिकाल से चले आ रहे हैं। जब तक मोक्ष न हो, साथ रहते है, मोक्ष होते ही छूट जाते है, तो भी ये एक से नही रहते है, इनमे से पुरानी कार्मरण तथा तैजस वर्गरणाए छूटती रहती हैं व नई कार्मरण व तैजस वर्गरणाए मिलती रहती है।

यदि किसी मिथ्यादृष्टि मोही बहिरात्मा सैनी पचेन्द्रिय के कार्मरण शरीर की परीक्षा की जावे तो पुरानी से पुरानी कार्मरण वर्गरणा उसके कार्मरण शरीर मे सत्तर कोडा-कोडी सागर (सागर अनन्त वर्षो को कहते हैं) से अधिक पुरानी नही मिल सकेगी। आहारक शरीर भी सूक्ष्म है, यह शरीर तपस्वी ऋद्धिधारी महामुनियो के योगबल से बनता है। पुरुपाकार एक हाथ का सफेद बडा सुन्दर पुतला मस्तक द्वार से निकलता है और एक अन्तर्मुहूर्त तक ही बना रह सकता है, फिर दूसरा बन सकता है। यह शरीर साधु की भावना के अनुसार तार के समान किसी अरहतकेवली व श्रुतकेवली के दर्शन को जाता है, कोई सूक्ष्म शका किसी तत्व मे होती है वह दर्शनमात्र से मिट जाती है। कार्य लेने तक ही यह बना रहता है, फिर विघट जाता है।

वैक्रियिक शरीर और औदारिक शरीर दो शरीर ऐसे है, जो चारो गतिधारी प्राणियो के स्थूल शरीर है – जीवन तक रहते है, फिर छूट जाते है, नये प्राप्त होते है। देवगति व नरकगति वाले प्राणियो के स्थूल शरीरो को वैक्रियिक तथा तिर्यच और मनुष्यगति वाले प्राणियो के स्थूल शरीर को औदारिक कहते है।

नारकियो का वैक्रियिक शरीर बहुत ही अशुभ दुर्गन्धमय आहारक वर्गणाओ से बनता है। वे वर्गणाए नामकर्म के फल से स्वय मिल जाती हैं और एक अन्तर्मुहूर्त मे जितना बडा शरीर होना चाहिये, उतना बडा तैयार हो जाता है। यह शरीर बहुत ही असुहावना, डरावना, हुडकसस्थानमय पापकर्म के फल को दिखानेवाला होता है। इस शरीर को वैक्रियिक इसलिये कहते है कि इसमे विक्रिया करने की शक्ति होती है। नारकी इच्छानुसार अपने शरीर को सिह, भेडिया, कुत्ता, नाग, गरुड आदि बुरे पशुरूपो मे बदल सकते है, वे अपने अगो को ही शस्त्र बना लेते है। परस्पर दुःख देने के साधन बनाने मे

उनके शरीर नाना प्रकार की अपृथक् विक्रियाएँ करते रहते है । इस शरीर मे ऐसी शक्ति होती है कि छिन्न-भिन्न होने पर भी पारे के समान मिल जाता है । नारकी निरन्तर पीडा से आकुलित हो चाहते है कि यह शरीर छूट जावे, परन्तु वह शरीर पूरी आयु भोगे बिना छूटता नही, उसका अकाल मरण होता नही । वे ऐसे शरीर मे रत नही होते है, इसी से उनको नारत भी कहते है ।

देवो के भी स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते है । यह शरीर भी एक अतर्मुहूर्त मे स्वय नामकर्म के उदय से सुन्दर सुहावनी सुगन्धमय आहारक वर्गणाओ से बनता है । यह सुन्दर व कातिकारी होता है । पुण्य कर्म के कमती-बढती होने के कारण सर्व देवो का शरीर एक-सा सुन्दर नही होता है, कोई कम, कोई अधिक, इसी से देव परस्पर एक-दूसरे को देखकर ईर्षावान होकर मन मे घोर दु ख पाते है । अपने को दूसरो के मुकाबले मे कम सुन्दर देखकर कुढते हैं व रात-दिन मन ही मन मे जलते रहते हैं । मिथ्यादृष्टि अज्ञानी देवो को यह बडा मानसिक दु ख रहता है ।

शरीर सुन्दर होने से वे देव शरीर के मोह मे रत रहते हुए शरीर मे प्राप्त पाचो इन्द्रियो के भोगो मे बडे आसक्त रहते है । इनके शरीर मे अपृथक् तथा पृथक्-पृथक् विक्रिया करने की शक्ति होती है । एक देव या देवी अपने एक शरीर के बहुत शरीर बनाकर आत्मा को सब मे फैला देते है और मन द्वारा सर्व शरीरो से काम लिया करते है । एक ही शरीर से बने हुये भिन्न-भिन्न शरीरो को भिन्न-भिन्न स्थानो मे भेजकर काम लेते है । छोटा-बडा, हलका-भारी नाना प्रकार करने की शक्ति उनके वैक्रियिक शरीर मे होती है । एक देवी अनेक प्रकार शरीर बनाकर क्रीडा क्रिया करती है । इन देवो मे शरीर सबधी सैर, भ्रमण, नाच, गाना, नाटक, खेल, तमाशा इतना अधिक होता है कि ये रात-दिन इस ही राग-रग मे मगन होकर शरीर के ही सुख मे आसक्त हो शरीर रूप ही अपने को मान लेते है । मिथ्यात्वी देवो को स्वप्न मे भी ख्याल नही आता है कि हम शरीर से भिन्न कोई आत्मा है ।

शरीर के गाढ मोह के कारण कोई प्रिय देवी मरती है तो देवो को महान कष्ट होता है । अपना मरण निकट होता है तो बडा दु ख होता है । वे चाहते है कि और अधिक जीते रहे, परन्तु आयुकर्म के समाप्त होते ही उनको

शरीर छोडना पडता है । अकाल-मरण तो इनमे भी नही होता है । आर्तध्यान से शरीर छोडते है । कोई-कोई मर-करके वृक्ष वनस्पतिकाय मे या रत्नादि पृथ्वीकाय मे, कोई-कोई मृग, श्वान, अश्व, हाथी, वृषभ पशुओ मे और मोर, कबूतर आदि पक्षियो मे उत्पन्न हो जाते है । कोई-कोई दीन-हीन मनुष्यो मे जन्म लेते है । जैसा मोहकर्म वश पापकर्म बाधते है, वैसे ही कम बुरी व अधिक बुरी योनी मे आकर जन्म पाते है । शरीर का मोह देवो को पन्चेन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक की योनी मे पटक देता है, जहाँ से उन्नति करके फिर पन्चेन्द्रिय होना उनके लिये अनतकाल मे भी दुर्लभ हो जाता है ।

तिर्यन्चगति मे एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकायादिको का शरीर भी आहारक वर्गणाओ से बनता है, ये वर्गणाए कुछ शुद्ध है । वनस्पतियो का शरीर पृथ्वी आदि धातुओ से व आहारक वर्गणाओ से बनता है । विकलत्रय व पचेन्द्रिय पशुओ का शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार की अच्छी-बुरी आहारक वर्गणाओ से बनता है, जिससे किन्ही का शरीर सुन्दर, किन्ही का असुन्दर होता है, किन्ही का दुर्गधमय, किन्ही का सुगन्धमय होता है । असैनी पचेन्द्रिय तक सर्व पशुओ के मन नही होता है, इससे उनके विचारने की शक्ति ही नही होती है कि वे यह विचार सके कि आत्मा कोई भिन्न है व शरीर कोई भिन्न है । वे अपने को शरीर रूप ही माना करते है, उनकी तीव्र आसक्ति शरीर मे होती है। जो सैनी पचेन्द्रिय पशु है, उनके मन होता है, वे विचार कर सकते हैं; परन्तु उनको शरीर व आत्मा की भिन्नता के ज्ञान पाने का अवसर क्वचित् ही होता है । वे भी शरीर मे मोही होते हुए शरीर से ही अपना जन्म-मरण मानते रहते है व शरीर के छेदन-भेदन, भूख-प्यास से बहुत कष्ट भोगते है ।

मनुष्यगति मे इस कर्मभूमि के मनुष्यो का शरीर भी सुन्दर-असुन्दर नाना प्रकार की आहारक वर्गणाओ से बनता है । पहिले तो शरीर की उत्पत्ति मे कारण गर्भ है । वहाँ अति मलीन, पुरुष का वीर्य व स्त्री के रज का सम्बन्ध होता है, तब गर्भ बनता है । उसमे जीव अन्य पर्याय से आता है, तब वह चारो तरफ की और भी आहारक वर्गणा रूपी पुद्गल को ग्रहण करता है । विग्रह-गति से आया हुआ जीव मनुष्यगति मे एक साथ आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनो वर्गणा को ग्रहण करता है । अन्तर्मुहूर्त तक अपर्याप्त अवस्था

कहलाती है। जबतक उन वर्गणाओं मे आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इनके बनने की शक्ति का प्रकाश न हो, तब तक वह मानव अपर्याप्त कहलाता है, फिर वह पर्याप्त हो जाता है।

मानव का शरीर नौ मास के अनुमान महान कष्ट मे पूरा बनता है। तब तक इस जीव को गर्भ स्थान मे उल्टा रहना पडता है। वह स्थान महा अपवित्र दुर्गंधमय होता है। माता द्वारा खाये हुए भोजनपान द्वारा वह वहाँ अपना खाद्य ग्रहण करके बढता है। अगोपाग सिकुडे हुए एक झिल्ली के भीतर रहते है। जब वह गर्भ से निकलता है तो उस बालक को बड़ा भारी कष्ट होता है। बाल्यावस्था मे शरीर बड़ी कठिनाई से माता द्वारा पाला जाता है। भूख-प्यास लगती है, समय पर दूध व अन्नादि मिलता है, कभी नही मिलता है तब रोता है, मल-मूत्र से अपने को सान लेता है।

मानव इस स्थूल शरीर को ऊपर से चिकना देखकर इसमे लुभा जाते हैं परन्तु इस औदारिक शरीर के सम्बन्ध मे विचार नही करते है। यदि भले प्रकार शरीर के स्वभाव पर विचार किया जावे तो कोई भी बुद्धिमान ऐसे अशुचि, मैले, घिनावने शरीर की सगति पसन्द न करे। इसकी उत्पत्ति का कारण माता-पिता का अत्यन्त मलीन रज-वीर्य है। यह मलमयी गर्भस्थान मे बढता है। इसके भीतर सात धातु व उपधातु है।

सात धातुये है रस, रुधिर, मास, मेद (चरबी), हाड़, मिजी, शुक्र (वीर्य) जो भोजन-पान किया जाता है, वह इन दशाओं मे पलटते-पलटते अनुमान एक मास मे वीर्य को तैयार करता है।

सात उपधातुये है – वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा, स्नायु, चर्म, उपराग्नि। इनके भरोसे पर शरीर बना रहता है। यदि इनमें से कोई उपधातु बिगड जाती है तो रोग पैदा हो जाता है। यदि कोई ऊपर की खाल का ढकना जरा भी हटादे तो इस शरीर पर मक्खिया बैठ जायेगी इतना घिनावना दीखेगा कि स्वय को ही बुरा लगेगा। इस शरीर के भीतर मल, पीप अनेक कीडे बिलबिला रहे हैं। यह मैल के घड़े के समान मलीन पदार्थों से भरा है। शरीर मे करोडो रोम छिद्र है, उनसे रात-दिन पसीनारूपी मैल ही निकलता है। नव बडे द्वारो

से निरन्तर मैल ही निकलता है । नव द्वार है – दो कर्णछिद्र, दो आँख, दो नाक छिद्र, एक मुख, दो कमर के वहाँ लिग व गुदा ।

यह शरीर निरन्तर झडता रहता है व नये पुद्गलो से मिलता रहता है । अज्ञानी समझते है कि यह शरीर थिर है, परन्तु यह सदा अथिर रहता है । जैसे एक सेना के व्यूह मे युद्ध के समय सिपाही मरते जाते है, नये उनकी जगह को आकर भर देते है, वैसे ही इस शरीर मे पुराने परमाणु झडते है, नये मिलते है, बालकपन, कुमारपन, जवानीपन, इन तीनो मे कुछ सुन्दर दीखता है । जरा आने पर निर्बल व असुन्दर होने लगता है । इसकी अवस्था एक-सी नही रहती है । इसमे अनगिनती रोग, ज्वर, खासी, श्वास, पेटदर्द, सिरदर्द, कमरदर्द, गठिया, जलोदर, कोढ आदि पैदा होते रहते है । इसके छूट जाने का कोई नियम नही ।

देव व नारकियो का शरीर तो पूरी आयु होने पर ही छूटता है, परन्तु कर्मभूमि के मनुष्य व तिर्यचो का अकालमरण भी हो जाता है । जैसे दीपक मे तेल इतना हो कि रातभर जलेगा, परन्तु यदि तेल किसी कारण से गिर जावे तो दीपक जल्दी ही बुझ जायगा । इसी तरह आयुकर्म की वर्गणाए समय-समय फल देके खिरती रहती है, वे यदि इसी समान उदय मे आती रहती है, कोई प्रतिकूल कारण नही होता है तब तो पूरी आयु भोग ली जाती है, परन्तु असातावेदनीय के उदय से यदि तीव्र असाध्य रोग हो जावे, विष खाने मे आ जावे, तलवार लग जावे, अग्नि मे जल जावे, जल मे डूब जावे व और कोई अकस्मात् हो जावे तो आयुकर्म की उदीर्णा हो जाती है अर्थात् अवशेष आयु-कर्म की वर्गणाए सब एकदम झड जाती है और मरण हो जाता है ।

ऐसे पतनशील, मलिन, घिनावने, रोगाक्रात शरीर से अज्ञानीजन मोह करके रात-दिन इसी के सवारने मे लगे रहते है व अपने को शरीररूप ही मान लेते है और शरीर के मोह मे इतने मूर्च्छावान हो जाते है कि वे अपने आत्मा की तरफ दृष्टिपात भी नही करते है । धर्मसाधन से विमुख रहते है । अन्त मे रौद्रध्यान से नरक या आर्तध्यान से पशुगति मे चले जाते है ।

यद्यपि यह मानव का शरीर मलीन, क्षणभगुर व पतनशील है, तथापि यदि इसको सेवक के समान रक्खा जावे व इससे अपने आत्मा का हित किया

जावे तो इसी शरीर से आत्मा अपनी बडी भारी उन्नति कर सकता है। तप करके व आत्मध्यान करके ऐसा उपाय कर सकता है जो फिर कुछ काल पीछे शरीर का सम्बन्ध ही छूट जावे। नौकर को इतनी ही नौकरी दी जाती है, जिससे वह बना रहे व आज्ञा मे चलकर हमारे काम मे पूरी-पूरी मदद दे। इसी तरह शरीर को दुरुस्त रखने के लिये योग्य भोजन-पान देना चाहिये। इसे ऐसा खान-पान न देना चाहिये, जिससे यह आलसी, रोगी व उन्मत्त बन जावे। इसको अपने अधीन रखना चाहिये, शरीर के अधीन आप नही होना चाहिये।

इस शरीर से बुद्धिमान ऐसा यत्न करते है, जिससे फिर यह शरीर प्राप्त नही होवे, कर्मो की पराधीनता मिट जावे और यह आत्मा स्वाधीन हो जावे। इस मानव शरीर को यदि धर्मसाधन में लगा दिया जावे तो इससे बहुत उत्तम फलो की प्राप्ति हो सकती है। यदि भोगो मे लगाया जावे तो अल्प भोग रोगादि आकुलता के उत्पन्न कराने वाले होते है और उनसे तृप्ति भी नही होती है। यह शरीर काने साठे के समान है। काने साठे को खाने से स्वाद ठीक नही आता है, परन्तु यदि उसे बो दिया जावे तो वह अनेक साठों को पैदा कर देता है।

सयम का साधन-मुनिधर्म का साधन केवल मात्र इस मानव शरीर से ही हो सकता है। पशु कदाचित् श्रावक धर्म का साधन कर सकते हैं। नारकी व देव तो श्रावक का सयम नही पाल सकते हैं, केवल व्रतरहित सम्यग्दृष्टि ही हो सकते है। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी इन्द्रादिदेव यह भावना भाया करते हैं कि कब आयु पूरी हो और कब हम मनुष्य देह पावे। जो तप साधन कर कर्मों को जलावे और आत्मा को मुक्त करे, जन्म मरण से रहित करे, उसे सिद्ध पद मे पहुँचावे, – ऐसे उपकारी मानव जन्म को पाकर मानवो के शरीर को चाकर के समान रखकर इसकी सहाय से गृहस्थाश्रम मे तो धर्म, अर्थ, काम तीन पुरुषार्थो को साधना चाहिये और मुनिपद मे धर्म और मोक्ष को ही साधना चाहिये।

बुद्धिमानो को धर्मसाधन मे यह भी नही देखना चाहिये कि अभी तो हम कुमार हैं, अभी तो हम जवान है, बुढापे मे धर्म साधन कर लेंगे। अकाल-

मरण की सभावना होने से हमारा यह विचार ठीक नही है । मानवो के सिर पर सदा ही मरण खडा रहता है, मालूम नही कब आ जावे। इसलिये हर एक पन मे अपनी शक्ति के अनुसार धर्म का साधन करते रहना चाहिये, जिससे मरते समय पछताना न पडे । मानव शरीर का सम्बन्ध अवश्य छूटेगा, उसी के साथ लक्ष्मी, परिवार, सम्पदा सब छूटेगी । तब इस शरीर व उसके सबधियो के लिये बुद्धिमान को पापमय, अन्यायमय, हिसाकारी जीवन नही बिताना चाहिये। स्वपर उपकारी जीवन बिताकर इस शरीर को सफल करना चाहिये । इसमे रहना एक सराय का वास मानना चाहिये ।

जैसे सराय मे ठहरा हुआ मुसाफिर सराय क दूसरे मुसाफिरो से स्नेह करते हुए भी मोह नही करता है, वह जानता है कि सराय से शीघ्र जाना है, वैसे ही शरीर मे रहते हुए बुद्धिमान प्राणी शरीर के साथियो से मोह नही करते है, प्रयोजन वश स्नेह रखते है । वे जानते है कि एक दिन शरीर छोडना पडेगा तब ये सब सबध स्वप्न के समान हो जायेगे । शरीर झोपडी को पुद्गल से बनी जानकर हमे इससे मोह या मूर्छा भाव नही रखना चाहिये। यह झोपडी है, हम रहने वाले आत्मा अलग है । झोपडी जले हम नही जल सकते, झोपडी गले हम नही गल सकते, ? झोपडी पडे हम नही पड सकते, झोपडी पुरानी पडे हम जर्जरित नही हो सकते ।

यह पुद्गलरूप है, पूरन-गलन स्वभाव है, जड है, मूर्तिक है तथा हम अमूर्तिक अखड आत्मा है । हमारा इसका वैसा ही सबध है, जैसे देह और कपडो का । कपडा फटे, सडे, गले, छूटे हमारी देह न कटती है, न सडती है न गलती है, कपडा लाल, पीला, हरा हो, देह लाल, पीली, हरी नही होती है, इसी तरह शरीर बालक हो, युवान हो, वृद्ध हो, रोगी हो, पतनशील हो, हम आत्मा है, हम बालक नही युवान नही, वृद्ध नही, रोगी नही पतनशील नही । ज्ञानी को यही उचित है कि इस शरीर के स्वभाव का विचार करके इससे मोह न करे ।

इस शरीर की अपवित्रता तो प्रत्यक्ष प्रगट है । जितने पवित्र पदार्थ है, शरीर का स्पर्श पाते ही अशुचि हो जाते है । पानी, गध, माला, वस्त्र आदि शरीर के स्पर्श के बाद दूसरे उसको ग्रहण करना अशुचि समझते है । नगर व

ग्राम मे सारी गदगी का कारण मानवो के शरीर का मल है। ऐसे अपवित्र शरीर भी पूजनीय व पवित्र माने जाते है, यदि आत्मा धर्म रत्नो से विभूषित हो। अतएव हम सबको उचित है कि हम इस मानव देह को पुद्गलमयी, अशुचि नाशवत व आयुकर्म के आधीन क्षणिक समझकर इसके द्वारा जो कुछ आत्म-हित साधन हो सके सो शीघ्र करले। यदि विलम्ब लगाया तो यह शरीर धोखा दे जायेगा और मरते समय पछताना पडेगा कि हमने कुछ नही किया।

शरीर का स्वरूप आत्मा के स्वरूप से बिलकुल विलक्षण है। इसे अपने से भिन्न जानकर इससे वैराग्यभाव ही रखना चाहिये और इसी शरीर से ऐसा यत्न करना चाहिये, जिससे फिर इस शरीर की प्राप्ति ही न हो, फिर इस शरीर के जेलखाने मे आना ही न पडे और हम सदा के लिये स्वाधीन परमानन्दमय हो जावे। हमको मिथ्यात्व रूपी अधकार से निकलकर सम्यक्त्व के प्रकाश मे आने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये।

जैनाचार्यो ने शरीर का स्वरूप कैसा बतलाया है, सो नीचे के शास्त्रो के वाक्यो से प्रगट होगा –

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने द्वादशानुप्रेक्षा मे कहा है –

दुग्गध बीभत्थ कलिमल भरिद अचेयणो मुत्तम्।
सडणपडण सहावं देह इदि चिन्तये णिच्चम् ॥४४॥

भावार्थ :– ज्ञानी को नित्य ऐसा विचारना चाहिये कि यह शरीर दुर्गंधमय है, घृणामय है, मैल से भरा है, अचेतन है, मूर्तिक है, इसका स्वभाव ही सडना व पडना है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्च भावण कुज्जा ॥४६॥

भावार्थ :– देह के भीतर बसा, परन्तु देह से जुदा, कर्मो से भिन्न अनत सुख समुद्र, अविनाशी, पवित्र आत्मा है – ऐसी सदा भावना करने योग्य है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है –

एक्केक्कगुलि वाही छण्णवदी होति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

भावार्थ :– इस मनुष्य के देह मे एक-एक अगुल मे छियानवे-छियानवे रोग होते है, तब कहो, सर्व शरीर मे कितने-कितने रोग होगे ।

ते रोया विय सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ।।३८।।

भावार्थ :– हे महायश ! तूने पूर्व भवो मे उन रोगो को परवश हो सहा है, ऐसे ही फिर सहेगा, बहुत क्या कहे ?

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहि पत्तेहिं ।।३९।।

भावार्थ :–हे मुने ! तू ऐसे महान अपवित्र उदर मे नौ मास तथा दस मास बसा, जो उदर पित्त और आँतो से वेढा है, जहा मूत्र, फेफस, कलेजा, रुधिर, श्लेष्म और अनेक कीडे पाये जाते है ।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुम ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर ! वालत्तपत्तेण ।।४१।।

भावार्थ :– हे मुनिवर ! तू बालपने के काल मे अज्ञान अवस्था मे अशुचि, अपवित्र स्थान मे अशुचि मे लोटा और बहुत बार अशुचि वस्तु भी खाई।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंधम् ।
खरिसवसपूयखिब्भिस भरियं चिंतहि देहउडं ।।४२।।

भावार्थ :– हे मुने ! तू देहरूपी घडे को ऐसा विचार कि यह देहघट मास, हाड, वीर्य, रुधिर, पित्त, आतों से झडती मुरदे की सी दुर्गन्ध, अपक्व मल, चरबी, पीप आदि मलिन वस्तुओ से पूर्ण भरा है ।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार मे द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है –

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो ।
मादूइसेभलालाइयं तु तिव्वासुहं पिबदि ।।३३।।

भावार्थ :– अपवित्र मूत्र, मल, श्लेष्म, पित्त, रुधिरादि से पूर्ण गर्भ में बसा हुआ, मास की झिल्ली से ढका हुआ, माता के कफ द्वारा ... हुआ – यह जीव महान दुर्गंध रस को पीता है ।

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तं तमुत्तकुणिपकुडिं ।
बहुदुःक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ।।३४।।

भावार्थ :– मास, हाड, कफ, चरबी, रुधिर, चमडा, पित्त, आते, मूत्र, पीप आदि से भरी अपवित्र यह शरीररूपी कुटी अनेक दु ख और रोगो का स्थान है – ऐसा जान ।

अत्थं कामसरीरादियं पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं ॥३५॥

भावार्थ :– द्रव्य, काम भोग, शरीरादि ये सब तेरे बिगाड करने वाले अशुभ है – ऐसा जानकर इनसे वैराग्यवान होकर, ऐसा आत्मध्यान कर, जिस से यह अपवित्र शरीर का सम्बन्ध सदा के लिये छूट जावे ।

मोत्तूण जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥३६॥

भावार्थ :– देव, असुर, तिर्यंच नारकी व मानवो से भरे हुए इस लोक मे एक जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को छोडकर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तु नही है ।

इसी मूलाचार की अनागारभावना अधिकार मे कहते हैं –

रोगाण आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणमवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥७७॥

भावार्थ :– यह शरीर रूपी घर रोगो का भण्डार है । सैकडो आपत्तियो व रोगो को झेलकर बना हुआ है । ऐसे शरीर मे धीर-वीर मुनि क्षणमात्र भी राग नही करते है ।

एवं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं ।
अंतोछाइद ढिड्डिस खिब्भिसभरिदं अमेज्झघरं ॥७८॥

भावार्थ :– यह शरीर महान अशुचि है, नित्य राग-द्वेष पैदा करने का कारण है, अशुभ वस्तुओ से बना है, चमडे से ढका है, भीतर पीप, रुधिर, मास, चरबी, वीर्य आदि से पूर्ण है तथा मल-मूत्र का भण्डार है ।

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं ।
मंसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघरं तं सददमचोक्खं ॥८३॥

भावार्थ :–यह शरीर रूपी घर हड्डियो से बना है, नसो से बँधा है, मलमूत्रादि से भरा है, कीडो से पूर्ण हे, मास से भरा है, चमडे से ढका है, यह सदा ही अपवित्र है ।

भावार्थ – गर्भ मे माता का रुधिर पिता के वीर्य से मिला हुआ दश रात्रि तक हिलता रहता है, फिर दश रात्रि काला होकर ठहरता है, फिर दश दिन मे थिर होता है, फिर दूसरे महीने मे बुदबुदा रूप होकर ठहरता है। तीसरे मास मे वह कठोर होकर ठहरता है। चौथे मास मे मास की डली होकर ठहरता है। पाचवे मास मे उस मास की डली मे पाच पुलक निकलते है – एक मस्तक का आकार, दो हाथो का व दो पगो का आकार। छठे मास मे मनुष्य के अग-उपाग प्रगट होते है। सातवे मास मे चाम, नख, रोम की उत्पत्ति होती है। आठवे मास मे गर्भ मे कुछ हिलता है। नवमे या दसवे मास मे गर्भ स निकलता है। ऐसे जिस दिन गर्भ मे माता का रज, पिता का वीर्य स्थित हुआ, उसी दिन से यह जीव महान मलिन दशा मे ही रहा।

कुणिमकुडी कुणिमेहि य, भरिदा कुणिम च सवदि सव्वत्तो।
भाण य अमिज्झमय, अमिज्झभरिद सरीरमिण ॥१०२५॥

भावार्थ .– यह देह मलिन वस्तुओ की कुटी है व मलिन पदार्थो से ही भरी है व सर्व द्वारो से व शरीर के अग व उपागो से सडे दुर्गन्ध मल को नित्य वहाती है। जैसे मल से बना वर्तन मल ही से भरा हो, वैसा ही यह शरीर है।

अट्ठीणि होति तिण्णि दु, सदाणि भरिदाणि कुणिममज्झाए।
सव्वम्मि चेव देहे सधीणि सवति तावदिया ॥१०२६॥
ण्हारूण णवसदाइ, सिरासदाणि हवति सत्त व।
देहम्मि मसपेसी-, ण होति पचेव य सदाणि ॥१०२७॥
चत्तारि सिराजाला-, णि होति सोलसयकडराणि तहा।
छच्चेव सिराकुच्चा, देहे दो मसरज्जू य ॥१०२८॥
सत्त तयाओ काले-, जयाणि सत्तेव होति देहम्मि।
देहम्मि रोमकोडी-, ण होति असीदी सदसहस्सा ॥१०२९॥
पक्कामयासयत्था, य अतगंजाऊ सोलस हवति।
कुणिमस्स आसया स-त्त होति देहे मणुस्सस्स ॥१०३०॥
थूण उ तिण्णि देह-, म्मि होति सत्तत्तर च मम्मसद।
णव होति वणमुहाइ, णिच्च कुणिमं सवताई ॥१०३१॥
देहम्मि म त्थुलिंगं, अञ्जलिमित सयप्पमाणेण।
अञ्जलिमेत्तो मेदो ओनो वि य तत्तिओ चेव ॥१०३२॥

एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे।
सडणपडणे असारे रागं ण करेंति सप्पुरिसा ॥८४॥

भावार्थ – इस दुर्गंधित, घिनावने मल चर्म, आदि से सड़ने पड़ने वाले, सार रहित, इस शरीर में सत्पुरुष राग नहीं करते हैं।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्र में कहते हैं –

अजङ्गमं जङ्गमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम्।
बीभत्सु पूति क्षयि तापकं च स्नेहो वृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ॥३२॥

भावार्थ :– हे सुपार्श्वनाथ भगवन्! आपने जगत के कल्याण के लिये यह उपदेश दिया है कि यह शरीर स्वयं जड़ है, जीव द्वारा धारण करता है, जैसे किसी जड़ यन्त्र को कोई चलनेफिरने वाला प्राणी चलावे। तथा यह शरीर घृणायुक्त, दुर्गन्धित, नाशवान व संताप उत्पन्न करने वाला है, इससे राग करना वृथा है।

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते हैं –

देहस्स सुक्कसोणिय, असुईपरिणामकारणं जम्हा।
देहो वि होइ असुई, अमेज्झघयपूरओ व्व तदो ॥१००३॥

भावार्थ :– इस देह की उत्पत्ति का कारण महा अशुचि माता का रुधिर, पिता का वीर्य है। जैसे – मलिन मैदा से बनाया हुआ घेवर, सो भी मलिन होता है, वैसे अशुचि बीज से पैदा हुई देह भी अशुचि है।

कललगदं दसरत्तं, अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं अच्छदि गब्भम्मि तं बीयं ॥१००६॥
तत्तो मासं बुब्बुदभूदं, अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो, य मसपेसी य मासेण ॥१००७॥
मासेण पंच पुलगा, तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवंगाणि य, णरस्स जायंति गब्भम्मि ॥१००८॥
मासम्मि सत्तमे तस्स, होदि चम्मणहरोमणीप्पत्ती।
फुंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००९॥
सव्वासु अवत्थसु वि, कललादीयाणि ताणि सव्वाणि।
असुईणि अमेज्झाणि य, विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि ॥१०१०॥

भावार्थ :- मास, हाड, कफ, चरबी, रुधिर, चमडा, पित्त, आते, मूत्र, पीप आदि से भरी अपवित्र यह शरीररूपी कुटी अनेक दु ख और रोगो का स्थान है – ऐसा जान ।

अत्थ कामसरीरादिय पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जतो झायसु जह जहसि कलेवर असुइ ॥३५॥

भावार्थ :- द्रव्य, काम भोग, शरीरादि ये सब तेरे बिगाड करने वाले अशुभ है – ऐसा जानकर इनसे वैराग्यवान होकर, ऐसा आत्मध्यान कर, जिस से यह अपवित्र शरीर का सम्बन्ध सदा के लिये छूट जावे ।

मोत्तूण जिणक्खाद धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥३६॥

भावार्थ :- देव, असुर, तिर्यच नारकी व मानवो से भरे हुए इस लोक मे एक जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को छोडकर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तु नही है ।

इसी मूलाचार की अनागारभावना अधिकार मे कहते हैं –

रोगाण आयदण वाधिसदसमुच्छिद सरीरघर ।
धीरा खणमवि राग ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥७७॥

भावार्थ :- यह शरीर रूपी घर रोगो का भण्डार है । सैकडो आपत्तियो को व रोगों को झेलकर बना हुआ है । ऐसे शरीर मे धीर-वीर मुनि क्षणमात्र भी राग नही करते है ।

एवं सरीरमसुई णिच्च कलिकलुसभायणमचोक्खं ।
अंतोछाइद ढिड्ढिस खिब्भिसभरिद अमेज्झघरं ॥७८॥

भावार्थ :- यह शरीर महान अशुचि है, नित्य राग-द्वेष पैदा करने का कारण है, अशुभ वस्तुओ से बना है, चमडे से ढका है, भीतर पीप, रुधिर, मास, चरबी, वीर्य आदि से पूर्ण है तथा मल-मूत्र का भण्डार है ।

अट्ठिणिछण्ण णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं ।
मसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघर त सददमचोक्ख ॥८३॥

भावार्थ :-यह शरीर रूपी घर हड्डियो से बना है, नसो से बँधा है, मलमूत्रादि से भरा है, कीडो से पूर्ण है, मास से भरा है, चमडे से ढका है, यह तो सदा ही अपवित्र है ।

भावार्थ :— इस मनुष्य के देह मे एक-एक अगुल मे छियानवे-छियानवे रोग होते है, तब कहो, सर्व शरीर मे कितने-कितने रोग होगे ।

ते रोया विय सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे ।
एव सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ।।३८।।

भावार्थ :— हे महायश ! तूने पूर्व भवो मे उन रोगो को परवश हो सहा है, ऐसे ही फिर सहेगा, बहुत क्या कहे ?

पित्ततमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले ।
उयरे वसिओसि चिर नवदसमासेहि पत्तेंहि ।।३६।।

भावार्थ :—हे मुने ! तू ऐसे महान अपवित्र उदर मे नौ मास तथा दस मास वसा, जो उदर पित्त और आँतो से वेढा है, जहा मूत्र, फेफस, कलेजा, रुधिर, श्लेष्म और अनेक कीडे पाये जाते है ।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुम ।
असुई असिया बहुसो मुणिवर ! वालत्तपत्तेण ।।४१।।

भावार्थ :— हे मुनिवर ! तू वालपने के काल मे अज्ञान अवस्था मे अशुचि, अपवित्र स्थान मे अशुचि मे लोटा और बहुत वार अशुचि वस्तु भी खाई ।

मसट्ठिसुक्कसोणियपित्ततसवत्तकुणिमदुग्गंधम् ।
खरिसवसपूयखिब्भिस भरियं चितहि वेहउड ।।४२।।

भावार्थ :— हे मुने ! तू देहरूपी घडे को ऐसा विचार कि यह देहघट मास, हाड, वीर्य, रुधिर, पित्त, आतो से झडती मुरदे की सी दुर्गन्ध, अपक्व मल, चरबी, पीप आदि मलिन वस्तुओ से पूर्ण भरा है ।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार मे द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते हैं —

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो ।
मादूइसेभलालाइय तु तिव्वासुहं पिबदि ।।३३।।

भावार्थ :— अपवित्र मूत्र, मल, श्लेष्म, पित्त, रुधिरादि से घृणायुक्त गर्भ मे बसा हुआ, मास की झिल्ली से ढका हुआ, माता के कफ द्वारा पाला हुआ — यह जीव महान दुर्गंध रस को पीता है ।

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्तं तमुत्तकुणिपकुडि ।
बहुदुःक्खरोगभायण सरीरमसुभं वियाणाहि ।।३४।।

भावार्थ :– मास, हाड, कफ, चरबी, रुधिर, चमडा, पित्त, आते, मूत्र, पीप आदि से भरी अपवित्र यह शरीररूपी कुटी अनेक दु ख और रोगो का स्थान है – ऐसा जान ।

अत्थ कामसरीरादिय पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जतो झायसु जह जहसि कलेवर असुइं ॥३५॥

भावार्थ :– द्रव्य, काम भोग, शरीरादि ये सब तेरे बिगाड करने वाले अशुभ है – ऐसा जानकर इनसे वैराग्यवान होकर, ऐसा आत्मध्यान कर, जिस से यह अपवित्र शरीर का सम्बन्ध सदा के लिये छूट जावे ।

मोत्तूण जिणक्खाद धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ॥३६॥

भावार्थ :– देव, असुर, तिर्यच नारकी व मानवो से भरे हुए इस लोक मे एक जिनेन्द्र प्रणीत धर्म को छोडकर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तु नही है ।

इसी मूलाचार की अनागारभावना अधिकार मे कहते है –

रोगाण आयदण वाधिसदसमुच्छिद सरीरघर ।
धीरा खणमवि राग ण करेंति मुणी सरीरम्मि ॥७७॥

भावार्थ :– यह शरीर रूपी घर रोगो का भण्डार है । सैकडो आपत्तियो को व रोगो को झेलकर बना हुआ है । ऐसे शरीर मे धीर-वीर मुनि क्षणमात्र भी राग नही करते है ।

एवं सरीरमसुई णिच्च कलिकलुसभायणमचोक्ख ।
अतोछाइव ढिड्ढिस खिब्भिसभरिद अमेज्झघरं ॥७८॥

भावार्थ :– यह शरीर महान अशुचि है, नित्य राग-द्वेष पैदा करने का कारण है, अशुभ वस्तुओ से बना है, चमडे से ढका है, भीतर पीप, रुधिर, मास, चरबी, वीर्य आदि से पूर्ण है तथा मल-मूत्र का भण्डार है ।

अट्ठिणिछण्ण णालिणिबद्धं कलिमलभरिदं किमिउलपुण्ण ।
मसविलित्तं तयपडिछण्णं सरीरघर तं सददमचोक्ख ॥८३॥

भावार्थ :–यह शरीर रूपी घर हड्डियो से बना है, नसो से बँधा है, मलमूत्रादि से भरा है, कीडो से पूर्ण हे, मास से भरा है, चमडे से ढका है, यह तो सदा ही अपवित्र है ।

एदारिसे सरीरे दुग्गधे कुणिमपूदियमचोक्खे ।
सडणपडणे असारे राग ण करिंति सप्पुरिसा ॥८४॥

भावार्थ – ऐसे दुर्गंधित, पीपादि से भरे, अपवित्र सडने पडने वाले, सार रहित, इस शरीर मे सत्पुरुष राग नही करते है ।

श्री समतभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते है –

अजङ्गम जगमनेययन्त्र यथा तथा जीवधृत शरीरम् ।
बीभत्सु पूति क्षयि तापक च स्नेहो वृथात्रेति हित त्वमाख्य ॥३२॥

भावार्थ :– हे सुपार्श्वनाथ भगवन् ! आपने जगत के कल्याण के लिये यह उपदेश दिया है कि यह शरीर स्वय जड है, जीव द्वारा काम करता है, जैसे किसी स्थिर यत्र को कोई चलने-फिरने वाला प्राणी चलावे । तथा यह शरीर घृणायुक्त, अपवित्र, नाशवत व सताप उत्पन्न करने वाला है, इससे राग करना वृथा है ।

श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है –

देहस्स सुक्कसोणिय, असुईपरिणामकारण जह्मा ।
देहो वि होइ असुई, अमेज्झघदपूरओ व्व तदो ॥१००३॥

भावार्थ :– इस देह की उत्पत्ति का कारण महा अशुचि माता का रुधिर, पिता का वीर्य है । जैसे – मलिन घी से बनाया हुआ घेवर, सो भी मलिन होता है, वैसे अशुचि बीज से पैदा हुई देह भी अशुचि है ।

कललगद दसरत्त, अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं ।
थिरभूदं दसरत्त अच्छदि गब्भम्मि तं वीय ॥१००६॥
तत्तो मास वुब्वुदभूदं, अच्छदि पुणो वि घणभूदं ।
जायदि मासेण तदो, य मंसपेसी य मासेण ॥१००७॥
मासेण पंच पुलगा, तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण ।
अंगाणि उवंगाणि य, णरस्स जायति गब्भम्मि ॥१००८॥
मासम्मि सत्तमे तस्स, होदि चम्मणहरोमणीप्पत्ती ।
फुंदणमट्ठममासे णवमे दसमे य णिग्गमण ॥१००९॥
सव्वासु अवत्थसु वि, कललादीयाणि ताणि सव्वाणि ।
असुईणि अमेज्झाणि य, विहिंसणिज्जाणि णिच्चपि ॥१०१०॥

भावार्थ – गर्भ मे माता का रुधिर पिता के वीर्य से मिला हुआ दश रात्रि तक हिलता रहता है, फिर दश रात्रि काला होकर ठहरता है, फिर दश दिन मे थिर होता है, फिर दूसरे महीने मे बुदबुदा रूप होकर ठहरता है। तीसरे मास मे वह कठोर होकर ठहरता है। चौथे मास मे मास की डली होकर ठहरता है। पाचवे मास मे उस मास की डली मे पाच पुलक निकलते है – एक मस्तक का आकार, दो हाथो का व दो पगो का आकार। छठे मास मे मनुष्य के अग-उपाग प्रगट होते है। सातवे मास मे चाम, नख, रोम की उत्पत्ति होती है। आठवे मास मे गर्भ मे कुछ हिलता है। नवमे या दसवे मास मे गर्भ स निकलता है। ऐसे जिस दिन गर्भ मे माता का रज, पिता का वीर्य स्थित हुआ, उसी दिन से यह जीव महान मलिन दशा मे ही रहा।

कुणिमकुडी कुणिमेहि य, भरिदा कुणिम च सवदि सव्वत्तो।
भाण य अमिज्झमय, अमिज्झभरिदं सरीरमिण ॥१०२५॥

भावार्थ :– यह देह मलिन वस्तुओ की कुटी है व मलिन पदार्थो से ही भरी है व सर्व द्वारो से व शरीर के अग व उपागो से सडे दुर्गन्ध मल को नित्य बहाती है। जैसे मल से बना बर्तन मल ही से भरा हो, वैसा ही यह शरीर है।

अट्ठीणि होंति तिण्णि दु, सदाणि भरिदाणि कुणिममज्झाए।
सव्वम्मि चेव देहे सधीणि सवति तावदिया ॥१०२६॥
ण्हारूण णवसदाइ, सिरासदाणि हवति सत्त व।
देहम्मि मसपेसी-, ण होति पचेव य सदाणि ॥१०२७॥
चत्तारि सिराजाला-, णि होति सोलसयकंडराणि तहा।
छच्चे व सिराकुच्चा, देहे दो मसरज्जू य ॥१०२८॥
सत्त तयाओ काले-, जयाणि सत्तेव होति देहम्मि।
देहम्मि रोमकोडी-, ण होति असीदी सदसहस्सा ॥१०२९॥
पक्कामयासयत्था, य अतगंजाऊ सोलस हवति।
कुणिमस्स आसया स-त्त होति देहे मणुस्सस्स ॥१०३०॥
थूण उ तिण्णि देह-, म्मि होति सत्तत्तरं च मम्मसदं।
णव होति वणमुहाइं, णिच्चं कुणिमं सवंताई ॥१०३१॥
देहम्मि मत्थुलिंगं, अञ्जलिमित्त सयप्पमाणेण।
अञ्जलिमेत्तो मेदो, ओजो वि य तत्तिओ चेव ॥१०३२॥

तिण्णि य वसज्जलीओ, छच्चेव य अंजलीउ पित्तस्स।
सिंभो पित्तसमाणो, लोहिवमद्धाढयं हवदि ॥१०३३॥
मुत्तं आढयमेत्तं, उच्चारस्स य हवति छप्पत्था।
वीसं णहाणि दन्ता, बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०३४॥
किमिणो व वणो भरिदं, सरीरियं किमिकुलेहि वहुगेहिं।
सव्व देहं अपफुं-, दिऊण वावा ठिदा पच ॥१०३५॥
एव सव्वे देह-, म्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव।
एक्कं पि णत्थि अंग, पूय सुचिय च ज होज्ज ॥१०३६॥

भावार्थ :– इस देह मे सडी हुई मीजी से भरे तीन सौ हाड है, तीन सौ सधिया है, नवसौ (स्नायु) नसे हैं, सात सौ छोटी (सिरा) नसें है, पाचसौ मास की डली है, चार नसो के जाल है, सोलह कडरा है, छह सिरामूल हैं, दो मास की रस्सी है, सात त्वचा है, सात कलेजे हैं, अस्सी लाख करोड रोम है, वक्राशय व आमाशय मे तिष्ठती सोलह आतो की पप्टि है, सात मल के आश्रय है, तीन स्थूणी है, एक सौ सात मर्मस्थान है, नव मल निकलने के द्वार है, देह मे मस्तिष्क अपनी एक अजली प्रमाण है, एक अजली प्रमाण मेद धातु है। एक अजली प्रमाण वीर्य है, मास के भीतर चरवी या घी अपनी तीन अजली प्रमाण है, पित्त छह अजली प्रमाण है, कफ भी छह अजली प्रमाण है, रुधिर आध आढक प्रमाण है, मूत्र आध आढक प्रमाण है, आठ सेर का आढक होता है, मल छह सेर है, देह मे बीस नख है। बत्तीस दात है। यह प्रमाण सामान्य कहा है, विशेष हीन व अधिक भी होता है, देशकाल रोगादि के निमित्त से अनेक प्रकार होता है। सडे हुए घाव की तरह कीडो से भरा हुआ यह देह है, सर्व देह को व्यापकर पाच पवन हैं। ऐसे इस देह मे सर्व ही अग व उपाग : पुद्गल है। इस देह मे ऐसा एक भी अग नही है, जो पवित्र हो – सर्व अशुचि ही है।

जसि होज्ज मच्छियाप-, त्तसरिसिया तयाए णो पिहिदं।
को णाम कुणिमभरियं, सरीरमालध्दुमिच्छेज्ज ॥१०३७॥

भावार्थ – जो यह देह मक्खी के पर समान पतली त्वचा से ढका न हो तो इस मैल से भरे हुए शरीर को कौन स्पर्शना चाहेगा ?

परिवड्ढसव्वचम्मं, पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं।
सुट्ठु वि दयिद महिलं, दट्ठुं पिणरो ण इच्छेज्ज ॥१०३८॥

भावार्थ :– जो इस देह का सर्व चमडा जल जावे और सफेद शरीर निकल आवे और घावो से रस झडने लग जावे तो अपनी प्यारी स्त्री भी उसे देखना पसन्द न करेगी।

इंगालो धोवतो, ण हु सुज्झदि जहा पयत्तेण।
सव्वेहिं समुद्देहिं, सुज्झदि देहो ण धुव्वतो ॥१०४३॥

भावार्थ :– जैसे कोयला को सर्व समुद्र के जल से धोने पर भी उजला नही हो सकता, वैसे ही देह को बहुत जलादि से धोने पर भी भीतर से पसीना आदि मल ही निकलेगा।

सिण्हाणब्भगुव्व, – ट्टणेहि मुहदन्त अच्छिधुवणेहिं।
णिच्च पि धोवमाणो, वादि सदा पूदिय देहो ॥१०४४॥

भावार्थ :– स्नान तथा अतर, फुलेल, उबटना से धोने पर व मुख, दॉत नेत्रो के धोने पर व नित्य स्नानादि करने पर भी यह देह सदा दुर्गन्ध ही वमती है।

अन्तो वहिं च मज्झे, व कोइ सारो सरीरगे णत्थि।
एरंडगो व देहो, णिस्सारो सव्वहिं चेव ॥१०४६॥

भावार्थ :– जैसे एरण्ड की लकडी मे कुछ सार नही है, वैसे ही इस मनुष्य की देह मे भीतर-बाहर कुछ भी सार नही है।

-जदि दा रोगा एकम्मि, चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी।
सव्वम्मि चेव देहे, होवव्व कदिहि रोगेहिं ॥१०५३॥

पचेव य कोडीओ, अट्ठासट्ठि तहवे लक्खाइं।
णव णवदि च सहस्सा, पचसया होंति चुलसीदी ॥१०५४॥

भावार्थ :– जो एक नेत्र मे छियानवे रोग होते हैं, तो सम्पूर्ण देह मे कितने रोग होगे ? पाँच करोड, अडसठ लाख, निन्याणवे हजार, पाँच सौ चौरासी (५,६८,९९,५८४) रोग देह मे उपजने योग्य हैं।

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठति सारवंतस्स।
धणिदं पि सारवंत – स्स ठादि चिरसरीरमिमं ॥१०५६॥

भावार्थ :– काष्ठ व पत्थर की मूर्तियाँ सँवारी हुई बहुत काल ठहर सकती है, परन्तु यह मनुष्य की देह अत्यन्त सस्कार करते हुए भी बहुत देर नही ठहरती है।

श्री पूज्यपादस्वामी 'सर्वार्थसिद्धि' मे कहते है –

"शरीरमिदमत्यन्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचि सवंधितमवस्करवत् अशुचिभाजन त्वङ्मात्रप्रच्छादितम् अतिपूतिरसनिष्यन्दि स्रोतो बिलम् अगारवत् आत्मभाव आश्रितमपि आश्वेवापादयति स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वम् अपहर्तुमस्य।"

भावार्थ :– यह शरीर अत्यन्त अशुचि है। वीर्य और रुधिर की योनि मे अशुचि पदार्थों से बढा है। मलभाजन के समान अशुचि का बर्तन है। ऊपर से त्वचा से ढँका है। इसके द्वारो से अत्यन्त अपवित्र मल बहा करता है। जैसे अगार को हाथ मे लेने से हाथ जल जाता है, वैसे इस शरीर को अपना मानने से अपना शीघ्र ही घात होता है। स्नान, विलेपन, धूप, वस्त्र, मालादि कोई भी पदार्थ इस देह की अशुचिता दूर नही कर सकते है।

श्री पूज्यपादस्वामी 'इष्टोपदेश' मे कहते है —

भवति प्राप्य यत्सगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स काय संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ।।१८।।

भावार्थ :– यह शरीर निरन्तर क्षुधादि से पीडित रहता है व नाशवत है। इसकी सगति को पाकर पवित्र भोजन भी, वस्त्रादि पदार्थ भी अपवित्र हो जाते है। ऐसे नाशवत व अपवित्र शरीर के लिये धनादि की वाछा वृथा है।

श्री पूज्यपादस्वामी 'समाधिशतक' मे कहते है :—

मूलं ससारदु खस्य देह एवात्मधीस्तत।
त्यक्त्वैना प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रिय ।।१५।।

भावार्थ :– सर्व ससार के दु खो का मूल इस देह से राग करना है। इसलिये आत्मज्ञानी इससे राग छोडकर व इन्द्रियो को सकोचकर अपने आत्मा मे प्रवेश करते है।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति ।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

भावार्थ :– जो मूर्ख देह को आत्मा मान लेता है वह यह चाहा करता है कि शरीर सुन्दर बना रहे व मनोहर इन्द्रियो के पदार्थ सदा प्राप्त होते रहे । तत्त्वज्ञानी इस शरीर से छूटना ही चाहता है ।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥

जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं बुध्यते बुधः ॥६५॥

रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

भावार्थ – जैसे मोटे कपडो को पहनने पर भी कोई आपको मोटा नही मानता है, इसी तरह अपने शरीर को मोटा देखकर ज्ञानी अपने आत्मा को मोटा नही मानते हैं । पुराने कपडे देखकर कोई अपने को पुराना नही मानता है, इसी तरह बुद्धिमान अपने शरीर को पुराना देखकर आत्मा को पुराना नही मानते है । वस्त्रो का नाश होते जानकर कोई अपना नाश नही मानता है, वैसे ही देह को नाश होते देखकर बुद्धिमान अपना नाश नही मानते है वस्त्र को लाल देखकर कोई अपने को लाल नही मानता है, वैसे ही देह को लाल देखकर कोई बुद्धिमान अपनी आत्मा को लाल नही मानता है । शरीर से आत्मा भिन्न है ।

प्रविशद्गलितां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तममात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

भावार्थ :– समान आकार बना रहने पर भी इस शरीररूपी सेना के चक्र मे नए परमाणु मिलते है, पुराने झडते है, तो भी अज्ञानी इस शरीर को थिर मानकर अपना माना करता है ।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

भावार्थ :– ज्ञानी जानते है कि शरीर ही गोरा, मोटा, दुबला होता है, आत्मा नही । आत्मा तो मात्र सदा ज्ञानशरीर धारी है, वह पुद्गल नही, शरीर पुद्गल है ।

देहान्तरगतेर्बीज देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥

भावार्थ :– इस शरीर मे ही आत्मापने की भावना करना अन्य-अन्य देह प्राप्त करने का हेतु है तथा शरीर से भिन्न आत्मा मे ही आत्मापने की भावना करना इस शरीर से छूटने का उपाय है ।

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।
मित्रादिभिर्वियोग च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥

भावार्थ :– जो इस शरीर मे ही अपनेपन की गाढ बुद्धि रखते है, वे अपना नाश जानकर निरन्तर डरते रहते है कि कही पुत्र, मित्र आदि का वियोग न हो जाय, कही मेरा मरण न हो जाय ।

श्री गुणभद्राचार्य 'आत्मानुशासन' मे कहते है —

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटित नद्ध शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्त सुगुप्तं खलै ।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालयं ।
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीति वृथा मा कृथा ॥५९॥

भावार्थ :– हे निर्बुद्धि ! यह शरीररूप घर तेरे बदीघर के समान है, इससे वृथा प्रीति मत कर । यह शरीररूपी कैदखाना हड्डीरूपी मोटे पापाणो से गठा हुआ है, नसो के जालरूपी बधनो से वेढा हुआ है, चमडे से छाया हुआ है, रुधिर व मास से लिप्त है, इसे दुष्ट कर्मरूपी वैरी ने रचा है, इसमे आयु-कर्मरूपी गाढी वेडी है ।

दीप्तोभयाग्रवातारिवारूदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे बत सीदसि ॥६३॥

भावार्थ :– जैसे दोनो तरफ आग से जलते हुए एरड के काष्ठ के बीच मे प्राप्त कीडा महान दु खी होता है, वैसे जन्म तथा मरण से व्याप्त इस शरीर मे यह प्राणी कष्ट पाता है ।

उपायकोटिदूरक्ष्ये स्वतस्तत इतोन्यतः ।
सर्वतः पतनःप्राये काये कोऽय तवाग्रहः ॥६६॥

भावार्थ :– हे प्राणी ! तेरा इस शरीर मे कौनसा आग्रह है कि मै इसकी रक्षा कर लू गा, यह तो करोडो उपायो के करने से भी नही रहेगा । न आप ही रक्षा कर सकता है, न दूसरा कोई बचा सकता है, यह तो अवश्य पतनशील है ।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखेऽपि निवसन् ।
व्यरसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ॥
इमा दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेन च यतते ।
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महत. ॥६७॥

भावार्थ :– सर्व प्रकार अपवित्र और बहुत दु खो को देने वाले इस शरीर मे रहता हुआ यह मानव इस देह से विरक्त नही होता है, किन्तु अधिक प्रीति करता है तथापि ऐसा देखकर साधुजन सार उपदेश देकर इस प्राणी को शरीर से विरक्त करने का यत्न करते है । महान पुरुषो का अनुराग परहित मे रहा करता है ऐसा देखो । यह प्राणी शरीर के मोह से कष्ट पावेगा इसीलिये सत पुरुष शिक्षा देकर इसको आत्मज्ञान पर आरूढ करने का उद्यम करते हैं ।

इत्थ तथेति बहुना किमुदीरितेन भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।
एतावदेव कथित तव सकलय्य सर्वपदा पदमिद जनन जनानाम् ॥६८॥

भावार्थ :– 'ऐसा है, वैसा है'-ऐसा बहुत कहने से क्या ? हे जीव ! तूने इस ससार मे शरीर को वार-वार भोगा है और छोडा है । अब तुझे छोडा है । अब तुझे सकोच करके इतना ही कहा जाता है कि प्राणियो के लिये यह शरीर सर्व आपदाओ का स्थान है ।

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यंतमखिलं
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्य त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधी
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥१०५॥

भावार्थ :– ज्ञानी लोगो के लिये यह शरीर त्यागने योग्य है, क्योकि वे विचारते है कि यह सर्व शरीर गर्भ से लेकर मरण पर्यंन्त वृथा ही क्लेश, अप-

विचित्रता, भय, पराभव, पीप आदि से पूर्ण है। फिर जो इस शरीर के राग छोडने मे मुक्ति का लाभ हो तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इसको त्याग करने मे समर्थ न हो ?

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि, काक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानम्।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदा स्युर्मूल ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥
शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्कर नृणा विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

भावार्थ :– प्रथम ही शरीर की उत्पत्ति होती है, उस शरीर मे इन्द्रिया विषम विषयो को चाहती है, वे विषय भोग महानपने की हानि करते है, महाक्लेश के कारण है, भय के करने वाले हैं, पाप के उपजाने वाले है व निगोदादि कुयोनि के दायक है। इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूल कारण है। मूर्ख लोग कैसा न करने योग्य काम करते है, शरीर को पोषते है, विषयभोगो को सेवते है, उनको विवेक नही, वे विष पीकर जीना चाहते है।

माता जाति पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्राते जतोर्जरा मित्र तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

भावार्थ :– इस शरीर की उत्पत्ति तो माता है, मरण इसका पिता है, मानसिक शारीरिक दुःख इसके भाई है, अन्त मे जरा इसका मित्र है तो भी इस शरीर मे तेरी आशा है-यह बडा आश्चर्य है।

शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तोऽप्यात्मन् त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि।
मूर्त सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र किंवा न दूषयति धिग्धिगिद शरीरम् ॥२०२॥

भावार्थ :– हे चिदानन्द ! तू तो शुद्ध है, सर्व पदार्थो का ज्ञाता है, अमूर्तिक है तो भी इस जड शरीर ने तुझे अपवित्र कर दिया है। यह शरीर मूर्तिक है, सदा अपवित्र चेतना रहित है, यह तो केशर कर्पूरादि सुगन्ध वस्तुओ को भी दूषित कर देता है। इस शरीर को धिक्कार हो ! धिक्कार हो !!

हा हतोसितरा जन्तो येनास्मिस्तव सांतम्।
ज्ञान कायाऽशुचिज्ञान तत्त्याग. किल साहस ॥२०३॥

भावार्थ :– हाय हाय ! हे प्राणी ! तू अत्यन्त ठगाया गया, नष्ट भया, तू शरीर से ममत्व करके अति दुःखी भया। अब तू विचार, यह शरीर अशुचि

है, ऐसा जानना यही सच्चा ज्ञान है तथा इसका ममत्व तजना ही साहस का काम है ।

श्री अमितगति तत्त्वभावना मे कहते है :—

> सयोगेन दुरन्तकल्मषभुवा दुःखं न किं प्रापितो ।
> येन त्व भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिने ।।
>
> संगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मना ।
> किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम् ।।१७।।

भावार्थ :— जरा व मरण रूपी व्याघ्र समूह से भरे हुए इस ससार-वन मे महान पाप को उत्पन्न करने वाले इस शरीर के सयोग से ऐसा कौनसा दु ख है ? जो तूने प्राप्त नही किया है । अब तू अपने मन को निश्चल कर के ऐसा काम कर, जिससे तुझे स्वप्न मे भी इस दुष्ट शरीर का फिर सग न हो ।

> दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रिय. ।
> साध्यते सुखकारिणा यदि तदा संपद्यते का क्षति ।।
>
> निर्माल्येन विगर्हितेन सुखद रत्न यदि प्राप्यते ।
> लाभः केन न मन्यते वत तदा लोकस्थिति जानता ।।१८।।

भावार्थ :— यह शरीर तो दुर्गन्धमय अशुचि है । ऐसे शरीर से यदि स्वर्ग व मोक्ष देने वाली सुखकारी सम्पत्ति प्राप्त हो सके तो क्या हानि है ? उसके लिये यत्न करना ही चाहिये । यदि किसी निन्दनीक तुच्छ वस्तु के वदले मे सुखदाई रत्न प्राप्त हो सके तो लोक की मर्यादा को जानने वाले को लाभ क्यो न मानना चाहिये ?

> एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता ।
> गुर्वो दुःखपरपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते ।।
>
> तत्र स्थापयता विनष्टममतां विस्तारिणीं संपदम् ।
> का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम् ।।४३।।

भावार्थ :— इस शरीर के साथ रहते हुए मूढ आत्मा ने शरीर को स्थिर मानकर जो पाप कर्म किये है, उससे दु खो की परम्परा इसने उठाई है । यदि यह इस शरीर से ममता हटा ले तो ऐसी कौनसी सम्पत्ति है, जो इसको प्राप्त न हो सके ? क्या इन्द्र की, क्या चक्रवर्ती की, क्या नारायण की ?

> चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
> भावा. पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादय. ।।

तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषा भवन्ति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता ।।१२।।

भावार्थ :– अनेक प्रकार के उपायो से पालते रहने पर भी जहा इस आत्मा के साथ देह नही रह सकती-छूट जाती है, व पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जवाई, पिता आदि कैसे इसके साथी रह सकते है ? ये सब अपने-अपने कर्म के वश जाने वाले है, ऐसा जानकर बुद्धिमान को सदा आतमा के हित मे अपनी बुद्धि रखनी योग्य है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है --

सर्वदैव रुजाक्रान्त सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।
सर्वदा पतनप्राय देहिना देहपञ्जरम् ।।८।।

भावार्थ :-- इन जीवो का देह रूपी पिजरा सदा ही रोगो से व्याप्त सर्वथा अशुचि का घर व सदा ही पतनशील है ।

तैरेव फलमेतस्य गृहीत पुण्यकर्मभि. ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे ये. शरीर कदर्थितम् ।।९।।

भावार्थ :-- इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्होने ही लिया, जिन्होने ससार से विरक्त होकर अपने-अपने आत्मकल्याण के लिये ध्यानादि पवित्र कर्मों से इसे क्षीण किया ।

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ।।११।।

भावार्थ -- इस जगत मे ससार से उत्पन्न जो-जो दु ख जीवो को सहने पडते है, वे सब इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पडते है ।

कर्पूरकुंकुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि ससर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ।।१२।।

भावार्थ :-- कपूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर-सुन्दर पदार्थों को भी यह मनुष्यो का शरीर ससर्ग मात्र से मैला कर देता है ।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्
कुथितकुणपगधैः पूरित मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ।।१३।।

भावार्थ :– हे मूढ प्राणी ! इस ससार मे मनुष्यो का देह चर्म के परदे से ढका हुआ हाडो का पिजरा है । तथा बिगडी हुई राध की दुर्गन्ध से परिपूर्ण है । रोग रूपी सर्पों का घर है । काल के मुख मे बैठा हुआ है । ऐसा शरीर प्रीति करने योग्य कैसे हो सकता है ?

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते है –

दुर्गन्ध मलभाजन कुविधिना निष्पादित धातुभि-
रंग तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया ।
तस्याः किं मम वर्णनेन सतत किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्वत ॥६-८॥

भावार्थ :– यह शरीर दुर्गन्धमय है, विष्ठा, मूत्र, आदि मलो का घर है, अशुभ कर्म के उदय से मज्जा आदि धातुओ से बना है । तथापि मूढ जनो ने अपने स्वार्थ के लिये इच्छानुसार इसकी प्रशसा की है । परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशसा और निदा से क्या प्रयोजन ? क्योकि मै तो निश्चय से, शरीर और कर्म से उत्पन्न हुए रागादि विकारो से रहित शुद्ध चिद्रूप हू ।

देहोऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽह कृशोऽकृश. ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहद्विजोऽथवा ॥१०-२॥
अविद्वानप्यह विद्वान् निर्धनो धनवानह ।
इत्यादि चिंतन पुसामहंकारो निरुच्यते ॥१०-३॥ युग्म ॥

भावार्थ :– मै शरीर हूँ, मैं कर्मरूप हूँ, मैं मानव हूँ, मैं दुबला हूँ, मैं मोटा हूँ, मै गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मै विद्वान हूँ, मै निर्धन हूँ, मै धनवान हूँ इत्यादि मन मे विचार करना अहकार है । मूढ मानव इसी अहकार मे चूर रहते है ।

प बनारसीदास समयसार नाटक मे कहते हैं –

[सवैया तेईसा]

देह अचेतन प्रेत दरी रज, रेत भरी मल खेत की क्यारी ।
व्याधि की पोट अराधि की ओट उपाधि की जोट समाधि सो न्यारी ॥
रे जिय देह करे सुख हानि, इते पर तोहि तो लागत प्यारी ।
देह तो तोहि तजेगी निदान पै, तू ही तजे क्यो न देह की यारी ॥७६॥

[सवैया इकतीसा]

रेत की सी गढी किधो, मढी है मसान की सी,
अदर अन्धेरी जैसी कदरा है सैल की।
ऊपर की चमक दमक पटभूषन की,
धोखे लागे भली जैसी कली है कनैल की ॥
औगुन की ओडी, महा मोडी मोह की कनोडी,
माया की मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याही के स्नेह याकी सगति सो,
हो रही हमारी मति कोलू केसे बैल की ॥७८॥

ठौर-ठौर रक्त के कुण्ड कसनि के झुण्ड,
हाडनि सो भरी जैसे थरी है चुडैल की।
थोडे से धका के लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागद की पुरी कीधो चादर है चैल की ॥
सूचे भ्रम वानिठानि मूढनि सो पहिचानि,
करै सुख हानि अर खान बद फैल की।
ऐसी देह याही के सनेह याकी सगति सो,
हो रही हमारी मति कोलू केसे बैल की ॥७९॥

कोउ कूर कहे काया जीव दोउ एक पिड,
जब देह नसेगी तब ही जीव मरेगो।
छाया को सो छल किधो माया को सो परपच,
काया मे समाय फिर काया को न धरेगो ॥
सुधी कहे देह सो अव्यापक सदीव जीव,
समय पाइ परको ममत्व परिहरेगो।
अपने सुभाव आइ धारना धरा मे धाई,
आप मे मगन होके, आपा शुद्ध करेगो ॥८०॥

[सवैया तेईसा]

पण्डित द्यानतराय द्यानतविलास मे कहते हैं :–

बालकबाल खियालन खियाल जुवान सियान गुमान भुलाने ।
ये घरवार सबै परिवार शरीर सिगार निहार फुलाने ।।
वृद्ध भये तन रिद्ध गई खिदि सिद्ध व कामन पाट तुलाने ।
द्यानत काय अमोलक पाय न मोक्ष द्वार किवाड खुलाने ।।३८।।

पण्डित भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते है --

लाल वस्त्र पहरे सो देह तो न लाल होय,
लाल देह भये हस लाल तो न मानिये ।
वस्त्र के पुराना भये देह न पुरानी होय,
देह के पुराने जीव जीरन न जानिये ।।
वस्त्र के नाश कछू देह को न नाश होय,
देह के नाश हुए नाश न बखानिये ।
देह दर्व पुद्गल की चिदानद ज्ञानमई,
दोउ भिन्न-भिन्न रूप भैया उर आनिये ।।१०।।

[सवैया इकतीसा]

मास हाड लोहू सानि पूतरी बनाई काहू,
चाम सो लपेट तामे रोम केश लाए हैं ।
तामे मल मूत भरि क्रम कई कोटि धरे,
रोग सच करि-करि लोक मे ले आए है ।।
बोले वह खाउ-खाउ बिन दिये गिरि जाउ,
आगे को न धरु पाउ ताही वे लुभाए है ।
ऐसे मोह भ्रम मे अनादि के भ्रमाए जीव,
देखे परतक्ष तऊ चक्षु मानो छाए है ।।१४।।
चाम के शरीर माहि वसत लजात नाहि,
देखत अशुचि तऊ लीन होय तन मे ।
नारि बनी काहे की विचार कछू करे नाहि,
रीझ-रीझ मोह रहे चाम के बदन मे ।।

लक्ष्मी के काज महाराज पद छाडि देत,
डोलत है रक जैसे लोभ की लगन मे ।
तनकसी आउ मे उपाय कई कोउ करे,
जगत के वासी देख हासी आवे मन मे ।।७।।

अचेतन की देहरी न कीजे तासो नेहरी,
सु औगुन की गेहरी महान दु ख भरी है ।
याही के सनेह री न आवे कर्म छेहरी,
पावे दु ख तेहरी जिन याकी प्रीति करी है ।।

अनादि लगी जेहरी जु देखत ही खेहरी,
तू यामे कहा लेहरी रोगन की दरी है ।
काम गजकेहरी सु राग द्वेष केहरी तू तामे,
दृष्टि देयरी जो मिथ्यात हरी है ।।

देख देह खेत क्यारी ताकी ऐसी रीति न्यारी,
बोए कछू आन उपजत कछू आन है ।
पच अमृत रस सेती पोखिये शरीर नित,
उपजे रुधिर मास हाडनि को ठान है ।।

एते पर रहे नाहि कीजिये उपाय कोटि,
छिनक में विनशि जाय नाउ न निशान है ।
एतो देख मूरख उछाइ मन माहि धरे,
ऐसी झूठ बातनि को साच करि मान है ।।१०१।।

[सवैया तेईसा]

बालपने तब बालनि के सग खेलो है ताकी अनेक कथा रे ।
जोबन आय रमो रमनी रस सोऊ तो बात विदित जथा रे ।।
वृद्ध भवो तन कंपत डोलत, लारे परे मुख होत विथारे ।
देख शरीर के लच्छन भइया तू, चेतत क्यो नहि चेतन हारे ।।५२।।

तू ही जु आय वसो जननी उर, तू ही रम्यो नित बालक तारे ।
जोबन ता जु भई फुनि तोही को, ताहि के जोर अनेक ते मारे ।।

वृद्ध भयो तुही अग रहे सब, बोलत वैन कहे तु तरारे ।
देखि शरीर के लच्छन भइया तू, चेतत क्यो नहिं चेतनहारे ।।५३।।

[सवैया इकतीसा]

सात धातु मलिन है महा दुर्गन्धभरी,
तासो तुम प्रीति करी लहत आनद हो ।
नरक निगोद के सहाई जे करन पच,
तिनही की सीख सचि चलत सुछद हो ।।
आठो जाम गहे काम राग रस रग राचि,
करत किलोल मानो माते जो गयद हो ।
कछू तो विचार करो कहा कहा भूलि फिरो,
भले जु भले जु भैया भले चिदानद हो ।।४६।।

[सवैया तेईसा]

रे मन मूढ कहा तुम भूले हो, हस विचार लगै पर छाया ।
या मे सरूप नही कछु तेरो जु, व्याधि की खोट बनाई है काया ।।
सम्यक रूप सदा गुन तेरो है, और बनी सब ही भ्रम माया ।
देख तू रूप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनद बताया ।।४७।।
चेतन जीव निहार हु अतर, ये सब है पर की जड काया ।
इन्द्र समान जो मेघ घटा महि, शोभित है पै रहे नहिं छाया ।।
रैन समै सुपनो जिम देखि तु, प्रात भये सब झूठ बनाया ।
त्यो नदि नाव सजोग मिल्यो सब, चेतो चित्त जु चेतन राया ।।४८।।
देह के नेह लग्यो कहा चेतन, न्यारिय को अपनी करि मानी ।
याही सो रीझ अज्ञान मे मानिके, याही मे आपके तू हो रहो थानी ।।
देखत है परतक्ष विनाशी, तऊ अनचेतन अन्ध अज्ञानी ।
होहु सुखो अपनो बल फोरि के, मानि कह्यो सर्वज्ञ की बानी ।।४९।।
वे दिन क्यो न विचारत चेतन, मात की कूंख मे आय बसे है ।
ऊरध पाउँ लगे निशिवासर, रच उसासनु को तरसे हैं ।।
आज भये तुम जोबन के रस, भूलि गए कित तैं निकसे है ।
आउ सजोग बचे कहुँ जीवित अरु, लोगन की तब दिष्टि लसे हैं ।।३२।।

तीसरा अध्याय

भोगों का स्वरूप

जैसे ससार असार है, शरीर अशुचि है, वैसे ही इन्द्रियों के भोग अतृप्तिकारी, अथिर और तृष्णा के बढाने वाले है। इनके भोगने से किसी को भी तृप्ति नही हो सकती है। जैसे जलरहित वन मे मृग प्यासा होता है, वहाँ जल तो है नही, परन्तु दूर से उसको चमकती घास मे या बालू मे जल का भ्रम हो जाता है। वह जल समझकर जाता है, परन्तु वहाँ जल को न पाकर अधिक प्यासा हो जाता है। फिर दूर से देखता है तो दूसरी तरफ जल के भ्रम से जाता है, वहाँ पर भी जल न पाकर और अधिक प्यासा हो जाता है। इस तरह बहुत बार भ्रम मे भटकते रहने पर भी उसको जल नही मिलता है। अन्त मे वह प्यास की बाधा से तडफ-तडफ कर प्राण दे देता है।

यही हाल हम ससारी प्राणियो का है, हम सब सुख चाहते है, निराकुलता चाहते है। भ्रम यह हो रहा है कि इन्द्रियो के भोग करने से सुख मिल जायगा, तृप्ति हो जायगी। इसलिये यह प्राणी कभी स्पर्शनेन्द्रिय के भोग के लिये स्त्री सम्बन्ध करता है, कोमल पदार्थों को स्पर्श करता है, कभी रसना इन्द्रिय के भोग के लिये इच्छित पदाथो को खाता है, कभी घ्राण इन्द्रिय के भोग के लिये अतर, फुलेल, पुष्पादि सूघता है, कभी चक्षु इन्द्रिय के भोग के लिये रमणीक चेतन-अचेतन पदार्थों को देखता है, कभी कर्णेन्द्रिय के भोग के लिये मनोहर गानादि सुनता है। इस तरह पाचो इन्द्रियो का भोग बार-बार करता है, परन्तु तृप्ति नही पाता है।

जैसे खाज को खुजाने से और खाज का कष्ट बढ जाता है, वैसे इन्द्रिय भोगो को जितना किया जाता है उतनी ही अधिक तृष्णा बढ जाती है। तृष्णा ही क्लेश है, बाधा है, चिंता का कारण है। यदि किसी को स्त्री का भोग एकबार हुआ है तो वह बार-बार भोगना चाहता है। शक्ति न होने पर

कष्ट पाता है या स्त्री की इच्छा न होने पर दुःख भोगता है। यदि कोई मिठाई खाई है तो उससे बढिया मिठाई खाने की बार-बार इच्छा होती है, यदि नही मिलती है तो बडा दु ख मानता है, यदि मिल जाती है तो अधिक इच्छा बढ जाती है। यदि किसी ने किसी सुगध को सू घा है तो उससे बढिया सुगध के सू घने की इच्छा हो जाती है, नही मिलती है तो बडा दु ख पाता है, यदि मिल जाती है तो और अधिक तृष्णा बढ जाती है।

यदि किसी ने किसी तमाशे को देखा है तो इससे बढिया तमाशा देखने की इच्छा हो जाती है, यदि नही मिलता है तो कष्ट पाता है, यदि मिल जाता है तो अधिक तृष्णा बढा लेता है। यदि कोई मनोहर गाना सुना है तो उससे बढिया सुनना चाहता है। यदि नही मिलता है तो दु ख मानता है, यदि मिल जाता है तो इच्छा को अधिक बढा लेता है। बहुत से प्राणियो को इच्छानुसार भोग नही मिलते हैं, चाहते वे कुछ है, मिलते कुछ है, तब वे बहुत दु खी होते है। किसी के यहा निमन्त्रण था, जाने वाले ने यह इच्छा की, वहा बढिया मिठाइयाँ मिलेगी, परन्तु वहा ऐसा भोजन था, जो वह रोज खाता था उससे भी घटिया था। बस, इच्छानुसार न पाकर वह मनमे बहुत क्लेश मानता है। जिनको इच्छानुसार मिल जाता है उनकी तृष्णा बढ जाती है। मनुष्य का शरीर तो पुराना पडता जाता है, इन्द्रियो की शक्ति घटती जाती है, परन्तु भोगो की तृष्णा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढती जातो है।

जब यह प्राणी तृष्णा होते हुए भोगो को असमर्थता के कारण भोग नही सकता है तो इसे बडा दु ख होता है। वृद्धो से पूछा जावे कि जन्म भर तक आपने इन्द्रियो के भोग भोगे, इनसे अब तो तृप्ति हो गई होगी ? तब वे वृद्ध यदि सम्यग्दृष्टि आत्मज्ञानी नही है, मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है तो यही जबाव देंगे कि यद्यपि विषयो के भोग की शक्ति नही है।

शरीर निर्बल है, दात गिर गए हैं, आखो से दिखता नही, कानों से सुनाई नही देता, हाथ-पगो मे बहुत देर खडे होने की व बहुत देर बैठने की शक्ति नही रही है, तथापि पाचो इन्द्रियो के भोग की तृष्णा तो पहले से बहुत बढी हुई है। यह वस्तु का स्वभाव है कि इन्द्रियो के भोगो से तृष्णा

बढती ही जाती है, कभी तृप्ति नही होती है। यह जीव अविनाशी है, अनादि अनन्त है। चारो गतियो मे भ्रमण करते हुए इसने अनन्त जन्म कभी एकेन्द्रिय के, कभी द्वेन्द्रिय के, कभी तेंद्रिय के, कभी चौन्द्रिय के, कभी पचेन्द्रिय के, पशु के, मानव के, देव के, नारकी के धारण किये है। तथा नरक के सिवाय तीन गतियो मे यथासभव पाचो इन्द्रियो के भोग भी भोगे है, परन्तु आज तक इस मानव की एक भी इन्द्रिय की तृष्णा शात नही हुई।

इन इन्द्रियो के भोगो मे दूसरे पदार्थो की आवश्यकता होती है। यदि वे भोग्य पदार्थ नष्ट हो जाते है, उनका वियोग हो जाता है तो इस प्राणी को बडा भारी कष्ट होता है। कभी प्रिय स्त्री का वियोग हो जाता है, तब यह गृहस्थी के सब आराम से छूट जाता है। कभी प्रिय पुत्र का, कभी प्रिय पुत्री का, कभी हितकारिणी माता का, कभी पिता का, कभी प्रेमपात्र मित्र का, कभी आज्ञाकारी सेवक का, कभी आजीविका देने वाले स्वामी का वियोग हो जाता है, तब बडा भारी कष्ट होता है। कभी धन की हानि हो जाती है, तब इन्द्रियो के भोग योग्य मनवाछित पदार्थ सग्रह नही कर सकता, इसलिए बडा ही दुखी होता है।

इन्द्रियो के भोगो को भोगते-भोगते तृष्णा को बढाते हुए कदाचित् अपना मरण आ जाता है, तब सर्व भोगो के चेतन अचेतन पदार्थो के छूट जाने का बडा भारी शोक करता है, रोता है, तडफता है। इन इन्द्रियो के भोगो मे रात-दिन मगन रहते हुए, यह ऐसा भोग्य पदार्थो मे मोही हो जाता है कि इसे धर्म की चर्चा बिलकुल नही सुहाती है। सवेरे से ही शरीर की सेवा मे लग जाता है। दिनभर धन कमाता है, रात को थककर सो जाता है। तृष्णा की अधिकता से बहुत मनोहर पदार्थो को भोगना चाहता है। जब न्याय से धन नही आता है, तब अन्याय पर कमर कस लेता है। असत्य बोलकर, विश्वासघातकर, चोरी कर, किसी के प्राण तक लेकर धन का सचय करता है। उसके भीतर से दया व प्रेम चले जाते है, परम प्रेमी मित्र को भी अवसर पाकर ठग लेता है। अधिक धन पाने की लालसा से जुआ खेलने लग जाता है। जुए मे धन हारता है, तब चोरी करने लगता है।

कुसगति मे पडकर मदिरापान, मासाहार की आदत डाल लेता है। स्व-स्त्री में सतोष न पाकर वेश्याओ मे या पर-स्त्रियो मे आसक्त हो जाता है। भोगो की तृष्णावश घोर से घोर पाप कर्म करने लगता है, अनाथ विधवाओ का धन छीन लेता है, झूठा मुकदमा बनाकर धन लेने का उपाय करता है। यदि राज्य विरुद्ध काम करने पर कभी दण्ड पाता है तो कारावास मे जाकर अपनी सब प्रतिष्ठा गवा देता है। सर्व ससार के दु खो का मूल भोगो की तृष्णा है– घोर पापो से मरकर कुगति मे जन्म पाता है, मनुष्य से एकेन्द्रिय तक हो जाता है।

यदि विचार कर देखा जावे तो ससार के सर्व ही मिथ्यादृष्टि प्राणी इन्द्रियो के भोगो की लोलुपता से रात-दिन आकुल-व्याकुल व प्रयत्नशील बने रहते हैं। पिपीलिकाएँ इसी तृष्णावश बहुत-सा दाना एकत्र करती है, मक्खिया मधु को एकत्र करती है, पतगे चक्षु इन्द्रिय के रागवश दीपक की लौ मे जलकर प्राण गवाते है, भ्रमर नासिका इन्द्रिय के वश हो कमल के भीतर दबकर मर जाते हैं, मछलियाँ रसना इन्द्रिय के वश हो जाल मे फसकर तडफ-तडफ कर प्राण गवाती है, हस्ती स्पर्शन इन्द्रिय के वश हो पकड लिये जाते है। मृग कर्ण इन्द्रिय के वश हो जाल मे घिरकर पराधीन हो जाते है। इन इन्द्रियो की तृष्णा के वशीभूत होकर यह प्राणी बिलकुल अन्धा हो जाता है। अनन्त जन्म बीत गए हैं, इसने इसी अन्ध भाव मे जन्म गवाया और अब गवाँ रहा है।

इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नही है, माना हुआ है। जो जिसमे सुख मान लेता है, उसको उसी मे सुख भासता है। यह पराधीनता है, दूसरे पदार्थो के सयोग के बिना इन्द्रिय सुख नही होता। उनका समागम होने के लिये बहुत सा उद्यम करके कष्ट सहना पडता है तो भी यदि पुण्यकर्म की अतरङ्ग मदद न हो तो उद्यम करते हुए भी इच्छित पदार्थ का लाभ नही होता है जगत मे बहुत कम ऐसे पुण्यात्मा हैं जिनको चाहे हुए पदार्थ मिले, बहुधा इसी दु ख से पीडित रहते हैं कि चाहते तो थे कि स्त्री आज्ञाकारिणी होगी, परन्तु वह ऐसी नही निकली, चाहते तो थे कि पुत्र सुपुत्र, आज्ञाकारी होगे, परन्तु ये तो कुपुत्र निकल गये, चाहते तो थे कि यहाँ आने से दु ख घटेगा, उल्टा दु ख बढ गया

है । चाहते तो थे कि मुनीम सच्चा मिलेगा, परन्तु यह तो स्वार्थी व हानिकारक निकल गया ।

यदि इच्छानुसार पदार्थ मिल भी जाते है तो सदा बने नही रहते, उनका वियोग हो जाता है, तब फिर बड़ा कष्ट होता है । पाचो इन्द्रियो के भोगो की तृष्णा इतनी सताती है कि इच्छा होती है कि इन सबका सुख एक साथ भोग लूं, परन्तु ऐसा कर नही सकता । एक इन्द्रिय से ही एक काल मे एक ही विषयभोग हो सकता है । तब यह एक को छोड दूसरे मे, दूसरे को छोड तीसरे मे इस तरह आकुलता से भोगता फिरता है, परन्तु तृप्ति किसी भी तरह मिलती नही है । इन्द्रिय सुख की मग्नता से बहुधा प्राणी शक्ति से या मर्यादा से अधिक भोग कर लेते है, तब शरीर बिगड जाता है, रोग पैदा हो जाता है । रोगी होने पर सब विषयभोग छूट जाते है । इन भोगो मे वे चक्रवर्ती सम्राट भी तृप्ति नहीं पाते, जिनको अधिक पुण्यात्मा होने के कारण पाचो इन्द्रियो के भोग की सामग्री मनवाछित प्राप्त हो जाती है । बड़े-बड़े देव बड़े पुण्यात्मा होते है, इच्छित भोग प्राप्त करते है व दीर्घकाल तक भोग करते है तो भी तृप्ति नही पाते है, मरण समय उनके छूटने का घोर क्लेश भोगते है ।

इन्द्रियो के भोग जब अतृप्तिकारी है, तृष्णावर्धक है, व अथिर नाशवन्त है, तब यह प्राणी क्यो उनकी इच्छा नही छोडता है ? इसका कारण यही है कि इसके पास दूसरा उपाय नही है, जिससे यह इच्छा को तृप्त कर सके । यदि इसको सच्चा सुख मालूम होता व सच्चे सुख का पता मालूम होता तो यह अवश्य झूठे इन्द्रिय सुख की तृष्णा छोड देता । मिथ्यादर्शन के कारण इसकी अहं बुद्धि अपने इस नाशवत शरीर मे ही हो रही है । इसको अपने आत्मा का पता नहीं है, न इसको अपने आत्मा के स्वरूप का विश्वास है । सच्चा सुख आत्मा मे है, जिसको अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह सच्चे सुख को पहचान लेता है । सच्चा सुख क्या है ? यह आगे बताया जायगा ।

यहा प्रश्न हो सकता है कि जब इन्द्रियो के भोग करने से झूठा सुख होता है, जो अधिक तृष्णारूपी रोग को बढाता है तो फिर इन इन्द्रियो से क्या काम लेना चाहिये ? ज्ञानी को यह विश्वास पक्का कर लेना चाहिये कि

इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नही है, यह सुखाभास है, सुखसा झलकता है, अतएव सुख की प्राप्ति के लिये इन इन्द्रियो का भोग करना अज्ञान है, तब फिर इन्द्रियो से क्या काम लेना चाहिये ? शरीर धर्म का साधन है, शरीर की रक्षा के लिये व शरीर की रक्षार्थ न्यायपूर्वक धन कमाने के लिये तथा धर्म के साधनो को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियो से काम लेना चाहिये ।

स्पर्शनेद्रिय से पदार्थो को स्पर्श कर उनके गुण-दोष मालूम करने चाहिये कि यह पदार्थ ठडा है या गर्म है, चिकना है या रूखा है, कोमल है या कठोर है, हलका है या भारी है । गृहस्थी को सतान की आवश्यकता होती है । इस-लिये स्वस्त्री मे इसका उपयोग सतान के लाभ के लिये लेना योग्य है, कभी शरीर मे उष्णता बढ जाती है तब उसकी शाति के लिये भी स्वस्त्री मे उसका उपयोग किया जा सकता है । विषयभोग के हेतु से यदि स्पर्शनेद्रिय का भोग होगा तो तृष्णा बढ जायगी स्वस्त्री मे भी मर्यादा से अधिक प्रवर्तेगा तो आप भी रोगी व निर्बल होगा व स्त्री भी रोगी व निर्बल होगी तथा तृष्णा की अधिकता से स्वस्त्री को रमने योग्य न पाकर परस्त्री व वेश्या मे रमन करने लग जायगा ।

रसना इन्द्रिय से उन ही पदार्थो को खाना-पीना योग्य है, जिनसे शरीर का स्वास्थ्य ठीक बना रहे, शरीर सबल रहकर कर्तव्य कर्म को पालन कर सके । इन्द्रियो का उपयोग यदि शरीर रक्षार्थ होगा तब तो इस इन्द्रिय का सदुपयोग है । यदि भोगार्थ उपयोग होगा तो यह प्राणी लोलुप हो जायगा । शरीर के लिये हानिकारक पदार्थ भी खाने पीने लग जायगा, भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक छोड बैठेगा । जिसका कुफल यह होगा कि रस के स्वाद की गृद्धता बढ जायगी तथा रोगो मे ग्रसित हो जायगा । रसना इन्द्रियवाले के ही वचन बोलने की शक्ति होती है । उन वचनो का सदुपयोग आत्मकल्याण व परोपकार मे व आवश्यक शरीर रक्षा व उसके साधनो के लिये करना योग्य है । वचनो का दुरुपयोग असत्य, गाली, असभ्य विकथाओ के कहने से होता है । यदि इनकी आदत हो जाती है तो इन कुत्सित बातो के कहने की तृष्णा बढ जाती है ।

घ्राण इन्द्रिय का उपयोग शरीर रक्षार्थ सुगन्ध व दुर्गन्ध को पहचानना

है । हवा, पानी, भोजन स्थान स्वास्थ्य को लाभकारी है या अलाभकारी है ऐसा जानना है ।

चक्षु इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके साधनो के लिये पदार्थो को देखना है । धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये शास्त्रो को व उत्तमोत्तम पुस्तको को पढना है अथवा ज्ञान की वृद्धि हेतु उपयोगी स्थानो व पदार्थो को देखना है ।

कर्ण इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके रक्षार्थ साधनो के मिलाने के लिये वार्तालाप सुनना है तथा धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये उत्तम उपदेशो को सुनना है ।

इस तरह ये पाचा इन्द्रियाँ उपयोगी है, बशर्ते इनसे योग्य काम लिया जावे । विषय भोग की तृष्णावश इनका उपयोग न करके आवश्यक कार्यो के लिये इनका उपयोग करना योग्य है, तब ये मानव की उन्नति मे सहायक हो जाती है । यदि भोगो की तृष्णावश इनका उपयोग होता है तो तृष्णा को बढाकर, क्लेश को बढाकर रोग को पैदाकर प्राणी को इस लोक मे भी आकुलित कर देती है व परलोक मे भी इनकी तृष्णा से बहुत कटुक फल भोगना पडता है । ज्ञानी बुद्धिमान वही है, जो इन इन्द्रियो का सच्चा उपयोग करके इस जीवन मे भी लौकिक व पारलौकिक उन्नति करता है व भविष्य मे भी मिष्ट फल भोगता है ।

इन्द्रियो के भोग रोग के समान है, असार है । जैसे केले के खम्भे को छीला जावे तो कही भी गूदा या सार नही मिलेगा, वैसे इन्द्रियो के भोगो से कभी भी कोई सार फल नही निकलता है । इन्द्रियो के भोगो की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढती है, हिसात्मक भाव हो जाते है, धर्मभाव से च्युति हो जाती है, अतएव पापकर्म का भी बध होता है ।

पाप के उदय का यह फल होता है कि चक्रवर्ती सातवे नर्क मे चला जाता है । एक धनिक मरकर सर्प हो जाता है, श्वान हो जाता है, एकेन्द्रिय वृक्ष हो जाता है ऐसी नीच गति मे पहुँच जाता है कि फिर उन्नति करके मानव होना बहुत

ही कठिन हो जाता है। इसलिये इन्द्रियो के सुख को सुख मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है, भूल है, अज्ञान है, धोखा है। बुद्धिमान को उचित है कि इन्द्रिय-सुखो की श्रद्धा को छोडे, इनकी लोलुपता छोडे, इनमे अन्धापन छोडे, जो इन ही के दास हो जाते है, वे अपनी सच्ची उन्नति नही कर सकते है। वे इन्द्रियो की इच्छानुसार वर्तते हुए कुमार्गगामी हो जाते है। हितकारी व उचित विषय-भोग करना, अहितकारी व अनुचित विषयभोग न करना इसका विवेक अपने भावो से निकल जाता है।

इन्द्रियो के दासत्व मे ऐसे अन्धे हो जाते है कि वे धर्म, अर्थ, काम तीनो गृहस्थ के पुरुषार्थों के साधन मे कायर, असमर्थ व दीन हो जाते है। चाह की दाह मे जलते रहकर शरीर को रोगाक्रात, रुधिरक्षय, दुर्बल बनाकर शीघ्र ही इसको त्यागकर चले जाते है। जिस मानव जन्म से आत्मकल्याण करना या परोपकार करना था, उसको उसी तरह वृथा गवॉ देते हैं, जैसे कोई अमृत के घडे को पीने के काम मे न लेकर पग धोने मे वहा दे, अगर चदन के वन को ईधन समझकर जला डाले, आम के वृक्षो को उखाडकर बबूल बो देवे, हाथ का रत्न काक के उडाने के लिये फेंक देवे, हाथी पाकर भी उस पर लकडी ढोवे, राजपुत्र होकर के भी एक मदिरावाले की दुकान मे नौकरी करे।

हर एक मानव को उचित है कि वह अपनी पाचो इन्द्रियो को और मन को अपने आधीन उसी तरह रखे, जैसे मालिक घोडो को अपने आधीन रखता है। वह जहा चाहे वहा उनको ले जाता है। उनकी लगाम उसके हाथ मे रहती है। यदि वह घोडो के आधीन हो जाता है तो वह घोडो से अपना काम नही ले सकता है। जो इन्द्रियो को और मन को अपने आधीन रख सकते है, वे इनकी सहायता से चमत्कार युक्त उन्नति कर सकते है। जो इनके दास हो जाते है, वे भव-भव मे दुखो को पाते है। अतएव इन्द्रिय भोगो को असार जानकर सच्चे सुख का प्रेमी होना योग्य है।

इन भोगो के सम्बन्ध मे जैनाचार्य क्या कहते है सो नीचे लिखे वाक्यो से जानना योग्य है।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है —

वर भवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं ।
मादुपिदुसजणभिच्चसबंधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥

भावार्थ :– बडे २ महल, सवारी, पालकी, शय्या, आसन जो इन्द्र व चक्रवर्तियो के होते है तथा माता, पिता, चाचा, सज्जन सेवक आदि के सब सम्बन्ध अथिर है ।

सामग्गिदियरूव आरोग्गं जोवण बल तेजं ।
सोहग्ग लावण्ण सुरधणुमिव सस्सय ण हवे ।।४।।

भावार्थ :– सर्व इन्द्रियो का रूप, आरोग्य, जवानी, बल, तेज, सौभाग्य सुन्दरता ये सब इन्द्रधनुष के समान चचल है ।

जीवणिबद्धं देह खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्घ ।
भोगोपभोगकारणदव्व णिच्च कह होदि ।।६।।

भावार्थ :– जिस शरीर के साथ जीव का सम्बन्ध दूध जल के समान है वही जब शीघ्र नाश हो जाता है, तब भोग व उपभोग के साधन जो चेतन व अचेतन द्रव्य है वे थिर कैसे हो सकते है ?

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते है –

मणुआऽसुरामरिंदा, अहिद्दुआ इ दिएहिं सहजेहिं ।
असहंता तं दुक्खं, रमति विसएसु रम्मेसु ।।६३।।

भावार्थ :– चक्रवर्ती राजा धरणेन्द्र व स्वर्ग के इन्द्र आदि अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुई इन्द्रियो की पीडा से घवडाये हुए – उस इन्द्रिय भोग की चाह रूपी दु ख को सहन करने को असमर्थ होकर भ्रम से रमणीक इन्द्रियो के पदार्थों को भोगते है परन्तु तृप्ति नही पाते है ।

जेंसि विसयेसु रदी, तेंसि दुक्ख वियाण सब्भाव ।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावरो णत्थि विसयत्थ ।।६४।।

भावार्थ :– जिन प्राणियो की इन्द्रियो के भोगो मे रति है उनको स्वभाव से ही दुःख जानो क्योकि यदि स्वभाव से पीडा या आकुलता या चाह की दाह न हो तो कोई इन्द्रियो के भोगो मे नही प्रवर्ते । तृष्णा की बाधा से भ्रम मे भूलकर मेरी तृष्णा मिट जायेगी, ऐसा समझकर विषयो मे प्रवर्तता है परन्तु तृष्णा तो मिटती नही ।

सोक्ख सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसयेसु रम्मेसु ।।७५।।

भावार्थ :– देवो को भी आत्मा के स्वभाव से उत्पन्न सहज आत्मिक सुख का लाभ नही होता इसीलिये सच्चे सुख को न पाकर शरीर की पीडा से घबडाये हुए कि हमारी बाधा मिट जायेगी, रमणीक विषयो मे रमते है परन्तु तृष्णा को शमन नही कर सकते ।

ते पुण उदिण्णतण्हा, दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुहवंति या आमरण दुक्खसंतत्ता ॥७९॥

भावार्थ :– ससारी प्राणी तृष्णा के वशीभूत होकर तृष्णा की दाह से दु खी होते हुए इन्द्रियो के भोगो के सुख को बारबार चाहते है और भोगते हैं। मरण पर्यन्त ऐसा करते है, तथापि दु ख से सतापित ही रहते हैं । इन्द्रियो के भोग से चाह की दाह मिटती नही, यहॉ तक कि मरण हो जाता है । जैसे – जोक विकारी खून को तृष्णावश पीती ही रहती है, सतोष नही पाती है, यहॉ तक कि उसका मरण हो जाता है ।

सपर बधासहिद विच्छिण्णं बध कारणं विसमं ।
ज इंदिएहिं लद्धं त सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥८०॥

भावार्थ :– जो पॉचो इन्द्रियो के भोगो से सुख होता है वह सुख नही है किन्तु दु ख ही है क्योकि एक तो वह पराधीन है, अपनी इन्द्रियो मे भोगने योग्य शक्ति हो व पुण्य के उदय से इच्छित पदार्थ मिले तब कही होता है, स्वाधीन नही है । दूसरे क्षुधा, तृषा आदि रोगादि की बाधा सहित है, बीच मे विघ्न आ जाता है । तीसरे विनाशीक है, भोग्य पदार्थ बिजली के चमत्कारवत् नष्ट हो जाते है या आप जल बुदबुद के समान शरीर छोड देता है । चौथे कर्म बध के कारण हैं क्योकि राग भाव बिना इन्द्रियो के भोग होते है । जहॉ राग है वहा बन्ध है, पाचवे विषम हैं – चचल है, एक सा सुख नही होता है तथा समताभाव को बिगाडने वाले है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते हैं –

ताव ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाण ॥६६॥

भावार्थ :– जब तक यह आत्मा इन्द्रियो के विषयभोगो मे आसक्त होकर प्रवृत्ति करता है तब तक आत्मा का ज्ञान नही हो सकता । जो योगी इन विषयभोगो से विरक्त है वही आत्मा को यथार्थ पहचान सकता है ।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्ठा।
हिंडति चाउरंग विसयेसु विमोहिया मूढा ।।६७।।

भावार्थ :– कोई मानव शास्त्र द्वारा अनुभवपूर्वक आत्मा को नही जानकर भी अपने स्वभाव की भावना से भ्रष्ट होते हुए, मूढबुद्धि रखते हुए इन्द्रियो के विषय-भोगो मे मोहित होकर चारो गतियो मे भ्रमण किया करते है।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छडति चाउरग तवगुणजुत्ता ण सदेहो ।।६८।।

भावार्थ :– परन्तु जो कोई इन्द्रियो के असार भोगो से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसकी भावना तप व मुनियो के मूलगुणादि के साथ करते है वे अवश्य चार गतिरूपी ससार को छेद डालते है इसमे सदेह नही।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य शीलपाहुड मे कहते है –

वारि एक्कम्मि यजम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो।
विसयविसपरिहया ण भमंति संसारकातारे ।।२२।।

भावार्थ :– यदि कोई प्राणी विष खा ले तो उसकी वेदना से वह एक ही जन्म मे कष्ट से मरेगा। परन्तु जिन प्राणियो ने इन्द्रियो के भोग रूपी विष को खाया है वे इस ससार वन मे बार-बार भ्रमते फिरते है, बार-बार मरते हैं।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं।
देवेसु वि दोहग्ग लहति विसयासता जीवा ।।२३।।

भावार्थ :– जो जीव विषय भोगो मे आसक्त है वे नरक मे घोर वेदनाओ को, पशु व मानव गति मे दु खो को व देवगति मे दुर्भाग्य को प्राप्त करते है।

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरागेहिं।
त छिंदति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ।।२७।।

भावार्थ :– इस आत्मा ने जो कर्मो की गाठ इन्द्रिय भोगो मे राग करने से बाधी है, उसको कृतार्थ पुरुष तप, सयम, शीलादि गुणो से स्वय छेद डालते हैं।

(५) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है –

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ।।३२।।

भावार्थ :— इन्द्रिय सम्बन्धी काम भोग बडी कठिनता से व परिश्रम से मिलते हैं। उनके छूटने का भय भरा रहता है, बहुत थोडे काल टिकने वाले है, असार है तथा कर्मबध कारक दु खरूपी फल को देने वाले है। अतएव सेवन किये जाने पर भी अशुभ है, हानिकारक है।

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं।
मंतोसहिहीणेण व वुट्ठा आसीविसा सप्पा ॥४२॥

भावार्थ :— जब तक मन को रोका न जावे, तब तक इन्द्रियो को रोकना अति कठिन है। जैसे मन्त्र व औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जाति के सर्प वश नही किये जा सकते।

धित्तेसिमिंदियाण जेंसि वसदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणंत भवगदिसु ॥४३॥

भावार्थ :— इन इन्द्रियो को धिक्कार हो जिनके वश मे पड के प्राणी पापो को बाधकर उनके फल से चारो गतियो मे अनन्त दु ख को पाते है।

(६) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के समयसार अधिकार मे कहते है —

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारण जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकाल तु ॥९६॥

भावार्थ :— यह प्राणी सदा काल अनन्त बार गृह, पशु, वस्त्रादि के निमित्त व जीने के निमित्त व जिह्वाइन्द्रिय और काम भोग के निमित्त आप मरता है व दूसरो को मारता है।

जिब्भोवत्थणिमित्त जोवो दुक्खं अणादिससारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणिं ॥९७॥

भावार्थ :— इस रसना और स्पर्शनेन्द्रिय के निमित्त इस जीव ने अनादि काल से इस ससार मे अनतबार दु ख पाया है इसलिये इस जीभ को और उपस्थ इन्द्रिय को अब तो वश रखना योग्य है।

बीहेदव्व णिच्च कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जोवस्स ॥९९॥

भावार्थ :— काठ के बने हुए स्त्री के रूप को देखने से भी सदा भय रखना चाहिये। क्योकि निमित्त कारण से इस जीव का मन विकारी हो जाता है।

धिवभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतग्रग्गिसमा ।
तो महिलेयं दुक्का णट्ठा पुरिसा सिवं मया इयरे ॥१००॥

भावार्थ – पुरुष घी से भरे हुए घट के समान है, स्त्री जलती हुई आग के समान है । इस कारण बहुत से पुरुष स्त्री के सयोग से नष्ट हो चुके । जो बचे रहे वे ही मोक्ष पहु चे हैं ।

मायाए वहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥१०१॥

भावार्थ – स्त्री के रूप को देखने से बिना किसी अपेक्षा के सदा ही भयभीत रहना चाहिये । चाहे वह माता का रूप हो, चाहे बहन का हो, चाहे वह कन्या का हो, चाहे गूगी का हो व चाहे वृद्ध स्त्री का हो ।

(७) श्री समंतभद्राचार्यं स्वयभूस्तोत्र मे कहते है –

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णाभयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपस्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः ॥१३॥

भावार्थ :– यह इन्द्रिय भोग का सुख बिजली के चमत्कार के समान चचल है । यह मात्र तृष्णारूपी रोग के बढाने का ही कारण है । तृष्णा वृद्धि निरन्तर ताप पैदा करती है, वह ताप सदा प्राणी को दु खी रखता है । हे सम्भवनाथ स्वामी ! आपने ऐसा उपदेश दिया है ।

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभङ्गुरात्मा ।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ॥३१॥

भावार्थ :– जीवो का सच्चा स्वार्थ अपने स्वरूप मे ठहरना है, क्षण-भगुर भोगो को भोगना नही है । इन भोगो के भोगने से तृष्णा बढ जाती है, दुःख की ज्वाला शात नही होती । हे सुपार्श्वनाथ ! आपने ऐसा उपदेश दिया है ।

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
नित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत ॥८२॥

भावार्थ :– तृष्णा की ज्वालाएँ जलती रहती हैं । इन्द्रियो की इच्छा-नुसार इष्ट पदार्थों के भोगने पर भी इनकी शाति नही होती है । उल्टी तृष्णा

की ज्वालाएँ बढ़ जाती हैं। उस समय यह इन्द्रिय भोग स्वभाव से शरीर के ताप को हरता है परन्तु फिर अधिक बढा देता है, ऐसा जानकर हे आत्मज्ञानी कुथुनाथ ! आप विषयो के सुख से वैराग्यवान हो गए।

(८) स्वामी समतभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहते है --

कर्मपरवशे सान्ते दु:खैरन्तरितोदये।

पापबीजे सुखऽनास्था श्रद्धानाकाक्षणा स्मृता ॥१२॥

भावार्थ :-- यह इन्द्रिय सुख पुण्यकर्म के आधीन है, अन्त होने वाला है। दु खो के साथ इसका लाभ होता है व पाप बाधने का कारण है, ऐसे सुख मे आस्थारहित श्रद्धान भाव नि काक्षित अग कहा गया है।

(९) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है .--

भोगोपभोगसुक्खं, जं ज दुक्खं च भोगणासम्मि।

एदेसु भोगणासे, जाव दुक्खं पडिविसिट्ठम् ॥१२४९॥

भावार्थ :-- भोग उपभोग करने से जो-जो सुख होता है, जब उन भोग उपभोग का नाश होता है तब जो-जो दु ख होता है, वह सुख की अपेक्षा बहुत अधिक होता है -- भोग के सयोग होने पर जो सुख मालूम हुआ था, भोग के वियोग होने पर बहुत अधिक दु ख होता है।

देहे छुधादिमहिदे, चले य सत्तस्स होज्ज किह सुक्खं।

दुक्खस्य य पडियारो, रहस्सण चेव सुक्ख खु ॥१२५०॥

भावार्थ :-- यह देह क्षुधा आदि से पीडित रहती है व विनाशीक है, इसमे रहते हुए जीवो को सुख कैसे हो सकता है ? जो इन्द्रियो का सुख है वह दु ख का क्षणिक उपाय है, पीछे अधिक तृष्णा की बाधा बढ जाती है। ये सुख सुखाभास है, मोही जीवो को सुख से दीखते हैं, पीडा मालूम हुए बिना कोई इन्द्रिय सुख मे नही पडता है।

जह कोढिल्लो अग्गि, तप्पन्तो णेव उवसम लभदि।

तह भोगे भुन्जन्तो, खणं पि णो उवसमं लभदि ॥१२५१॥

भावार्थ :-- जैसे कोढी पुरुष आग से तापता हुआ भी शाति को नही पाता है वैसे ससारी जीव भोगो को भोगते हुए भी क्षणभर भी शाति को नहीं पाता है। जितना २ वह तापता है उतनी-उतनी तापने की इच्छा बढ़ती जाती

है; वैसे ही जितना – जितना इन्द्रिय भोग किया जाता है वैसे – वैसे भोग की वाधा बढती जाती है ।

सुट्ठ वि मग्गिज्जन्तो, कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो ।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जन्त भोगेसु अप्पं पि ॥१२५५॥

भावार्थ :– जैसे बहुत अच्छी तरह ढूढने पर भी केले के खम्भे मे कही भी सार या गूदा नही निकलेगा वैसे भोगो को भोगते हुए भी अल्प भी सुख नही है ।

ण लहदि जह लेहंतो सुखल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ।
सो सगतालुगरुहिरं, लेहंतो मण्णए सुक्खं ॥१२५६॥
महिलादिभोगसेवी, ण लहइ किंचि वि सुहं तहा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ, सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५७॥

भावार्थ :– जैसे कुत्ता सूखे हाडो को चाबता हुआ रस को नही पाता है, हाडो की नोक से उसका तालवा कट जाता है जिससे रुधिर निकलता है, उस खून को पीता उसे हाड से निकला मान सुख मान लेता है, वैसे स्त्री आदि के भोगो को करता हुआ कामी पुरुष कुछ भी सुख को नही पाता है । काम की पीडा से दीन हुआ अपनी काय के परिश्रम को ही सुख मान लेता है ।

तह अप्पं भोगसुहं जह धवंतस्स अहिदवेगस्स ।
गिम्हे उण्हे तत्तस्स, होज्ज छाया सुह अप्पं ॥१२५८॥

भावार्थ – जैसे अति गर्मी के समय मे बहुत वेग से दौडते हुए पुरुष को किसी वृक्ष की छाया मे ठहरने से अल्पकाल सुख होता है, वैसे ही तृष्णा से अति दु खी प्राणी को भोगो का अति अल्प क्षणिक सुख होता है ।

दीसइ जलं व मयतण्हिया दु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुहं व दीसंति, तह य रागेण तिसियस्स ॥१२६०॥

भावार्थ :– जैसे वन मे तृषा से पीडित वन के मृग को वनतृष्णा नाम की प्यास जल-सी दीखती है, वह जल जानकर दौडता है, वहाँ जल नही, इस तरह कई तरफ भागते हुए भी जल नही पाता, वैसे तीव्र राग की तृष्णा से पीडित पुरुष को भोगो मे सुख दीखता है परन्तु सुख नही है ।

जहजह भुंजइ भोगे, तहतह भोगेसु बड्ढदे तण्हा ।
अग्गी व इंधणाइं, तण्हं दीवंति से भोगा ॥१२६३॥

भावार्थ :– ससारी जीव जैसे जैसे भोगो को भोगता है वैसे वैसे भोगो मे तृष्णा बढती जाती है । जैसे आग मे लकडी डालने से आग बढती है वैसे भोग तृष्णा को बढाते है ।

जीवस्य णत्थि तित्ती, चिरं पि भोर्गोह भंजमाणेहिं ।
तित्तीए विणा चित्तं, उव्वूरं उव्वुद होई ॥१२६४॥

भावार्थ :– चिरकाल तक भोगो को भोगते हुए भी इस जीव को तृप्ति नही होती है । तृप्ति बिना चित्त घबडाया हुआ उडा फिरता है ।

जइ इंधणेहि अग्गी, जह व समुद्दो णदीसहस्सेहिं ।
तह जीवा ण हु सक्का, तिप्पेदुं कामभोगेहिं ॥१२६५॥

भावार्थ :– जैसे ईंधन से आग तृप्त नही होती है व जैसे समुद्र हजारों नदियो से तृप्त नही होता है वैसे जीव काम भोगो से कभी तृप्त नही हो सकते ।

देविंदचक्कवट्टी, य वासुदेवा य भोगभूमीया ।
भोगेहिं ण तिप्पति हु, तिप्पदि भोगेसु किह अण्णो ॥१२६६॥

भावार्थ :– इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, भोगभूमिया ही जब भोगो से तृप्त नही हो सकते है तो और कौन भोगो को भोगकर तृप्ति पा सकेगा ?

अप्पायत्ता अज्झ-, प्परदी भोगरमण परायत्त ।
भोगरदीए चइदो, होदि ण अज्झप्परमणेण ॥१२७०॥

भावार्थ :– अध्यात्म मे रति स्वाधीन है, भोगो मे रति पराधीन है, भोगो से तो छूटना ही पडता है, अध्यात्म रति मे स्थिर रह सकता है । भोगो के भोग मे अनेक विघ्न आते है, आत्मरति विघ्न रहित है ।

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए ण णासो ण विग्घो वा ॥१२७१॥

भावार्थ :– भोगो का सुख नाश सहित है व अनेक विघ्नो से भरा हुआ है, परन्तु भले प्रकार पाया हुआ आत्मसुख नाश और विघ्न से रहित है ।

एगम्मि चेव देहे, करिज्ज दुक्ख ण वा करिज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्ख करंति भवकोडिकोडीसु ॥१२७४॥

भावार्थ :– वैरी है सो एक ही देह मे दुःख करता है परन्तु ये भोग इस जीव को करोडो जन्मो मे दुःखी करते है ।

णच्चा दुरन्तमद्धुव-, मत्ताणमतप्पयं अविस्सामं।
भोगसुहं तो तह्मा, विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ॥१२८३॥

भावार्थ :– इन इन्द्रियो के भोगो को दु खरूपी फल देने वाले, अथिर, अशरण तथा अतृप्ति के कर्त्ता व विश्राम रहित जानकर ज्ञानियो को इनसे विरक्त होकर मोक्ष के लिये बुद्धि करनी चाहिये ।

(१०) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश मे कहते है –

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुक्खं च देहिना।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ॥६॥

भावार्थ :– ससारी प्राणियो को इन्द्रियो के द्वारा होने वाला सुख-दु ख आदि काल की वासना से भासता है । भ्रम से इन्द्रिय सुख, सुख दीखता है । ये ही इन्द्रियो के भोग व भोग्य पदार्थ आपत्ति के समय ऐसे भासते हैं, जैसे रोग सकट मे पुत्रादि का सग भी बुरा मालूम पडता है । शोक के समय इष्ट भोग भी नही सुहाते है ।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अंते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

भावार्थ – ये इन्द्रियो के भोग प्रारम्भ मे बहुत सताप देने वाले है । उनकी प्राप्ति के लिये बहुत कष्ट उठाना पडता है । जब ये भोग मिल जाते है तब भोगते हुए तृप्ति नही होती है, तृष्णा बढ जाती है, उनसे वियोग होते हुए बडा भारी दुःख होता है । ऐसे भोगो को कौन बुद्धिमान आसक्त होकर सेवन करेगा ? कोई नही । सम्यग्दृष्टि गृहस्थ इन भोगो को त्यागने योग्य समझ कर सतोषसे न्यायपूर्वक भोगते हुए भी उदास रहते है ।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

भावार्थ :– ज्ञानी विचारता है कि मैने जगत के सब ही पुद्गलो को बार-बार मोह के वशीभूत हो भोगा है और त्यागा है । अब मै समझ गया हूँ । मैं अब झूठन के समान भोगो मे क्यो इच्छा करू ?

(११) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते है –

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहं ।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्वत ॥१६॥

भावार्थ :– ज्ञानी विचारता है कि मै अपने आत्मा से छूटकर पाचो इन्द्रियो के द्वारा विषयो मे वारबार गिरा हूँ । उनमे लिप्त होने से मैने निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप को नही पहचाना, अब इनका मोह छोडना ही उचित है ।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मन. ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥५५॥

भावार्थ :– इन इन्द्रियो के भोगो मे लिप्त हो जाने से कोई भी ऐसी बात नही हो सकती जिससे आत्मा का कल्याण हो । तो भी अज्ञानी अज्ञान के भाव से उन्ही मे रम जाया करता है ।

(१२) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है –

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद्भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्य प्रातपूर्वं यथा ।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान्यावद्दुराशामिमा-
मह सहतिवीरवैरिपृतनाश्रीवैजयन्तीं हरेत् ॥५०॥

भावार्थ :– हे मूढ ! इस ससार मे विषयी जीवो ने कौतूहल करके भोगकर जिन पदार्थों को छोडा है, उनकी तू फिर अभिलाषा करता है । ऐसा रागी भया है मानो ये भोग पहिले कभी पाए ही न थे । इनको तो तूने अनतबार भोगा है और अनत जीवो ने भी अनतवार भोगा है । इनकी तुझे ग्लानि नही आती है ? ये तो झूठन के समान है, इनसे तुझे कभी शाति नही मिल सकती है । तुझे तब ही शाति मिलेगी जब तू इस प्रबल बैरी की ध्वजा के समान आशा को छोडेगा । विषयो की आशा कभी मिटती नही, यही बडी दु खदायिनी है ।

भंक्त्वाभाविभवांश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघासुर्मुधा ।
यद्यत्साधुविगर्हित हतमिति तस्यैव धिक्कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१॥

भावार्थ :– काले नाग के समान प्राणो के हर्त्ता ये भोग हैं । इनके भोगने की अति अभिलापा करके तूने कुगति का बध किया । परलोक का भय

न किया, जीवों पर दया न करी, वृथा अपने सब सुख घाते। धिक्कार हो तेरी इस बुद्धि को। जिन पदार्थों की साधुओ ने निन्दा की है, उन ही का तू प्रेमी भया है, इन ही के कारण तू काम, क्रोध महा भयकर पिशाचो के वश मे होकर क्या-क्या हिसादि पापरूपी अनर्थ न करेगा ?

उग्रग्रीष्मकठोरधर्मकिरणस्फूर्ज्जद्गभस्तिप्रभैः
सतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो सवृद्धतृष्णो जनः।
अप्राप्याभिमत विवेकविमुख· पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपातदुरन्तकर्द्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

भावार्थ :– गर्मी की ऋतु मे तीव्र सूर्य की किरणो के समान आताप देने वाले इन पाचो इन्द्रियो से सतापित होकर इस मनुष्य ने अपनी तृष्णा बढाली है। जब इस विवेकहीन को मनवाछित विषयभोग न मिले, तब यह अनेक पापरूप उपायो को करता हुआ उसी तरह घबडाता है, जैसे नदी के तट कीचड मे फँसा दुर्बल बूढा बैल महा कष्ट भोगता है।

लब्धेन्धनोज्वलत्यग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः।
ज्वलत्युभययाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कट· ॥५६॥

भावार्थ :– अग्नि तो इंधन के पाने पर जलती है परन्तु ईधन के न पाने पर बुझ जाती है। परन्तु इन्द्रियो के भोगो की मोह रूपी अग्नि बडी भयानक है जो दोनो तरह जलती रहती है। यदि भोग्य पदार्थ मिलते है तो भी जलती रहती है, यदि नही मिलते है तो भी जलती रहती है। इसकी शाति होना बडा दुर्लभ है।

दृष्ट्वा जनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम्।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरण न तथेतरस्य ॥१६१॥

भावार्थ :– हे मूढ ! तू लोगो को देखकर उनकी देखादेखी क्यो विषय भोगो की इच्छा करता है। यह विषय भोग थोडे से भी सेवन किये जावे तो भी महान अनर्थ को पैदा करते है। जैसे रोगी मनुष्य थोडा भी घी दूध आदि का सेवन करे तो उसको वे दोष उत्पन्न करते है, वैसा दोष दूसरे को नही उत्पन्न करते हैं। इसलिये विवेकी पुरुषो को विषयाभिलाषा करना उचित नही है।

(१३) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना में कहते है :–

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम्॥
योऽन्यैर्जन्यं श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोष.॥३६॥

भावार्थ :– जो कोई दुःख रूपी फल को देने वाले इस बाहरी इन्द्रिय विषयों के सुख को छोड देता है वही स्थिर, पवित्र, अनुपम आत्मीय सुख को पाता है। जो कोई दूसरों के शब्द कानो मे न पडे इसलिये अपने दोनो कानो को ढकता है, उसी के कान मे एक गुप्त शब्द निरन्तर होता रहता है।

व्यावृत्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णुं चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम्॥
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन विना कृता हि विधयः सिद्धि लभंते ध्रुवम्॥५४॥

भावार्थ :– जो कोई कठिनता से वश करने योग्य इस मन रूपी बन्दर को जो इन्द्रियो के भयानक वन मे लोभी होकर चिरकाल से चर रहा था, हृदय में स्थिर करके बाध देते हैं और भोगो की वाछा छोडकर परिश्रम के साथ ध्यान करते है वे ही मुक्ति को पा सकते है। बिना उपाय के निश्चय से सिद्धि नही होती है।

पापानोकहसकुले भववने दु.खादिभिर्दुर्गमे।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पिडितोऽनेकधा॥
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो।
विद्वांसो न परित्यजन्तिसमये शत्रून्हत्वा स्फुटं॥६५॥

भावार्थ :– इस ससार वन मे, जो पाप रूपी वृक्षो से पूर्ण है व दुःखो से अति भयानक है, जिन कषायो से और इन्द्रियो के भोगो से तू अपने अज्ञान से बार बार दु खित किया गया है, उनको अब तू पवित्र ज्ञान को प्राप्त करके जडमूल से बिलकुल नाश कर डाल, विद्वान लोग समय पाकर शत्रुओ को बिना मारे नही छोड़ते है।

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्व माभिलाषीरिदं ॥
प्रत्यागच्छति शोचित न विगत शोक वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम् ॥७३॥

भावार्थ :– मरण जब आता है तव उससे भय करने पर भी वह छोड़ता नही। इसलिये तू उससे घृणा छोड दे और भय मत कर। जब तू इच्छित विषय भोगो को कदापि पा नही सकता तो उनकी वाछा मत कर। जिसका मरण हो गया वह शोक करने पर जव लौटके आता नही तव तू वृथा शोक मत कर, विचार पूर्वक काम करने वाले किसी भी काम को वृथा नही करते है।

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं सत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीम दुर्गमवेदनोदयकर भोग मिथः सेवते॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते।
सद्यो जन्मजरातकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः ॥१०१॥

भावार्थ :– जो कोई मूढ मोक्ष के सुख को देने वाले रत्नत्रय धर्म को छोडकर भयानक व तीव्र दु ख के फल को पैदा करने वाले भोगो को वार वार सेवन करता है, मैं ऐसा मानता हूँ कि वह जन्म जरा मरण के नाशक अमृत को शीघ्र फेककर प्राणो को हरने वाले हलाहल विष को पीता है।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्।
सूरीणा यदनश्वरीमनुपमा दत्ते तपः सपदम्॥
तच्चित्र परम यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो।
दत्तेऽसौ यदनेकदु.खमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ॥६७॥

भावार्थ :– यदि चक्रवर्ती तप के लिये चक्र को त्याग देता है तो इससे सज्जनो को कोई आश्चर्य नही भासता है। यदि तपस्वियो को यह तप अनुपम अविनाशी सपदा को देता है इसमे भी कोई आश्चर्य नही। वडा भारी आश्चर्य तो यह है कि जो तप को छोडकर विषय भोगो को ग्रहण करता है वह इस महान भयानक ससार-समुद्र मे अपने को अनेक दु खों के मध्य मे पटक देता है।

(१४) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं –

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम्।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ॥५-२०॥

भावार्थ :– इन्द्रियों के विषय सेवन से जो सुख होता है वह दु ख ही है, क्योकि यह विषय सुख अनन्त ससार की परिपाटी मे दु खो को ही पैदा करने वाला है ।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥१०॥

भावार्थ :– इस जगत मे इन्द्रियो का सुख दु ख ही है । यह अविद्या रूपी सर्प से पोषित है । मूर्ख न जाने किस हेतु से इस सुख मे रजायमान होते है ।

अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१३॥

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्रो ने कहा है कि यह इन्द्रियजन्य सुख तृप्ति देने वाला नही है । मोहरूपी दावानल को बढाने को ईन्धन के समान है । आगामी काल मे दु खो की परिपाटी का बीज है ।

नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं दृढम् ॥१४॥
विघ्नबीज विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१५॥

भावार्थ :– यह इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ सुख नरक के जाने के लिये सीढी है, या नरक के मार्ग मे जाते हुए मार्ग का खर्च है । मोक्ष नगर का द्वार बन्द करने को मजबूत किवाडो की जोडी है, विघ्नो का बीज है, विपत्तियो का मूल है, पराधीन है, भय का स्थान है तथा इन्द्रियो से ही ग्रहण करने योग्य है ।

वर्द्धते गृद्धिरश्रान्त सन्तोषश्चापसर्पति ।
विवेको विलयं याति विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥१८॥

भावार्थ :– जिनका आत्मा इन्द्रियो के विषयो से ठगाया गया है, उनकी विषय-लोलुपता निरन्तर बढती जाती है, सन्तोष चला जाता है तथा विवेक भी भाग जाता है ।

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरम् ।
वदन्ति ज्ञाततत्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥१९॥

भावार्थ :– तत्वज्ञानियो ने कहा है कि कालकूटविष और विषयसुख मे मेरु पर्वत और सरसो के समान अन्तर है। कालकूट विष जब सरसो के समान तुच्छ है तब विषय सुख मेरु पर्वत के समान महान दु खदाई है।

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनाम्।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥२५॥

भावार्थ :– हे आत्मन्! ऐसा जान कि विषयो के सुख प्राणियो को सेवते समय सुन्दर भासते है परन्तु उनका जब फल होता है तब विष के समान कटुक है।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम्।
न पुनरिह शरीरी कामभोगैर्विसंख्ये-
श्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कश्चित् ॥२८॥

भावार्थ :– इस जगत मे समुद्र तो नदियो से कभी तृप्त नही होता, और अग्नि ईधन से कभी तृप्त नही होती सो कदाचित् दैवयोग से तृप्ति प्राप्त करले, परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम भोगादिक भोगने पर भी कभी तृप्त नही होता।

अपि संकल्पिता· कामा· सभवन्ति यथा यथा।
तथा तथा मनुष्याणा तृष्णा विश्वं विसर्प्पति ॥३०॥

भावार्थ :– मानवो को जैसे जैसे इच्छानुसार भोगो की प्राप्ति होती जाती है वैसे वैसे ही उनकी तृष्णा बढती हुई सर्व लोक पर्यन्त फैल जाती है।

मीना मृत्यु प्रयाता रसनवशमिता दन्तिन· स्पर्शरूद्धाः।
बद्धास्ते वारिबधे ज्वलनमुपगता पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ॥
भृङ्गा गधोद्धताशा· प्रलयमुपगता गीतलोला कुरङ्गा·।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थे राग· ॥३५॥

भावार्थ :– रसना इन्द्रिय के वश होकर मछलिया मरण को प्राप्त होती है हाथी स्पर्श इन्द्रिय के वश होकर गड्ढे मे गिराए जाते है, बाधे जाते है, पतगे नेत्र इन्द्रिय के वश होकर आग की ज्वाला मे जल कर मरते है, भ्रमर गध के लोलुपी होकर कमल के भीतर मर जाते है, मृग गीत के लोभी होकर प्राण गमाते है। ऐसे

एक एक इन्द्रिय के वश प्राणी मरते हैं तो भी देहधारियो का राग इन्द्रियो के विषयो से बना ही रहता है ।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यांति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥११॥

भावार्थ :— जैसे जैसे प्राणियो के वश मे इन्द्रिया आती जाती हैं वैसे २ आतमज्ञान रूपी सूर्य हृदय मे ऊँचा २ प्रकाश करता जाता है ।

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरङ्गिणी मे कहते हैं —

कल्पेशनागेशनरेशसंभव चित्ते सुख मे सततं तृणायते ।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात् सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीः सुख ॥१०-६॥

भावार्थ :— मैंने शुद्ध चिद्रूप के सुख को जान लिया है इसलिये मेरे चित्त मे देवेन्द्र, नागेन्द्र और इन्द्रो के सुख जीर्ण तृण के समान दीखते है, परन्तु जो अज्ञानी है वह स्त्री, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्रादि के द्वारा होने वाले क्षणिक सुख को, जो वास्तव मे दु ख रूप है, सुख मान लेता है ।

खसुखं न सुखं नृणां किंत्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः ।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात् ॥४-१७॥

भावार्थ :— इन्द्रिय जन्य सुख सुख नही है, किन्तु जो तृष्णारूपी आग पैदा होती है उसकी वेदना का क्षणिक उपाय है । सुख तो आत्मा मे स्थित होने से होता है, जब परिणाम विशुद्ध हो व निराकुलता हो ।

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्यां चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ॥६-१७॥

भावार्थ — जो मनुष्य मूढ और पर पदार्थों मे रत है वे चाहे नगर मे हो, ग्राम मे हो, वन मे हो, पर्वत के शिखर पर हो, समुद्र के तट पर हो, मठ, गुहा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले मे हो, स्वर्ग मे हो, भूमि, मार्ग, आकाश मे हो, लतामण्डप व तबु आदि किसी भी स्थान पर हो उन्हे निराकुल सुख रचमात्र भी प्राप्त नही हो सकता ।

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः ।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥१०-१७॥

भावार्थ :— मैंने इन्द्रिय जन्य सुख को वार वार भोगा है, वह कोई अपूर्व नहीं है, वह तो आकुलता का कारण है। मैंने निर्विकल्प आत्मीक सुख कभी नहीं पाया उसी के लिये मेरी इच्छा है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥१६-४॥१

भावार्थ – इन्द्रियों के विषयों के भोगने में प्राणियों को वास्तव में आकुलता होने के कारण से दुःख ही होता है परन्तु शुद्ध आत्मा के अनुभव करने से निराकुलता होती है तब ही सच्चा सुख होता है।

(१६) पं. बनारसीदास जी बनारसीविलास में कहते हैं –

[सवैया इकतीसा]

ये ही है कुगति की निदानी दुःख दोष दानी,
इन ही की संगति सों संगभार वहिये ।
इनकी मगनता सों विभो को विनाश होय,
इन ही की प्रीति सों अनीति पथ गहिये ॥
ये ही तपभाव को विडारें दुराचार धारें,
इनही की तपत विवेक भूमि दहिये ।
ये ही इंद्री सुभट इनहिं जीतें सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये ॥७०॥
मौन के धरैया गृह त्याग के करैया विधि,
रीति के सधैया पर निंदा सों अपूठे है ।
विद्या के अभ्यासी गिरिकंदरा के वासी शुचि,
अंग के अचारी हितकारी वैन छूटे है ॥
आगम के पाठी मन लाए महाकाठी भारी,
कष्ट के सहनहार रामा हूँ सो रूठे है ।
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते,
इन्द्रियन के जीते बिना सब अंग झूठे हैं ॥७१॥

धर्म तरू भजन को महामत्त कुन्जर से,
आपदा भण्डार के भरन को करोरी है।
सत्यशील रोकवे को पौढ परदार जैसे,
दुर्गति का मारग चलायवे को धोरी है ॥
कुमति के अधिकारी कुनय पन्थ के विहारी,
भद्र भाव इधन जरायवे को होरी है।
मृषा के सहाई दुर्भावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी है ॥७२॥

(१७) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते है –

[कवित्त]

चेतनजी तुम जोडत हो धन, सो धन चलै नही तुम लार ।
जाको आप जानि पोषत हो, सो तन जरिके ह्वै है छार ॥
विषयभोग को सुख मानत हो, ताको फल है दुःख अपार ।
यह ससार वृक्ष सेमर को, मानि कह्यो मैं कहूँ पुकार ॥३२॥

[सवैया इकतीसा]

सफरस फास चाहे रसना हू रस चाहे,
नासिका सुवास चाहे नैन चाहे रूप को ।
श्रवण शबद चाहे काया तो प्रमाद चाहे,
वचन कथन चाहे मन दौर धूप को ॥
क्रोध क्रोध कर्यो चाहे मान मान गह्यो चाहे,
माया तो कपट चाहे लोभ लोभ कूप को ।
परिवार धन चाहे आशा विषय सुख चाहे,
एतै वैरी चाहे नाही सुख जीव भूप को ॥४६॥
जीव जोपै स्याना होय पाचो इन्द्रि वसि करै,
फास रस गन्ध रूप सुर राग हरिके ।
आसन बतावै काय वच को सिखावै मौन,
ध्यानमाहि मन लावै चचलता गरिके ॥

क्षमा करै क्रोध मारे विनय धरि मान गारे,
सरल सो छल जारे लोभ दशा टरिके।
परिवार नेह त्यागे विषय सैन छाडि जागे,
तब जीव सुखी होय वैरि वस करिके ॥४७॥

वसत अनन्त काल बीतत निगोद माहि,
अक्षर अनन्त भाग ज्ञान अनुसरे है।
छासठि सहस तीन से छतीस वार जीव,
अन्तर मुहूरत मे जन्में अर मरे है॥
अगुल असख भाग तहाँ तन धारत है,
तहा सेती क्यो ही क्यो ही कै निसरै है।
यहाँ आय भूल गयो लागि विषय भोग विषै,
ऐसी गति पाय कहा ऐसे काम करे है ॥४८॥

बार बार कहे पुनरुक्ती दोष लागत है,
जागतन जीव तू तो सोयो मोह झग मे।
आतमसेती विमुष गहे राग दोष रूप्य पच,
इन्द्री विषय सुख लीन पग पग मे॥
पावत अनेक कष्ट होत नाहि अप्ट नष्ट,
महापद भ्रष्ट भयो भमे सिष्ट जग मे।
जाग जगवासी उदासी ह्वै के विषय सो,
लाग शुद्ध अनुभव जो आवे नाहि जग मे ॥१८॥

(१८) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास में कहते है :—

[सवैया तेईसा]

काहे को कूर तू भूरि सहे दुख पचन के परपच भषाए।
ये अपनें रस को नित पोषत है तो ही तुम लोभ लगाए॥
तू कछु भेद न बूझत रुचक तोहि दगा करि देत बधाए।
है अब के यह दाव भलो तोहि जीति ले पच जिनन्द बताए ॥१४॥

[छप्पय]

रसना के रस मीन प्रान पल माहि गँवावै ।
अलि नाशा परसग रैनि बहु सकट पावै ।।
मृग करि श्रवन सनेह देह दुर्जन को दीनी ।
दीपग देखि पतग दृष्टि हित कैसी कीनी ।।
फरश इन्द्रिवश गज पडो सु कौन-कौन सकट सहै ।
एक-एक विषवेल सम तू पचनि सेवत सुख चहै ।।४।।

[सवैया इकतीसा]

सुनो राय चिदानन्द कहे जो सुबुद्धि रानी,
कहै कहा वेर वेर नेक तोहि लाज है ।
कैसी लाज कहो कहा हम कछु जानत न,
हमे यहा इन्द्रिन को विषय सुख राज है ।।
अरे मूढ विषय सुख सेयेतैं अनन्तबार,
अजहूँ अघायो नाहि कामी सिरताज है ।
मानस जनम पाय आरज सु खेत आय,
जो न चेते हसराय तेरो ही अकाज है ।।१४।।

देखत हो कहा कहा केलि करे चिदानद,
आतम सुभाव भूलि और रस राच्यो है ।
इन्द्रिन के सुख मे मगन रहे आठों जाम,
इन्द्रिन के दु:ख देखि जाने दु ख साचो है ।।
कहूँ क्रोध कहूँ मान कहूँ माया कहूँ लोभ,
अहभाव मानि मानि ठौर ठौर माच्यो है ।
देव तिरयच नर नारकी गतीन फिरे,
कौन कौन स्वाग धरे यह ब्रह्म नाच्यो है ।।३६।।

जौ लौ तुम और रूप ह्वै रहे हे चिदानन्द,
तौलो कहूँ सुख नाहिं रावरे विचारिये।
इन्द्रिन के सुख को जो मान रहे साचो सुख,
सो तो सब दुःख ज्ञान दृष्टि सो निहारिये ।।
ए तो विनाशीक रूप छिन मे औरे सरूप,
तुम अविनाशी भूप कैसे एक धारिये।
ऐसो नर जन्म पाय नेक तो विवेक कीजे,
आप रूप गहि लीजे कर्म रोग टारिये ।।४२।।

जीवैं जग जीते जन तिन्हे सदा रैन दिन,
सोचत ही छिन छिन काल छीजियतु है।
धनी होय धन होय पुत्र परिवार होय,
बड़ो विस्तार होय जस लीजियतु है ।।
देह तो निरोग होय सुख को सजोग होय,
मन वंछ भोग होय जौ लो जीजियतु है ।।
चहे वंछ पूरी होय पै न वछ पूरी होय,
आउ थिति पूरी होइ तौलो कीजियतु है ।।४४।।

नागरिन सग कई सागरनि केलि कीये,
रागरंग नाटक सो तउ न अघाए हो।
नर देह पाय तुम्हें आयु पल्ल तीन भई,
तहाँ तो विषय कलोल नाना भाति गाए हो।
जहां गए तहाँ तुम विषय सो विनोद कीनो,
ताही ते नरक में अनेक दुःख पाए हो।
अज हूँ सभार विषय डारि क्यो न चिदानन्द,
जाके संग दुःख होय ताही से लुभाए हो ।।८।।

नर देह पाए कहो कहा सिद्धि भई तोहि,
विषय सुख सेये सब सुकृत गवायो है।
पचइन्द्री दुष्ट तिन्हे पुष्ट करि पोष राखे,
आई गई जरा तब जोर विललायां है।।
क्रोध मान माया लोभ चारो चित रोक बैठे,
नरक निगोद को सदेसो वेग आयो है।
खाय चल्यो गाठ की कमाई कौडी एक नाहिं,
तोसो मूढ दूसरो न ढूंढ्यो कोऊ पायो है ।।११।।

देखहु रे दक्ष एक वात परतक्ष नई,
अच्छन की सगति विचच्छन भुलानो है।
वस्तु जो अभक्ष्य ताहि भच्छत है रैन दिन,
पोषिवेको पक्ष करे मच्छ ज्यो लुभानो है ।।
विनाशीक लक्ष ताहि चक्षु सो विलोके थिर,
वह जाय गच्छ तब फिरे जो दीवानो है।
स्वच्छ निज अक्ष को विजक्ष के न देखे पास,
मोह जक्ष लागे वच्छ ऐसे भरमानो है ।।७।।

अरे मन बौरे तोहि बारबार समझाऊँ,
तजि विषयभोग मन सो अपनि तू।
ये तो विष बेलि फल दीसत है परतच्छ,
कैसे तोहि नीके लागे भयो है मगन तू ।।
ऐसे भ्रम जाल माहि सोयो है अनादि काल,
निज सुधि भूलि ठग्यो करम ठगनि तू।
तोरि महा मोह डोरि आतम सो लव जोरि,
जाग जाग जाग अब ज्ञान की जगन तू ।।११।।

चौथा अध्याय

सहज सुख या अतीन्द्रिय सुख

गत अध्याय मे यह भले प्रकार दिखा दिया है कि जिस सुख के पीछे ससारी अज्ञानी जीव वावले हो रहे है वह सुख सुखसा भासता है परन्तु वह सच्चा सुख नही है। इन्द्रियों के भोग द्वारा प्राप्त सुख तृष्णा के रोग का क्षणिक उपाय इतना असार है कि उस सुख के भोगते भोगते तृष्णा का रोग अधिक अधिक वढ़ता जाता है। भ्रम से-भूल से-अज्ञान से जैसे रस्सी मे सर्प की वुद्धि हो, पानी मे चन्द्र की परछाई को देखकर कोई बालक चन्द्रमा मान ले, सिंह कुए मे अपने प्रतिविम्व को देख सच्चा सिंह जानले, पक्षी दर्पण मे अपने को ही देख दूसरा पक्षी मानले, पित्त ज्वरवाला मीठे को कटुक जानले, मदिरा से उन्मत्त परकी स्त्री को स्वस्त्री मानले, इसी तरह मोहाध प्राणी ने विषय सुख को सच्चा सुख मान लिया है।

सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभाव मय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कडवा है, इमली का स्वभाव खट्टा है, जल का स्वभाव ठन्डा है, अग्नि का स्वभाव गर्म है, चादी का स्वभाव श्वेत है, सुवर्ण का स्वभाव पीला है, स्फटिक मणिका स्वभाव निर्मल है, कोयले का स्वभाव काला है, खडी का स्वभाव श्वेत है, सूर्य का स्वभाव तेजस्वी है, चद्र का स्वभाव शीत उद्योत है, दर्पण का स्वभाव स्वच्छ है, अमृत का स्वभाव मिष्ठ है वैसे अपने आत्मा का स्वभाव सुख है। जैसे लवण मे सर्वांग खारपना, मिश्री मे सर्वांग मिष्ठपना है, जल मे सर्वांग द्रवपना है, अग्नि मे सर्वांग उष्णपना है, चन्द्रमा मे सर्वांग शीतलता है, सूर्य मे ताप है, स्फटिक मे सर्वांग निर्मलता है, गोरस मे सर्वांग चिक्कनता है, बालू मे सर्वांग कठोरता है, लोहे मे सर्वांग भारीपन है, रुई मे सर्वांग हलकापन है, इत्र मे सर्वांग सुगन्ध है, गुलाब के फूल मे सर्वांग सुवास है, आकाश मे सर्वांग

निर्मलता है वैसे आत्मा मे सर्वांग सुख है। सुख आत्मा का अविनाशी गुण है। आत्मा गुणो मे सर्वांग तादात्म्य रूप है।

जैसे लवण की कणिका जिह्वा द्वारा उपयोग मे लवणपने का स्वाद-बोध कराती है। मिश्री की कणिका उपयोग मे मिष्टपने का स्वाद जनाती है, वैसे ही आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहज सुख का ज्ञान कराता है। परमात्मा सहजसुख की पूर्ण प्रगटता से ही परमानन्दमय अनत सुखी है, अनते सिद्ध इसी सहज सुख के स्वाद मे ऐसे मगन है जैसे भ्रमर कमल पुष्प की गध मे आसक्त हो जाता है। सर्व ही अरहत केवली इसी सहजसुख का स्वाद लेते हुए पाच इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी उनकी ओर नही झुकते है। इस आनन्दमयी अमृत के रसपान को एक क्षण को नही त्यागते है। सर्व ही साधु इस ही रस के रसिक हो सहज सुख के स्वाद के लिये मन को स्थिर करने के हेतु परिग्रह का त्यागकर प्राकृतिक एकात वन, उपवन, पर्वत, कदरा, नदी तट का सेवन करते है। जगत के प्रपच से आरम्भ परिग्रह से मुह मोड पाच इन्द्रियो की चाह की दाह को शमन कर परम रुचि से आत्मीक स्व-भाव मे प्रवेश करके सहज सुख का पान करते है, तथा इसी सुख मे मगन होकर वीतरागता की तीव्र ज्वाला से कर्म ईंधन को भस्म करते हैं, अपने आत्मा को स्वच्छ करने का सदा साधन करते है।

सर्व ही देशव्रती श्रावक पाच अणुव्रतो की सहायता से सतोषी रहते हुए इसी सहज सुखामृत के पान के लिये प्रात मध्यान्ह तथा सायकाल यथा सभव सर्व से नाता तोड जगत प्रपच से मुह मोड, एकात मे बैठ मोह की डोर को तोड, बडे भाव से आत्मा के उपवन मे प्रवेश करते हुए सहज सुख का भोग करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ मानते है। सर्व ही सम्यग्दृष्टि अविरति भाव के धारी होते हुए भी सर्व जगप्रपच से उदासीन रहते है। गृहस्थ मे रहते हुए भी इन्द्रिय सुख को नीरस, असुख व रागवर्द्धक जानते हुए भेदविज्ञान से अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मामय यथार्थ पहचानते हुए, आत्मा मे परके स्वभाव को लेशमात्र भी सयोग न करते हुए, अपने को शुद्ध सिद्धसम अनुभव करते हुए इसी सहज सुख का स्वाद लेते हुए अपने को कृतार्थ मानते हैं।

सहज सुख अपने आत्मा का अमिट अटूट अक्षय अनन्त भडार है। अनन्त काल तक भी इसका भोग किया जावे तो भी यह परमाणु मात्र भी कम नही होता। जैसे का तैसा ही बना रहता है। कोई भी बलवती शक्ति ऐसी नही है जो इस सुख को हरण कर सके, आत्मा गुणी से इस गुण को पृथक् कर सके, आत्मा को सहज सुख से रहित कर सके। हर एक आत्मा सहज सुख समुद्र है। ससारी मोही जीव की दृष्टि कभी अपने आत्मा पर नही रुकती है। वह आत्मा को नही पहचानता है। आप आत्मा होते हुए भी आत्मा के प्रकाश मे अपना जीवन रखते हुए भी आत्मा की महिमा से ही इन्द्रिय व मन से ज्ञान क्रिया करते हुए भी वह आत्मा को भूले हुए है। आत्मा के प्रकाश से जो शरीर दिखता है उसी रूप अपने को मान लेता है।

आत्मा के प्रकाश से जो चेतन व अचेतन पदार्थ शरीर को उपकारी दिखते है उनको अपना सखा मान लेता है व जो शरीर को अहितकारी दिखते हैं उनको अपना शत्रु जान लेता है। मैं स्वरूपवान, मैं बलवान, मैं धनी, मैं स्वामी, मैं सेवक, मै कृषक, मैं रजक, मैं सुनार, मैं लुहार, मैं थवई, मैं जमी-दार, ऐसा मानता हुआ शरीर के व इसके क्षणिक इन्द्रिय सुख के मोह मे ऐसा पागल हो जाता है कि यह कभी भी "आत्मा मैं हूँ" – ऐसा विश्वास नही लाता। मैं शुद्ध वीतराग परमानन्द मय हूँ ऐसा ज्ञान नही पाता। मैं रागी द्वेषी नही, मै बालक वृद्ध युवा नही, मैं शरीर मे रहते हुए शरीर से उसी तरह पृथक् हूँ जैसे धान्य मे रहते हुए भी तुष से चावल पृथक् है, तिल मे रहते हुए भी भूसी से तेल पृथक् है, जल मे रहते हुए भी जल से कमल पृथक् है। अपने मूल स्वभाव को न जानता हुआ, सहज सुख का सागर होते हुए भी उस सहज सुख का किंचित् भी स्वाद न पाता हुआ विषय सुख से तृष्णा की आताप को बढाता हुआ रात दिन सतापित रहता है। सहज सुख को न पाकर तृषा को शमन नही कर पाता है।

जैसे कस्तूरी मृग की नाभि मे होती है वह उसकी सुगध का अनुभव करता है परन्तु उस कस्तूरी को अपनी नाभि मे न देखकर बाहर-बाहर ढूढता है—जैसे हाथ मे मुद्रिका होते हुए भी कोई भूल जावे कि मुद्रिका मेरे पास नही है और उस मुद्रिका को बाहर-बाहर ढूढने लगे। जैसे मदिरा से उन्मत्त

अपने घर मे बैठे हुए भी अपने घर को भूल जावे और बाहर ढूंढता फिरे व पूछता फिरे कि मेरा घर कहा है, उसी तरह यह अज्ञानी प्राणी सहज सुख को अपने पास रखते हुए भी व कभी उसका बिलकुल मलीन अनुभव, कभी कम मलीन अनुभव, कभी कुछ स्वच्छ स्वाद पाते हुए भी उस सहज सुख को भूले हुए है, और भ्रम से इन्द्रियो के विषयो मे ढूढता फिरता है कि यहा सुख होगा।

सुख आत्मा का गुण है। इसका परिणमन भी स्वभाव व विभावरूप दो प्रकार का है जैसे—चारित्र आत्मा का गुण है उसका परिणमन स्वभाव तथा विभाव रूप दो प्रकार का है। वीतराग रूप होना स्वभाव परिणमन है, कषाय रूप होना विभाव परिणमन है। इस विभाव परिणमन के भी दो भेद है—एक शुभ भाव परिणमन, एक अशुभ भाव परिणमन। जब मद कषाय का रग होता है तब शुभ भाव कहलाता है, जब तीव्र कषाय का रग होता है तब अशुभ भाव कहलाता है। यदि चारित्र-गुण आत्मा मे नही होता तो शुभ भाव व अशुभ भाव भी नही हो सकते थे।

इसी तरह सहज सुख का स्वभाव परिणमन तब है जब आत्मा की ओर उपयोगवान होता है। आत्मा मे तल्लीन होता है, इसका विभाव परिणमन सासारिक सुख या सासारिक दु ख का अनुभव है। जब साता वेदनीय का उदय, रति कषाय का उदय होता है तब सासारिक सुख रूप परिणमन होता है। जब असाता वेदनीय का उदय तथा अरति कषाय का उदय होता है तब सासारिक दु खरूप परिणमन होता है। यदि आत्मा मे सुख गुण नही होता तो इन्द्रिय सुख व दु ख का भान भी नही होता क्योकि इसमे कषाय के उदय का मैल मिश्रित है। इसलिए सच्चे सुख का स्वाद न आकर कषाय का ही स्वाद आता है, कभी प्रीतिरूप, कभी अप्रीतिरूप या द्वेष रूप स्वाद आता है।

जैसे लवण से मिले हुए जल को पीने से जल का स्वाद न आकर लवण का स्वाद आयेगा, खटाई से मिले जल को पीने से जल का स्वाद न आकर खटाई का स्वाद आयेगा, नीम की पत्ती से मिला जल पीने से नीम का कटुक स्वाद आयेगा, जल का स्वाद न आयेगा। शक्कर से मिला जल पीने से से शक्कर का मीठा स्वाद आयेगा, जल का शुद्ध स्वाद न आयेगा। इलायची,

बादाम, पिस्ता, किसमिस, शक्कर से मिला जल पीने से इन ही का मिश्रित स्वाद आयेगा, जल का अकेला निर्मल स्वाद न आयेगा। इसी तरह राग द्वारा इन्द्रिय सुख व द्वेष द्वारा इन्द्रिय दुःख भोगते हुए राग-द्वेष का स्वाद आता है, शुद्ध सुख का स्वाद नही आता है, इसीसे तृप्ति नही होती है।

जैसे वीतराग भाव या शात भाव आत्मा के लिये हितकारी है वैसे शुद्ध सुख का अनुभव आत्मा के लिये हितकारी है। विभाव सुख की परिणति में राग द्वेष का मिश्रण होने से कर्म का बध होता है। यहाँ यह कहने का प्रयोजन है कि यदि चारित्र गुण न होता तो राग द्वेष या कषाय भाव क्रोधादि भाव न होता वैसे यदि सुख गुण न होता तो सासारिक सुख या दु ख का अनुभव किसी को न होता। यह अज्ञानी जीव जैसे अपने चारित्रगुण को भूले हुए है वैसे यह अपने सुख गुण को भी भूले हुए है। इसे कषाय के उदय से जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव की कलुषता का स्वाद आता है वैसे ही कषाय के उदय से इसे सासारिक सुख या दु ख का मलीन अतृप्तिकारी स्वाद आता है।

जैसे किसी गवार अज्ञानी पुरुष को मिट्टी से मिला हुआ पानी पीने को दिया जावे तो वह उस मटीले पानी को ही पी लेगा। खेद है कि उसे पानी का स्वाद नही आएगा किंतु जैसी मिट्टी होगी वैसी मिट्टी का ही स्वाद आयेगा। यदि वही पानी किसी बुद्धिमान को पीने दिया जाय तो वह विवेकी जल के ही स्वाद लेने का इच्छुक उस मटीले पानी को नही पीवेगा किन्तु उस पानी मे कतकफल डालकर मिट्टी को नीचे बिठा देगा और वह पानी को साफ करके ही पीएगा और उस जल का असली स्वाद पाकर प्रसन्न होगा, उसी तरह जो अज्ञानी विषयो के झूंठे सुख मे लुब्ध हैं, सच्चे सुख का स्वाद न पाते हुए कषाय का ही स्वाद पाकर मगन हैं वे इन्द्रिय सुख को ही सुख मानकर इसी की चाह की दाह मे जलते हैं व इसी को बार बार भोगते है। सहज सुख के स्वाद को न पाकर कषाय के या राग भाव के स्वाद को पाते है, परन्तु भ्रम से मानते हैं कि हमने सुख भोगा, यही अनादि काल का बड़ा अज्ञान है।

विवेकी सज्जन संत पुरुष सच्चे सुख के अर्थी होकर जैसे कतकफल को डालकर स्वच्छ जल पीने वाले ने मिट्टी को अलग कर स्वच्छ जल पिया वैसे

भेद विज्ञान से शुद्ध निश्चय नय को डालकर राग के स्वाद को अलग करके निर्मल आत्मा का स्वाद लेते हुए सहज सुख का स्वाद पाकर परम तृप्त होते हैं। इन्द्रिय सुख का भोग मलीन कषाय की कलुपता का भोग है। सहज अतिन्द्रिय सुख का भोग स्वच्छ निर्मल आत्मा के सुख गुण का भोग है। इस सुख के भोग मे वीतरागता है, इससे कर्म का बन्ध नही है किन्तु कर्म की निर्जरा है।

इन्द्रिय सुख पराधीन है, सहज सुख स्वाधीन है। इसके लिये न इन्द्रियों की जरूरत है न बाहरी पदार्थों की जरूरत है। इन्द्रिय सुख जब अपने आश्रयीभूत पदार्थों के बिगडने से बाधित हो जाता है तब सहज सुख स्वाधीन व स्वावलम्बन पर निर्भर रहने से बाधा रहित है। इन्द्रिय सुख जब बिल्कुल नाश हो जाता है, अपने शरीर छूटने पर या आश्रयीभूत विषय पदार्थ के वियोग होने पर नही रहता है तब यह सहज सुख अविनाशी आत्मा का स्वभाव होने से सदा ही बना रहता है। इन्द्रिय सुख राग भाव बिना भोगा नही जाता, इसलिये कर्म बन्ध का कारण है, सहज सुख वीतरागता से प्राप्त होता है, इससे वहा बन्ध नही किन्तु पूर्व बन्ध का नाश होता है। इन्द्रिय सुख आकुलतामय है, विषम है, समतारूप नही है। जबकि अतीन्द्रिय सुख निराकुल है तथा समतारूप है। इन्द्रिय सुख जब विष है जबकि सहजसुख अमृत है। इन्द्रिय सुख अन्धकार है जबकि सहज सुख प्रकाश है।

इन्द्रिय सुख रोग है, तब सहज सुख निरोग है। इन्द्रिय सुख कृष्ण है, सहज सुख श्वेत है। इन्द्रिय सुख कटुक है, सहज सुख मिष्ट है। इन्द्रिय सुख तापमय है, सहज सुख शीतल है। इन्द्रिय सुख बेडी है, सहज सुख आभूषण है। इन्द्रिय सुख मृत्यु है, सहज सुख जीवन है। इन्द्रिय सुख इन्द्रायण फल है, सहज सुख मिष्ट आम्र फल है। इन्द्रिय सुख वासरहित पुष्प है, सहज सुख परम सुगन्धित पुष्प है। इन्द्रिय सुख भयानक जगल है, सहज सुख मनोहर उपवन है। इन्द्रिय सुख खारा पानी है, सहज सुख मिष्ट जल है। इन्द्रिय सुख गर्दभ स्वर है, सहज सुख कोयल स्वर है। इन्द्रिय सुख काक है, सहज सुख हस है। इन्द्रिय सुख काच खण्ड है, सहज सुख अमूल्य रत्न है। इन्द्रिय सुख आधी है, सहज सुख मन्द सुगन्ध पवन है। इन्द्रिय सुख रात्रि है, सहज सुख प्रभात

है । इन्द्रिय सुख हर तरह से त्यागने योग्य है, सहज सुख हर तरह से ग्रहण करने योग्य है । एक ससार का विकट मार्ग है तव दूसरा सहज सुख मोक्ष का सुहावना सरल राजमार्ग है । सहज सुख को हर एक आत्मज्ञानी, चाहे वह नारकी हो, पशु हो या देव हो या दरिद्री मानव हो या धनिक मानव हो, कुरूप हो या सुरूप हो, बलिष्ठ हो या निर्बल हो, बहुत शास्त्रज्ञाता हो या अपढ हो, वन मे हो या महल मे हो, दिन मे हो या रात मे हो, सवेरे हो या साझ हो, हर स्थान, हर समय, हरएक अवस्था मे प्राप्त कर सकता है । जब कि इन्द्रिय सुख को वही पा सकता है जिसको इच्छित विषयभोग मिले जिनका मिलना हरएक मानव को महादुर्लभ है ।

सहज सुख है इसका विश्वास साधारण मानवो को कराने के लिये विशेष समझाकर कहा जाता है कि इस जगत मे इन्द्रिय सुख के सिवाय एक ऐसा सुख है जो मदकपाय होने पर शुभ कार्य करते हुए हरएक विचारशील मानव के भोगने मे आता है । परमात्मा के शुद्ध गुणो की भक्ति करते हुए, धर्मशास्त्र को एकचित्त हो पढते हुए, रोगी की टहल सेवा करते हुए, बुभुक्षित को दयार्द्र होकर भोजन देते हुए, दुखियो का दु ख निवारणार्थ उद्यम करते हुए, समाज के उपकारार्थ उद्यम करते हुए, देश के गरीबो की सेवा करते हुए, परोपकारार्थ द्रव्य का दान करते हुए, नदी मे डूबते को बचाते हुए, स्वय सेवक बन कर एक मजदूर की तरह बोझा ढोते हुए, पुलिस की तरह पहरा देते हुए इत्यादि कोमल व दया भाव से अर्थात् मदकपाय से विना किसी स्वार्थ की पुष्टि के विना किसी लोभ या मान प्रतिष्ठा के हेतु जितना भी मन, वचन, काय का वर्तन व अपनी शक्तियो की बलि परोपकारार्थ की जाती है उस समय जो सुख का स्वाद आता है वह सुख इन्द्रिय सुख नही है ।

यह तो स्वय सिद्ध है कि दानी, परोपकारी, स्वार्थत्यागी जब निष्काम कर्म करते हैं, विना बदले की इच्छा के पर की सेवा करते है तब सुख अवश्य होता है । परोपकार करते हुए या भक्ति करते हुए व धर्मशास्त्र एक भाव से पढते हुए पाचो इन्द्रियो के विषय का भोग नही किया जाता है । न किसी स्त्री का भोग है, न मिष्टान्न का सेवन है, न पुष्पो का सूघना है, न सुन्दर रूप को देखना है, न कोई ताल सुर सहित गान का सुनना है ।

जब यह इन्द्रिय सुख नही है परन्तु सुख तो अवश्य है तब यह क्या है? इसका समाधान यह है कि जैसे इन्द्रिय सुख का विभाव परिणमन है वैसे परोपकारादि शुभ कार्यो को मद कषाय से करते हुए जो सुख होता है वह एक देश मदकषाय मिश्रित स्वाभाविक सुख गुण का परिणमन है। इस सुख मे तीव्र राग भाव नही है इसलिए जो मलीनता इन्द्रिय सुख भोग मे होती है वह मलीनता इसमे नही है किन्तु भावो मे त्याग भाव है, विरागभाव है, परहितार्थ स्वधन का स्वशक्ति का व्यय है, लोभ का कितने अश त्याग है, इसीलिए ऐसी दशा में कुछ निर्मल सुख का भोग है। यहा विकारपना नही है। यह बात एक विवेकी को समझ मे आ सकती है कि जितना अधिक स्वार्थ त्याग किया जाता है, जितना अधिक मोह हटाया जाता है, जितना अधिक लोभ छोडा जाता है उतना ही अधिक सुख का अनुभव होता है, चाहे वह अनुभव करने वाला आत्मा को जानता हो या न जानता हो, चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक हो, चाहे वह नागरिक हो या ग्रामीण हो, चाहे वह भारतीय हो या विदेशी हो, चाहे वह गरीब हो या अमीर हो।

यह वस्तु का स्वभाव है कि जो कोइ भी मिश्री खायेगा उसे मिश्री का स्वाद आयेगा। जो कोई भी लवण खायेगा उसे लवण का स्वाद आयेगा, चाहे वह व्यक्ति मिश्री को या लवण को नही भी पहचानता हो, उसी तरह चाहे कोई आत्मा को समझो या न समझो; जो कोई स्वार्थत्यागी निर्लोभी, परोपकारार्थ अपनी बलि करेगा या मद कषाय से अन्य शुभ कार्य करेगा उसको उस सुख का स्वाद आवेगा ही जो आत्मा का स्वभाव है। यह सुख इन्द्रियसुख की अपेक्षा विशेष स्वच्छ है इसमें कषाय की कालिमा का अश बहुत ही मद है। आत्मा का अनुभव करने से व आत्मा का ध्यान करने से जो वीतरागता के कारण सुख का स्वाद आता है उससे यह कुछ ही दर्जे कम है।

यहा पाठको को यह बताना है कि यह सुख कुछ मोह या लोभ के त्याग से हुआ है। यदि कोई अपने आत्मा के सिवाय सर्व पदार्थो से बिल्कुल मोह छोड दे तो बहुत निर्मलता के साथ सहज सुख का अनुभव होगा। जिनको इन्द्रिय सुख का ही विश्वास है, और किसी तरह के सुख पर जिनकी श्रद्धा नही है उनके लिये यहा पर परोपकार से अनुभव मे आने वाले सुख को बताया

गया है कि यह इन्द्रियसुख से अन्य तरह का है व जो विना इन्द्रियो के भोग के भोगने मे आता है। यही सहजसुख का निश्चय कराता है। यदि आत्मा मे सहज स्वाभाविक अतीन्द्रिय व सच्चा सुख नही होता तो स्वार्थत्यागी परोपकारियो को कभी भी भोगने मे नही आता।

श्री गुरु परोपकारी जगत के प्राणियो को सहज सुख का पता वताते है कि यह सुख किसी जड पदार्थ मे नही है न यह दूसरे से किसी को मिल सकता है। यह सुख प्रत्येक की आत्मा मे है और आत्मा से ही प्रत्येक को विना किसी वस्तु की सहायता से मिल सकता है। यह स्वाधीन है, हर एक की अपनी सपत्ति है। हर एक जीव इस सुख भण्डार को भूले हुए हैं, इसी से मृग-तृष्णा की तरह दु खित है, सतापित है, सुख के लिए इन्द्रियो के विषयो मे भटकता है, परन्तु सुख का पता नही पाकर सुखी नही हो सकता, सताप नही मिटा सकता, ससार के दु खो का अन्त नही कर सकता जो इन्द्रिय सुख की तृष्णावश प्राणियो को सहना पडता है। मोहवश, भ्रमवश, अज्ञानवश प्राणी अपने पास अमृत होते हुए भी उसका पता न पाकर दु खी हो रहे हैं।

सहज सुख के भोग मे शरीर को भी हानि नही होती है—मुख प्रसन्न रहता है, शरीर हल्का रहता है, कितने ही रोग मिट जाते है, किन्तु इन्द्रिय सुख भोग मे वहुधा मात्रा का उल्लघन लोभवश कर दिया जाता है इससे अनेक रोग पैदा हो जाते है।

ससार, शरीर, भोग तीनो की क्या दशा है इस वात को भले प्रकार समझ कर जो कोई इस दु खमय ससार से पार होना चाहे, इस अपवित्र शरीर के कारावास से सदा के लिये छूटना चाहे, इन नीरस विषय भोगो के धोखे से बचना चाहे, और सदा सुखमय जीवन बिताना चाहे उसको उचित है कि वह इस सहज सुख पर अपना विश्वास लावे। रत्न को पहचान कर जौहरी बने। इन्द्रिय सुख रूपी काच खण्ड को रत्न समझकर अपने को न ठगावे। सहज-सुख अपने ही पास है, अपना ही स्वभाव है, अपना ही गुण है, ऐसा जानकर हर एक विचारशील को बड़ा ही आनन्दित होना चाहिये और भली प्रकार अपने आत्मा को समझना चाहिये तथा उस साधन को समझ लेना चाहिये

जिससे सहज सुख अपने को मिल सके । इस पुस्तक मे आगे साधना का ही लक्ष्य रखके कथन किया जायेगा । जैनाचार्यो ने इस सहज सुख के सम्वन्ध मे निम्न प्रकार वर्णन किया है –

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री प्रवचनसार मे कहते है –

सोक्खं वा पुण दुक्खं, केवलणाणिस्स णत्थि देहगद ।
जम्हा अदिंदियत्त, जादं तम्हा दु तं णेयं ॥२०॥

भावार्थ :– केवली अरहत के इन्द्रिय जनित ज्ञान तथा सुख नही है, किन्तु सहज अतीन्द्रिय ज्ञान है व सहज अतीन्द्रिय सुख है ।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी, जणस्स दीवेण णत्थि कादव्व ।
तध सोक्खं सयमादा, विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६६॥

भावार्थ :– जिसकी दृष्टि अन्धेरे मे देख सकती है उसको दीपक की कोई जरूरत नही है । यदि सहजसुख स्वय आत्मा रूप है तब फिर इन्द्रियो के विषयो की क्या आवश्यकता है ?

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्ठा रमंति विसयेसु रम्मेसु ॥७५॥

भावार्थ :– सुख तो आत्मा का स्वभाव है, सो देवो को भी प्राप्त नही होता, तब वे देह की वेदना से पीडित होकर रमणीक विषयो मे रमते है ।

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स ।
पणमति जे मणुस्सा, ते सोक्खं अक्खय जंति ॥८५॥

भावार्थ :– जो मनुष्य साधुओ मे श्रेष्ठ, तीन लोक के गुरु, देवो के देव, श्री अरहत भगवान को भाव सहित नमन करते है वे अविनाशी सहज सुख को पाते हैं ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते हैं –

एदह्मि रदो णिच्च सतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होहि तित्तो तो होहदि उत्तम सोक्खं ॥२१६॥

भावार्थ :– इसी आत्म स्वरूप मे नित्य रत हो, इसी मे सन्तोप रख व इसी मे तृप्त रह, तो तुझे उत्तम सहज सुख प्राप्त होगा ।

जो समयपाहुडमिणं पठिदूणय अच्छतच्चदो णादुं ।
अच्छे ठाहिवि चेदा सो पावदि उत्तमं सुक्ख ।।४३७।।

भावार्थ :— जो इस समयसार ग्रन्थ को पढ करके और ग्रन्थ के अर्थ और भावो को जानकर शुद्ध आत्मीक पदार्थ मे ठहरेगा वह उत्तम सुख को पावेगा ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन पाहुड में कहते हैं :—

लद्धण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धण य सम्मत्त अक्खयसुक्ख लहदि मोक्खं च ।।३४।।

भावार्थ :— उत्तम गोत्र सहित मनुष्यपना पाकर के प्राणी सम्यग्दर्शन को पाकर अविनाशी सुख को तथा मोक्ष को पाते है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र पाहुड मे कहते है :—

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुह अणोवम जाण णिच्छयदो ।।४३।।

भावार्थ :— जो ज्ञानी आत्मा चारित्र को धारण कर अपने आत्मा मे परभाव या पदार्थ को नही जोडे, सब पर से राग, द्वेप छोड़ें सो ज्ञानी शीघ्र ही अनुपम सहज सुख पाता है ऐसा जानो ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड मे कहते है :—

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊण जइ इच्छसि सासयं सुक्ख ।।६०।।

भावार्थ :— जो चार गति रूप ससार से छूटकर शीघ्र ही अविनाशी सहज सुख को चाहते हो तो भावो को शुद्ध करके शुद्ध आत्मा की भावना करो ।

सिवमजरामरलिंगमणोवमुत्तमं परमविमलमतुलं ।
पत्ता वरसिद्धिसुह जिणभावणभाविया जीवा ।।१६२।।

भावार्थ :— जो जिन धर्म की भावना भाते है, वे जीव सहज मोक्ष के सुख को पाते है । जो सुख कल्याण रूप है, अजर है, अमर है, अनुपम है, उत्तम है, श्रेष्ठ है, प्रशसनीय है, शुद्ध है, महान् है ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते हैं –

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तम सोक्खं ॥४५॥

भावार्थ :– जो जीव मद, माया, क्रोध, लोभ से रहित होकर निर्मल स्वभाव से युक्त होता है, वही उत्तम सहज सुख को पाता है ।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥

भावार्थ :– जो साधु वैराग्यवान हो, परद्रव्य से पराङ्मुख हो व ससार के सुख से विरक्त हो वही अपने आतमीक शुद्ध सहज सुख मे लीन होता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है :–

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से ।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीण भाविय होइ ॥६३॥

भावार्थ :– जैसे जैसे शातभाव, दया, क्षमा वैराग्य बढते जाते है वैसे वैसे अविनाशी सहज मोक्ष सुख की भावना बढती जाती है–अधिक अधिक सुख अनुभव मे आता है ।

उवसमखयमिस्सं वा वोधि लद्धण भवियपुंडरिओ ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदा लहदि ॥७०॥

भावार्थ :– जो भव्य उपशम, क्षायिक या क्षयोपशम सम्यक्त को प्राप्त करके तप व सयम पालेगा वह तब अक्षय सहज सुख को पावेगा ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना मे कहते है –

एगत मग्गंता सुसमणा वरगधहत्थिणो धीरा ।
सुक्कज्भाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तम पत्ता ॥२०॥

भावार्थ :– जो साधु एकान्त को ढूढने वाले है व गधहस्ती के समान धीर है व शुक्लध्यान मे लवलीन हैं वे मुक्ति के उत्तम सहज सुख को पाते हैं ।

(९) श्री समतभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते है –

दुरितमलकलंकमष्टक निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशातये ॥११५॥

भावार्थ :– हे मुनिसुव्रतनाथ स्वामी आपने अनुपम ध्यान के वल से आठ कर्ममल कलक को भस्म कर डाला और आप मोक्ष के सहज सुख को प्राप्त कर सुखी हो गए। आपके प्रसाद से मेरा ससार भी अत होवे।

(१०) स्वामी समतभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहते हैं –

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दु:खैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाण शुद्धसुख निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

भावार्थ :– निर्वाण जन्म, जरा, रोग मरण, शोक दु ख, भय से रहित है। शुद्ध सहज सुख से पूर्ण है, परम कल्याण रूप है तथा नित्य है।

(११) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश मे कहते है –

स्वसवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः।
अत्यतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

भावार्थ :– यह आत्मा आत्मानुभव से ही प्रकट होता है। शरीरमात्र आकारवान है, अविनाशी है, सहज सुख का धनी अत्यन्त सुखी है व लोक अलोक का देखने वाला है।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः।
जायते परमानदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

भावार्थ :– जो योगी व्यवहार के प्रपच से बाहर ठहरकर आत्मा की भावना मे लीन होते है उनको योगाभ्यास के द्वारा कोई अपूर्व परमानन्दमयी सहज सुख प्राप्त होता है।

(१२) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते है –

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मा मयैव मयि स्थितम्।
बोधात्मान प्रपन्नोऽस्मि परमानदनिर्वृतिम् ॥३२॥

भावार्थ :– जब मै इन्द्रियो के विषयो से अलग होकर अपने ही द्वारा अपने को अपने मे स्थापित करता हूँ तब परमानन्दमयी सहज सुख से पूर्ण ज्ञानमयी भाव को प्राप्त करता हूँ।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि।
बहिरेवासुख सौख्यमध्यात्म भावितात्मनः ॥५२॥

भावार्थ :– जो ध्यान को प्रारम्भ करता है उसको आत्मा मे कष्ट व बाहर सुख मालूम पडता है परन्तु जिसकी भावना आत्मा मे दृढ़ हो गई है उसको बाहर दुःख व आत्मा मे ही सहज सुख अनुभव मे आता है ।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है .–

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखं यत्र नासुखं ।
तत् ज्ञान यत्र नाज्ञानं सा गतिर्यत्र नागतिः ॥४६॥

भावार्थ .– धर्म वह है जहा अधर्म नही हो, सुख वही है जहा कोई दु:ख नही हो, ज्ञान वही है जहा अज्ञान नही हो, वही गति है जहा से लौटना नही हो ।

आराध्यो भगवान जगत्त्रयगुरुर्वृ त्तिः सतां सम्मता ।
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणाम् ॥
साध्य सिद्धिमुखं कियान् परिमितः कालो मनःसाधनम् ।
सम्यक् चेतसि चिन्तयन्तु विधुर किं वा समाधौ बुधाः ॥११२॥

भावार्थ :– समाधि या ध्यान मे तीन जगत के गुरु भगवान की तो आराधना होती है । सतों से सराहनीय प्रवृत्ति होती है । भगवान के चरणों का स्मरण यही कष्ट है, कर्मों की बहुत निर्जरा यही खर्च है, थोड़ा सा काल लगता है, मन का साधन किया जाता है, तथा इससे सहज अतीन्द्रिय सिद्धि सुख प्राप्त होता है । इसलिये भली प्रकार विचार करो, समाधि मे कोई कष्ट नही है, किन्तु सहज सुख का परम लाभ है ।

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलम् ।
सुखमनुपम स्वोत्थं नित्य ततो न तवद्भुतम् ॥
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकम् ।
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ॥१६५॥

भावार्थ :– चक्रवर्ती तप के लिए चक्ररत्न का त्याग कर देते हैं क्योंकि तप का फल अनुपम आत्मा से उत्पन्न, सहज सुख का लाभ है । इस काम में तो कोई आश्चर्य नही है परन्तु यह बडे आश्चर्य की बात है कि जो कोई सुबुद्धि छोड़े हुए विष के समान विषय – सुख को फिर भोगने के लिये बड़े तप को छोड देता है ।

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसन्यासो दुःख तस्य विपर्य्ययः ॥१८७॥

भावार्थ – इस लोक मे जो सहज सुख को पाता हुआ सुखी है, वही पर लोक मे भी सुखी रहता है । जो यहा तृष्णा से दुःखी है सो पर लोक मे भी दु खी रहता है । वास्तव मे सर्व वस्तु से जहा मोह का त्याग है वही सुख है, जहाँ पर वस्तु का ग्रहण है, वही दु ख है ।

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीद्दुरात्मा चिरं ।
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ॥
आत्मेत्या परमात्मता प्रतिपतन्प्रत्यात्मविद्यात्मकः ।
स्वात्मोऽत्यातमसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना ॥१९३॥

हे आत्मन् ! तू आत्मज्ञान के लोपने वाले विषय कषायादि मे प्रवृत्त कर चिरकाल दुराचारी रहा । अब जो तू आत्मा के सम्पूर्ण कल्याण करने वाले ज्ञान वैराग्यादिक अपने ही भावो को ग्रहण करे तो तू श्रेष्ठ परमात्मा की दशा को प्राप्त होवे और तू केवल ज्ञानी हो जावे तथा अपने ही आत्मा से उत्पन्न जो आत्मीक सहज सुख है, उसमे शोभायमान होकर अपने शुद्धात्मीक भाव के साथ अपने अध्यात्मस्वरूप मे ही स्थिर रहे ।

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिन. कथम् ॥२६७॥

भावार्थ :– जो तपस्वी स्वाधीन रहते है वे यदि काय क्लेश तप का दु ख बाहर से भोगते दिखते हैं परन्तु अन्तरग मे सुखी है । तो फिर परम स्वाधीन सुख से पूर्ण सिद्ध भगवान सदा सुखी क्यो न होगे ? सिद्ध सहज सुख में सदा मगन रहते हैं ।

(१४) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे कहते है –

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नंदति सदैव ॥२२४॥

भावार्थ :– परमात्मा परम पद मे रहते हुए, सर्व पदार्थों को जानते हुए, कृतकृत्य, ज्ञानमई सदा ही अपने परमानन्द मे मगन रहते है ।

(१५) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसार में कहते हैं :–

संसारविषयातीतं सिद्धानामव्ययं सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः ॥४५-८॥

भावार्थ :– सिद्धो को ससार के विषयों से अतीत बाधारहित अविनाशी उत्कृष्ट सहज सुख होता है, ऐसा परम ऋषियो ने कहा है ।

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेशविमोहाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमम् ॥४९-८॥

भावार्थ :– पुण्य कर्म के फल से इष्ट इन्द्रियो का सुख भासता है, परन्तु मोक्ष मे सर्व कर्म के क्लेश मिट जाने से स्वाभाविक अनुपम उत्तम सुख है ।

(१६) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते है –

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्म्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः ।
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥२-६॥

भावार्थ – रागपना तो जड का धर्म है, आत्मा का धर्म चैतन्यपना है । इस तरह राग और ज्ञान गुण का भेद ज्ञान जब उदय होता है तब सत पुरुष राग से उदासीन होकर शुद्ध ज्ञानमई एक आत्मा ही अनुभव करते हुए सहज सुख का स्वाद लेते है ।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम् ।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥७-७॥

भावार्थ – जिस पद मे आपत्तियाँ नही हैं उसी एक आत्मा के शुद्ध पद का स्वाद लेना चाहिये जिससे सहज सुख हो । इसके सामने और सब पद अयोग्य पद दिखते है ।

य एव मुक्त्वानयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबंति ॥२४-३॥

भावार्थ :– जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय का पक्षपात छोडकर अपने आत्मा के स्वरूप मे नित्य मगन हो जाते हैं वे सर्व विकल्प जालो से छूटे हुए व शात चित्त होते हुए साक्षात् सहज सुख रूपी अमृत को पीते है ।

यः पूर्वभावकृतकर्म्मविषद्रुमाणां
भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निःकर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥३९-१०॥

भावार्थ :— जो कोई महात्मा पूर्व मे बाधे हुए कर्मरूपी विषवृक्षो के फलो के भोगने मे रजायमान नही होता है, किन्तु आप मे ही तृप्त रहता है, वह कर्मरहित सहज सुख की ऐसी दशा को पहुँच जाता है, जिससे इस जन्म मे भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहेगा ।

अत्यन्तं भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञान संचेतनायाः ॥
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतना स्वा ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥४०-१०॥

भावार्थ — जो कोई कर्म से व कर्म के फल से अत्यन्तपने निरन्तर विरक्तपने की भावना करके तथा अज्ञान चेतना को पूर्णपने प्रलय करके तथा आत्मीक रस से पूर्ण अपनी ज्ञान चेतना से अपने स्वभाव को पूर्ण करके उसे अपने भीतर नचाता है वह शात रस से पूर्ण सहज सुख अमृत को सदा काल पीता है ।

(१७) श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन मे कहते है :—

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति ।
तथात्माधीनमानंदमेति वाचामगोचरं ॥१७०॥

भावार्थ :— जो कोई अपने आत्मा को अनुभव करता हुआ परम एकाग्र भाव को प्राप्त कर लेता है वह वचन अगोचर स्वाधीन सहज आनन्द को पाता है ।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतुस्वस्थः प्रतिक्षण ॥२३७॥
त्रिकाल विषय ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभु ॥२३८॥
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातीन्द्रियमच्युतः ॥२३९॥

ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तं सुखं भवेत् ।
अतीन्द्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखं ॥२४०॥

इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मतं यतः ।
नाद्यपि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥२४१॥

आत्मायत्तं निराबाधमतींद्रियमनश्वरं ।
घातिकर्मक्षयोद्भूतं यत्तन्मोक्षसुखं विदु ॥२४२॥

यत्तु संसारिकं सौख्यं रागात्मकमशाश्वतं ।
स्वपरद्रव्यसंभूतं तृष्णासंतापकारणम् ॥२४३॥

मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबंधनं ।
दुःखकारणबंधस्य हेतुत्वाद्दु.खमेव तत् ॥२४४॥

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत् सुखं ।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृंभितं ॥२४५॥

यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां ।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां ॥२४६॥

भावार्थ :– शुद्ध दशा मे यह आत्मा न मोह करता है, न सशय करता है, न अपने जानने योग्य पदार्थ मे भ्रम भाव रखता है, न राग करता है, न द्वेष करता है किन्तु प्रति समय अपने स्वरूप मे लीन है । तीन काल सम्बन्धी सर्व जानने योग्य पदार्थ जैसे हैं उनको वैसे ही तथा अपने को भी जानते देखते हुए वह प्रभु तब वीतरागी बने रहते हैं । अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतवीर्य व तृष्णा का अभावमयी और अविनाशी, अतीन्द्रिय तथा अव्यय सहज सुख को वे अनुभव करते रहते हैं । इन्द्रियो से पदार्थों को भोगने पर तो सुख हो सकता है परन्तु मोक्ष मे इन्द्रियो के अभाव मे किस तरह सुख होता होगा । यदि तू ऐसी शका करे तो ठीक नही है ।

हे वत्स ! तू अभी भी सुख तथा दु ख का स्वरूप नहीं पहचानता है । मोक्ष का सहज सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है, इन्द्रियो से अतीत है, अविनाशी है, चार घाति कर्म के क्षय से उत्पन्न है । जो ससार का सुख है वह राग रूप है, क्षणिक है, अपने व पर पदार्थ के होने पर होता है तथा तृष्णा के ताप को बढाने वाला है । मोह, द्वेष, मद, क्रोध, माया, लोभ का कारण है अतएव दुःख

फलदायी कर्मबन्ध का कारण है इसलिये वह दु ख रूप ही है। विषयो से सुख की कल्पना होने मे मोह की महिमा है। जैसे श्लेष्मा के रोगी को कडवे पटोल भी स्वादिष्ट भासते है। जो सुख चक्रवर्ती राजाओं को है व जो सुख स्वर्ग में देवो को है वह परमात्मा के सहज सुख की किंचित् भी तुलना नही कर सकता है।

(१८) श्री पात्रकेशरी मुनि पात्रकेशरी स्तोत्र में कहते हैं :-

परैः कृपणदेवकैः स्वयमसत्सुखैः प्रार्थ्यते ।
सुखं युवतिसेवनाविपरसन्निधिप्रत्ययम् ॥
त्वया तु परमात्मना न परतो यतस्ते सुखं ।
व्यपेतपरिणामकं निरुपमं ध्रुवं स्वात्मजं ॥२८॥

भावार्थ :- दूसरे जो यथार्थ देव नही है, जिनको सच्चा सुख प्राप्त नही है वे पर पदार्थ से उत्पन्न स्त्री सेवनादि के सुख की कांक्षा रखते है किन्तु आप तो परमात्मा है, आपको पर पदार्थ से सुख नही है, आपका सहज सुख न बदलने वाला स्वाधीन अविनाशी व निरुपम है।

(१९) श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार मे कहते है :-

जा किंचिवि चलई मणो झाणे जोइस्स गहिय जोयस्स ।
ताव ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसोक्खयरो ॥६०॥

भावार्थ :- ध्यानी योगी का मन ध्यान में जब तक चचल है तब तक वह परम सहज सुखकारी परमानद का लाभ नही कर सकता है।

(२०) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार मे कहते है :-

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसजमुसजुत्तु ।
तउ लहु पावइ सिद्ध सुह इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥

भावार्थ :- जो कोई व्रत व सयम सहित होकर निर्मल आत्मा को ध्याता है वह शीघ्र ही सहज सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

अप्पय अप्पु मुणंतयहं किण्णेहा फलु होइ ।
केवलणाणु विपरिणवइ सासय सुक्खु लहेइ ॥६१॥

भावार्थ :– आत्मा के द्वारा अपने आत्मा का मनन करने से क्यो नही अपूर्व फल होता है - केवलज्ञान पैदा हो जाता है तथा अविनाशी सहज सुख को प्राप्त कर लेता है ।

सागारू वि णागारुहु वि जो अप्पाणि वसेई ।
सो पावइ लहु सिद्धसुहु जिणवरु एम भणेइ ॥६४॥

भावार्थ :– गृहस्थ हो या साधु हो, जो कोई आत्मा मे रमण करेगा वह तुर्त सहज सिद्ध सुख पावेगा ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है –

जो सम्मत्तपहाणु वुहु सो तयलोय पहाणु ।
केवलणाण वि सहु लहइ सासयसुक्खणिहाणु ॥६०॥

भावार्थ – जो ज्ञानी सम्यग्दर्शन को प्रधानता से धरता है वह तीन लोक मे मुख्य है, वही अविनाशी सहज सुख के भण्डार केवलज्ञान को पा सकेगा ।

जो समसुक्खणिलीण वुहु पुण पुण अप्प मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ॥६२॥

भावार्थ :– जो बुद्धिमान सहज सम सुख मे लीन होकर बार - बार आत्मा का ध्यान करता है वह शीघ्र निर्वाण को पाता है ।

जो अप्पा सुद्ध वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ॥६४॥

भावार्थ :– जो इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वही सर्व शास्त्रो को जानता है तथा वही अविनाशी सहज सुख मे लीन है ।

वज्जिय सयलवियप्पयहं परमसमाहि लहंति ।
ज वेदवि साणंद फुडु सो सिवसुक्ख भणंति ॥६६॥

भावार्थ :– जो सर्व सकल्प विकल्पो से रहित होकर परमसमाधि को पाते हैं वे जिस सहज सुख को पाते है वही मोक्ष सुख कहा गया है ।

(२१) श्री अमितिगति आचार्य तत्त्वभावना में कहते है –

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ॥

इन्द्रियप्रसरं रुध्वा स्वात्मानं वशमानयेत् ।
येन निर्वाणसौख्यस्य भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे ॥१३४॥

भावार्थ :— इन्द्रियो के फैलाव को रोककर अपने आप तू वश मे कर, तव तू अवश्य निर्वाण के सहज सुख को पा सकेगा ।

रोषे रोषं परं कृत्वा माने मानं विधाय च ।
सङ्गे सङ्गं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं कुरु ॥१६१॥

भावार्थ :— क्रोध से भले प्रकार क्रोध करके, मान में मान को पटक कर, परिग्रह मे परिग्रह को छोड़कर स्वाधीन सहज सुख का लाभ कर ।

आर्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युत ॥२२६॥

भावार्थ :— आर्त ध्यान व रौद्र ध्यान को त्यागने से व धर्म तथा शुक्ल ध्यान को करने से यह जीव निर्वाण का अनन्त व अविनाशी सहज सुख प्राप्त करता है ।

निर्ममत्वे सवा सौख्य ससारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मन. सस्थिते सति ॥२३५॥

भावार्थ :— सर्व पर पदार्थों से ममता त्याग देने पर व आत्मा मे स्थिति प्राप्त करने पर सदा ही परम उत्कृष्ट सहज सुख प्राप्त होता है जो ससार की स्थिति को छेद डालता है ।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ॥२६७॥

भावार्थ :— सम्यग्दर्शन पूर्वक भेद विज्ञान, सर्व से मैत्री भाव, समता व दया इनकी सदा सेवा करनी चाहिये । इन्ही से निर्वाण का सहज सुख प्राप्त होगा ।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्य दुःखमेव न तत्सुखम् ॥३०१॥

भावार्थ :— जो आत्मा से उत्पन्न स्वाधीन सुख है उसी को विद्वानो ने सुख कहा है । जो पराधीन इन्द्रिय सुख है वह सुख नही है, वह तो दुःख ही है ।

पराधीनं सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसां ।
तस्मादेतत् समालोच्य आत्मायत्तं सुखं कुरु ॥३०२॥

भावार्थ :— बडे तेजस्वी राजाओ को भी पराधीन सुख दु खदाई होता है, इसलिये ऐसा विचार कर आत्माधीन सहज सुख का लाभ कर ।

नो सगाज्जायते सौख्य मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
संगाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबन्धनम् ।३०४॥

भावार्थ :— मोक्ष के कारण भूत उत्तम - सहज सुख परिग्रह की ममता से नही पैदा होता है । परिग्रह से तो ससार का कारण दु ख ही होता है ।

(२४) श्री पद्मनन्दि मुनि सिद्धस्तुति मे कहते हैं —

यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दु खप्रदै प्रग्रहै ।
बद्धोन्यैश्च नरो रुषा धनतरैरापादमामस्तकं ।।
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धा पुन ।
किं न स्यु सुखिन सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनै ॥६॥

भावार्थ :— यदि किसी पुरुष को किसी ने बहुत दु खदाई बन्धनो से क्रोध में आकर सिर से पग तक बाधा हो उसका यदि एक भी बन्धन शिथिल हो जावे, तो वह सुख मान लेता है ।

सिद्ध भगवान जब सर्व बाहरी भीतरी बन्धनो से सदा ही रहित हैं तब वे सहज सुख के भोक्ता क्यो न रहेगे ? अवश्य रहेगे ।

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुतृण्मुखा व्याधय--
स्तेषामन्नजलादिकौषधिगणस्तच्छान्त्ये युज्यते
सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नाविभि--
र्नित्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम् ॥११॥

भावार्थ :— जिन ससारी जीवो के कर्मो के उदय से क्षुधा, तृषा आदि अनेक रोग होते है, उन्ही की शाति के लिए वे अन्न, जल, औषधि आदि का सग्रह करते है । सिद्धो के न तो कर्म हैं न कर्मकृत रोग है । इसलिये अन्नादिको से कोई प्रयोजन नही । वे नित्य आत्माधीन सहज सुख रूपी समुद्र मे मगन रहते हुए सदा ही तृप्त रहते है ।

भावार्थ :-- समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचने वाला है। समताभाव ही सहजानंद का अविनाशी मन्दिर है। समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है। यह मोक्ष महल का एक द्वार है।

(२७) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है --

अत्यक्षं विषयातीत निरौपम्यं स्वभावजम् ।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते ॥४-८॥

भावार्थ :- जहा अतीन्द्रिय, इन्द्रियो के विषयो से रहित, अनुपम, स्वाभाविक, अविनाशी, सहज सुख है वही मोक्ष कहा गया है।

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यत्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ॥३५-१८॥

भावार्थ :-- मै नित्य सहजानन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सनातन हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ, ऐसे ज्ञानी अपने भीतर अपने को देखता है।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ॥३-२१॥

भावार्थ -- वीतरागी मुनि के शातभाव पूर्वक जो सहज सुख प्राप्त होता है उसका अनतवाँ भाग भी सुख इन्द्रो को नही मिलता।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८-१३॥

भावार्थ :-- वीतरागी महात्मा को ऐसा कोई परमानन्द उत्पन्न होता है जिसके सामने तीन लोक का अचित्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है।

तस्यवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बधविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ॥१८-२४॥

भावार्थ :-- जिस योगी के समभाव है उसी के ही निश्चल सहज सुख है, उसी के ही बन्ध का नाश है, उसी को ही अविनाशी पद प्राप्त होता है।

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ॥१३-३१॥

भावार्थ :– मैं अनन्तवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख रूप ही हूँ, क्यो मैं अपने प्रतिपक्षी कर्मरूपी विष के वृक्ष को आज उखाड न डालूँगा ?

यदक्षविषय रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणम् ।
आनन्द निर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मयं मम ॥६४-३२॥

भावार्थ – जो जो पदार्थ इन्द्रियो का विषय है वह मेरे आत्मा के स्वभाव से विलक्षण है । मेरा स्वभाव तो सहजानद से पूर्ण अन्तरङ्ग मे ज्ञान ज्योतिर्मय है ।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥६९-३२॥

भावार्थ – हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही मे आप ही से जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, वचनो से कहने योग्य नही हूँ, अमूर्तिक हूँ, कल्पना रहित हूँ व चिदानदमयी हूँ ।

निष्कल करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जन ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दित. ॥७३-४२॥

भावार्थ :– सिद्धात्मा शरीर रहित है, इन्द्रियो से रहित है, विकल्प रहित है, कर्ममल रहित है, अनतवीर्यधारी है, नित्य सहजानद मे मग्न है ।

(२८) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्त्वज्ञान - तरगिणी मे कहते है :–

स कोपि परमानन्दश्चिद्रूपध्यानतो भवेत् ।
तदंशोपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ॥४-२॥

भावार्थ :– शुद्ध चैतन्य स्वरूप के ध्यान से कोई ऐसा ही सहज परमानन्द होता है उसका अश भी इन्द्रादि को प्राप्त नही होता ।

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिवसंपदः ।
समासाद्यैव चिद्रूपं शुद्धमानन्दमन्दिरं ॥१६-२॥

भावार्थ :– जो योगी मोक्ष सम्पदा को प्राप्त हो चुके होगे व हो रहे हैं उसमे शुद्ध चिद्रूप का ध्यान ही प्रधान कारण है, वही सहजानद का घर है ।

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनन्दात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ॥२२-३॥

भावार्थ :— मै चैतन्यरूप हूँ, असहाय हूँ, शुद्ध हूँ, सहजानदमय हूँ, ऐसा स्मरण कर मुक्ति के लिए सर्वज्ञ का क्या उपदेश है, उसे आगे श्लोक मे कहा गया।

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं ।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥१६-४॥

भावार्थ :— सर्व ही कार्यों मे शुद्ध चिद्रूप का चिन्तवन सुख से साध्य है क्योकि यह अपने ही आधीन है तथा इस चिन्तवन से इस लोक मे भी सहज सुख होता है और परलोक मे भी होता है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥१६-४॥

भावार्थ :— विपयो के भोगने मे प्राणियो को दु ख ही होता है क्योकि वहा आकुलता है। किन्तु शुद्ध चिद्रूप के अनुभव से सुख ही होता है क्योकि वहाँ निराकुलता है।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हित मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥११-६॥

भावार्थ :— मै शुद्ध चैतन्य रूप हूँ इसलिए मैं उसी को देखता हूँ उसी से मुझे सहज सुख प्राप्त होता है। जिनागम का भी यही निचोड़ है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से ससार का नाश व हितकारी मुक्ति प्राप्त होती है।

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानन्दमये यदा ।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥१२-६॥

भावार्थ — केवल, शुद्ध, नित्य सहजानदमई शुद्ध चिद्रूपस्वरूप जो अपना स्वभाव उसमे सदा ठहरता है वही निश्चय से स्वस्थ कहा जाता है।

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥५-८॥

भावार्थ :— आत्म ध्यान के बिना और किसी उपाय से उत्तम सहज सुख नही हो सकता है। आत्म ध्यान से बढकर और कोई तप नही है। आत्म ध्यान से बढकर कही व किसी काल मे कोई मोक्ष मार्ग नही है।

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि ।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं ।।८-१५।।

भावार्थ :– चिदात्मा मे रजायमान होने वाले परिणाम को विभाव कहते है । परन्तु जो आकुलता रहित शुद्ध चिद्रूप मे भाव हो तो वह स्वभाव है इसी स्वभाव में तन्मय हुए बिना सच्चा सहज सुख प्राप्त नही हो सकता है ।

बाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखम् ।
अन्तः संगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ।।११-१६।।

भावार्थ :– बाहरी स्त्री पुत्रादि की सगति के त्यागने से ही जब सहज सुख होता है तो अतरङ्ग मे सर्व रागादि व विकल्पो के त्याग से और भी अधिक सहज सुख क्यो नही होगा ?

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः ।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ।।१०-१७।।

भावार्थ :– मैंने बहुत बार विकल्पमय सासारिक सुख को भोगा है, वह कोई अपूर्व नही है । इसलिये उस सुख की तृष्णा छोडकर अब मेरी इच्छा निर्विकल्प सहज सुख पाने की है ।

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः ।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ।।११-१७।।

भावार्थ :– रागभाव पूर्वक चित्त से जो पदार्थो को जाना जाता है उससे प्राणियो को आकुलता रूप दु ख होता है, परन्तु वीतराग भाव से जो पदार्थों को जाना जावे तो सहज सुख ही है यह निश्चय है ।

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते ।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ।।१३-१७।।

भावार्थ :– चिंता दु खकारी है, शाति सुखकारी है, यह बात जिस शाति के अनुभव से मालूम होती है वह निश्चल शाति तब ही होगी जब शुद्ध चिद्रूप मे लयता प्राप्त होगी ।

यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्वं यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखं ।।१७-१७।।

भावार्थ :– जो कोई रागद्वेषादि छोडकर सर्व पदार्थों को जानता
उसे निराकुलता रहती है, उसी के वह सच्चा तत्त्वरूप सहज सुख होता है।

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ॥५-१८॥

भावार्थ :– जो योगी सकल्प विकल्प त्यागकर शुद्ध चिद्रूप मे ल
होता है उसी को एक ही साथ सच्चा सहज सुख भी मिलता है व कर्म क
निर्जरा भी होती है।

(२५) श्री पं. बनारसीदासजी बनारसी विलास मे कहते हैं –

[सवैया इकतीसा]

लवरूपातीत लागी पुण्यपाप भ्राति भागी,
सहज स्वभाव मोहसेनावल भेद की ।
ज्ञानकी लबधि पाई आतमलवधि आई,
तेज पुंज काति जागी उमग आनन्द की ॥
राहु के विमान वढ़ें कला प्रगटत पूर,
होत जगाजोत जैसे पूनम के चन्द की ।
वनारसीदास ऐसे आठ कर्म भ्रमभेद,
सकति सभाल देखी राजा चिदानन्द की ॥१४॥

(३०) पं. बनारसीदासजी नाटक समयसार मे कहते है :–

[कवित्त]

जव चेतन संभारि निज पौरुष,
निरखे निज दृगसो निज मर्म ।
तब सुखरूप विमल अविनाशिक,
जाने जगत शिरोमणि धर्म ॥
अनुभव करै शुद्ध चेतन को,
रमे स्वभाव वमे सब कर्म ।
इहि विधि सधे मुकति को मारग,
अरु समीप आवै शिव शर्म ॥५॥

[सवैया तेईसा]

राग विरोध उदै जबलो तबलो, यह जीव मृषा मग धावे ।
ज्ञान जग्यो जब चेतन को तब, कर्म दशा पर रूप कहावे ।।
कर्म विलक्ष करे अनुभौ तहा, मोह मिथ्यात्व प्रवेश न पावे ।
मोह गये उपजे सुख केवल, सिद्ध भयो जगमाहि न आवे ।।५८।।

[छप्पय]

जीव कर्म सयोग, सहज मिथ्यात्वस्वरूप धर ।
राग द्वेष परणति प्रभाव, जाने न आप पर ।।
तम मिथ्यात्व मिटि गये, भये समकित उद्योत शशि ।
राग द्वेष कछु वस्तु नाहि, छिन माहि गये नशि ।।
अनुभव अभ्यास सुख राशि रमि, भयो निपुण तारण तरण ।
पूरण प्रकाश निहचल निरखि, बनारसी वदत चरण ।।५६।।

[छप्पय]

प्रगट भेद विज्ञान, आपगुण परगुण जाने ।
पर परणति परित्याग, शुद्ध अनुभौ थिति ठाने ।।
करि अनुभौ अभ्यास सहज सवर परकासे ।
आश्रव द्वार निरोधि, कर्मघन तिमिर विनासे ।।
क्षय करि विभाव समभाव भजि, निरविकल्प निज पद गहे ।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, परम अतीन्द्रिय सुख लहे ।।११।।

[सवैया तेईसा]

शुद्ध सुछन्द अभेद अबाधित, भेद विज्ञान सु तीछन आरा ।
अन्तर भेद स्वभाव विभाव, करे जड चेतन रूप दुफारा ।।
सो जिन्ह के उर मे उपज्यो, ना रुचे तिन्ह को परसंग सहारा ।
आतम को अनुभौ करिते, हरखै परखे परमातम प्यारा ।।३।।

(३१) प. द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते है :-

[छप्पय]

जीव चेतना सहित, आपगुन परगुन जानै ।
पुग्गल द्रव्य अचेत, आप पर कछु न पिछानै ।।
जीव अमूरतिवत, मूरती पुग्गल कहियै ।
जीव ज्ञानमय भाव, भाव जड पुग्गल लहियैं ।।
यह भेद ज्ञान परगट भयौ, को पर तजि अनुभौ करै ।
सो परम अतिद्री सुख सुधा, भु जत भौसागर तिरै ।।८३।।

यह असुद्ध मैं सुद्ध, देह परमान अखण्डित ।
असख्यात परदेश, नित्य निरभै मैं पडित ।।
एक अमूरति निर उपाधि, मेरो छय नाही ।।
गुन अनन्त ज्ञानादि, सर्व ते है मुझ माही ।।
मैं अतुल अचल चेतन विमल, सुख अनन्त मौमैं लसै ।
जब इस प्रकार भावत निपुन, सिद्ध खेत सहजै त्रसै ।।८४।।

सुनहु हस यह सीख, सीख मानौ सदगुरु की ।
गुरु की आन न लोपि, लोपि मिथ्यामति उर की ।।
उर की समता गहौ, गहौ आतम अनुभौ सुख ।
सुख सरप थिर रहै, रहै जग मैं उदास रुख ।।
रुख करौ नही तुम विषय पर, पर तजि परमातम मुनहु ।
मुनहु न अजीव जड नाहि निज, निज आतम वर्नन सुनहु ।।८८।।

भजत देव अरहत, हत मिथ्यात मोहकर ।
करत सुगुरु परनाम,,नाम जिन जपत सुमन धर ।।
धरम दयाजुत लखत, लखन निज रूप अमलपद ।
परमभाव गहि रहत, रहत हुव दुष्ट अष्ट मद ।।
मदनबल घटत समता प्रगट, प्रगट अभय ममता तजत ।
तजत न सुभाव निज अपर तज, तज सुदु ख सिव सुख भजत ।।८६।।

लहत भेद विज्ञान, ज्ञानमय जीव सु जानत ।
जानत पुग्गल अन्य, अन्त सौ नातौ भानत ।।
भानत मिथ्या–तिमिर, तिमिर जासम नहि कोई ।
कोई विकलप नाहिं, नाहि दुविधा जस होई ।।
होई अनन्त सुख प्रकट जब, जब प्रानी निजपद गहत ।
गहत न ममत लखि गेय सब, सब जग तजि सिवपुर लहत ।।६०।।

[कुण्डलिया]

जो जाने सो जीव है, जो मानै सो जीव ।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी ।
आनन्द कन्द सुछन्द, चन्द पूरन सुखदानी ।।
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिन भगुर सो सो ।
सुख कहि सकै न कोई, होइ जाकौ जानै जो ।।६।।

द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल ।
सुर्ग इन्द्र अहमिंद्र सब, अधिक अधिक सुख भाल ।।
अधिक अधिक सुख भाल, काल तिहुँ नत गुनाकर ।
एकसमै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातम पद धर ।।
सो निहचै तू आप, पाप बिन क्यो न पिछानत ।
दरस ग्यान थिर थाप, आप मैं आप सु द्यानत ।।११।।

[छप्पय]

ग्यानकूप चिद्रूप, भूप सिवरूप अनूपम ।
रिद्ध सिद्ध निज वृद्ध, सहज ससमृद्ध सिद्ध सम ।
अमल अचल अविकल्प, अजल्प, अनल्प सुखाकर ।।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सुगन-गन-मनि रतनाकर ।
उतपात-नास-ध्रुव साध सत, सत्ता दरव सु एकही ।।
द्यानत आनन्द अनुभौ दसा, बात कहन की है नही ।।३।।

भोग रोग से देखि, जोग उपयोग बढायो।
आन भाव दुःख दान, ग्यान को ध्यान लगायो ।।
सकलप विकलप अलप, वहुत सब ही तजि दीनें।
आनद कद सुभाव, परम समतारस भीनें ।।
द्यानत अनादि भ्रम वासना, नास कुविद्या मिट गई।
अंतर बाहर निरमल फटक, झटक दसा ऐसी भई ।।१०।।

[सवैया तेईसा]

लोगनिसों मिलनो हमको दुख, साहनिसो मिलनो दुख भारो।
भूपतिसो मिलनो मरनं सम, एक दसा मोहि लागत प्यारो ।।
चाहकी दाह जलें जिय मूरख, वे-परवाह महा सुखकारो।
द्यानत याहीतें ग्यानी अवछक, कर्म की चाल सबै जिन टारो ।।२७।।

(३२) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते है —

[सवैया इकतीसा]

भौथिति निकद होय कर्मबध मद होय,
प्रगटे प्रकाश निज आनन्द के कद को।
हित को दृढाव होय विनैको वढाव होय,
उपजे अकूर ज्ञान द्वितीया के चद को ।।
सुगति निवास होय दुर्गति को नाश होय,
अपने उछाह दाह करे मोहफद को।
सुख भरपूर होय दोप दुःख दूर होय,
याते गुणवृंद कहें सम्यक् सुछन्द को ।।८।।

[सवैया तेईसा]

चेतन ऐसे में चेतत क्यो नहि, आय वनी सवही विधि नीकी।
है नरदेह यो आरज खेत, जिनद की वानि सुवूद अमीकी ।।
तामे जु आप गहो थिरता तुम, तो प्रगटे महिमा सब जीकी।
जामे निवास महासुखवास सु, आय मिले पतियां शिव तीकी ।।२३।।

[द्रुमलता छंद]

इक बात कहूं शिवनायकजी, तुम लायक ठौर, कहां अटके ।
यह कौन विचक्षन रीति गही, बिनु देखहि अक्षन सों भटके ।।
अजहूं गुण मानो तो सीख कहूं, तुम खोलत क्यों न पटै घटके ।
चिनमूरति आपु विराजत है, किन सूरत देखे सुधा गटके ।।१०

[सवैया इकतीसा]

जाही दिन जाही छिन अंतर सुबुद्धि लसी,
ताही पल ताही समैं जोतिसी जगति है ।
होत है उद्योत तहां तिमिर विलाइ जातु,
आपापर भेद लखि ऊरधव गति है ।।
निर्मल अतीन्द्री ज्ञान देखि राय चिदानंद,
सुखको निधान याकै माया न जगति है ।
जैसो शिवखेत तैसो देह मे विराजमान,
ऐसो लखि सुमति स्वभाव में पगति है ।।३४।।

[कवित्त]

निशदिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवै नाहिं फेरिकै ।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिकै ।।
ब्रह्म को विलास करो, आतमनिवास करो,
देव सब दास करो महामोह जेरिकै ।
अनुभौ अभ्यास करो थिरता मे वास करो,
मोक्षसुख रास करो कहू तोहि टेरिकै ।।६४।।

तेरो ही स्वभाव चिनमूरति बिराजितु है,
तेरो ही स्वभाव सुखसागर मे लहिये ।

तेरो ही स्वभाव ज्ञान दरसनहू राजतु है,
तेरो ही स्वभाव ध्रुव चारित में कहिये ।।
तेरो ही स्वभाव अविनाशी सदा दीसतु है,
तेरो ही स्वभाव परभाव मे न गहिये ।
तेरो ही स्वभाव सब आन लसै ब्रह्ममाहि,
यातै तोहि जगत को ईश सरदहिये ।।१।।

[सवैया इकतीसा]

नेकु राग द्वेष जीत भये वीतराग तुम,
तीन लोक पूज्यपद येहि त्याग पायो है ।
यह तो अनूठी वात तुम ही बताय देहु,
जानी हम अवही सुचित्त ललचायो है ।।
तनिकहू कष्ट नाहि पाइये अनन्त सुख,
अपने सहजमाहि आप ठहरायो है ।
यामे कहा लागत है, परसग त्यागही,
जारि दीजे भ्रम शुद्ध आपही कहायो है ।।३।।

मोहके निवारे राग द्वेषहू निवार जाहि,
राग द्वेष टारे मोह नेक न पाइये ।
कर्म की उपाधि के निवारवे को पेच यहै,
जडके उखारे वृक्ष कैसे ठहराइये ।।
डार पात फल फूल सवै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइये ।
तवै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप
विलसै अनन्त सुख सिद्ध मे कहाइये ।।८।।

[कवित्त]

सिद्धकी समान है विराजमान चिदानद,
ताही को निहार निजरूप मान लीजिये ।

कर्मको कलक अग पँक ज्यों पखार हर्यो,
धार निजरूप परभाव त्याग दीजिये ।।
थिरता के सुखको अभ्यास कीजे रैन दिना,
अनुभोके रसको सुधार भले पीजिये ।
ज्ञानको प्रकाश भास मित्रकी समान दीसै,
चित्र ज्यो निहार चित ध्यान ऐसो कीजिए ।।३।।

[छप्पय]

अप्टकर्मतै रहित, सहित निज ज्ञान प्राण धर ।
चिदानन्द भगवान, वसत तिहू लोक शीसपर ।।
विलसत सुखजु अनत, सत ताको नित ध्यावहि ।
वेदहि ताहि समान, आयु घट माहि—लखावहि ।।
हम ध्यान करहि निर्मल निरखी, गुण अनत प्रगटहि सरव ।
तस पद त्रिकाल वदत भविक, शुद्ध सिद्ध आतम दरब ।।७।।
राग दोप अरु मोह, नाहि निजमाहि निरखत ।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत ।।
परद्रव्यनसो भिन्न, चिह्न चेतनपद मडित ।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखडित ।।
सुख अनत जिहि पद वसत, सो निहचै सम्यक महत ।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, श्रीजिनद इहि विधि कहत ।।१४।।
जैनधर्म परसाद, जीव मिथ्यामति खडै ।
जैनधर्म परसाद, प्रकृति उर सात विहडै ।।
जैनधर्म परसाद, द्रव्य पटको पहिचानै ।
जैनधर्म परसाद, आप परको ध्रुव ठानै ।।
जैनधर्म परसाद लहि, निजस्वरूप अनुभव करै ।
'भैया' अनत सुख भौगवै, जैन धर्म जो मन धरै ।।२१।।

जैनधर्म परसाद, जीव सब कर्म खपावै ।
जैनधर्म परसाद, जीव पचमी गति पावै ।।
जैनधर्म परसाद, बहुरि जन म नहिं आवै ।
जैनधर्म परसाद, आप परब्रह्म कहावै ।।
श्री जैनधर्म परसादतें, सुख अनत विलसत ध्रुव ।
सो जैनधर्म जयवत जग, भैया जिहँ घट प्रगट हुव ।।२२।।

[सवैया इकतीसा]

सुबुद्धि प्रकाश मे सु आतम विलास मे सु,
थिरता अभ्यास मे सुज्ञानको निवास है ।
ऊरधकी रीति मे जिनेशकी प्रतीतिमे सु,
कर्मनकी जीत मे अनेक सुख भास है ।।
चिदानद ध्यावतही निजपद पावतही,
द्रव्यके लखावतही, देख्यो सब पास हैं ।
वीतराग वानी कहै सदा ब्रह्म ऐसें भास,
सुखमे सदा निवास पूरन प्रकाश है ।।२४।।

अध्याय पांचवां

जीव का एकत्व

इस ससार मे जीव को अकेले ही भ्रमण करना पडता है। हर एक जीव अकेले ही जन्मता है, अकेले ही मरता है, अकेला ही जरा से पीडित होता है, अकेला ही रोगी होता है, अकेला ही शोकी होता है, अकेला ही दु खी होता है, अकेला ही सुखी होता है, अकेला ही पाप व पुण्य कर्म बाँधता है व अकेला ही उसका दु ख व सुख भोगता है। हरएक जीव अपनी करनी का आप उत्तरदायी है। जो जीव जैसे भाव करता है वह जीव वैसे कर्म बाँधता है। दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य बध नही कर सकता है, न दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य के बध को हर सकता है, किसी के दु'ख को कोई ले नही सकता है, किसी के सुख को कोई छीन नही सकता है। दु ख - सुख अन्तरग भावो पर हैं, भावो का बदलना अपने ही आधीन है।

जिस कुटुम्ब मे या जिस सयोग मे कोई जन्मता है उसको यह अपना साथी मान लेता है परन्तु वे इस जीव के सच्चे साथी नही हो सकते हैं। माता-पिता पास बैठे हैं यदि पुत्र रोगी है तो रोग का दु ख उसी को ही भोगना पडता है, माता - पिता बँटा नही सकते है। यदि कोई भूखा है तो उसी को भोजन करने से उसकी भूख मिटेगी। दूसरे के भोजन से किसी की भूख मिट नही सकती है। कुटुम्ब मे प्राणियो का सम्बन्ध वृक्ष के बसेरे के समान है। जैसे साझ के समय भिन्न - भिन्न दिशाओ से आकर पक्षी एक वृक्ष पर विश्राम करते हैं, सबेरा होने तक ठहरते हैं, फिर हरएक पक्षी अपनी इच्छानुसार अपनी भिन्न - भिन्न दिशा को चला जाता है। उसी तरह एक कुटुम्ब मे कोई जीव नर्क से, कोई जीव स्वर्ग से, कोई जीव पशुगति से, कोई जीव मनुष्य गति से आकर जन्मता है। वे सब अपनी - अपनी आयु पर्यन्त रहते हैं, जिसकी आयु पूरी होती है वह सबको छोडकर चला जाता है, कोई किसी के लिए नही मरता।

जो पाप पुण्य व जैसा आयु कर्म जो जीव बाधता है उसके अनुसार वह जीव चारो गतियो मे से किसी गति मे चला जाता है। चार सगे भाई है - एक विशेष धर्मात्मा है वह मरकर देव हो जाता है। एक सामान्य धर्मात्मा है वह मरकर मनुष्य हो जाता है। एक कम पापी है वह मरकर पशु जन्म पाता है। एक अधिक पापी है वह मरकर नारकी पैदा हो जाता है, फिर कोई किसी को याद भी नहीं करता है। साधारण नियम यही है कि हरएक अपने - अपने सुख व दु ख मे रम जाता है।

यदि कोई गृहस्थी अपने कुटुम्ब के मोहवश, स्त्री व पुत्रादि के मोहवश अन्याय व पाप करके धनादि सग्रह करता है और कुटुम्ब की उस पाप मे अनुमोदना नही है तो उस पाप का बध अकेले गृहस्थी को ही होगा। दूसरे यद्यपि साथ है, उस धन को भोगते है परन्तु उनका भाव पापमय न होने से वे उस पाप के फल को न पावेगे। एक कुटुम्ब मे दस जीव हैं। एक आदमी चोरी करके सौ रुपये लाता है। पाच तो उसे सराहते है, पाच उसकी निन्दा करते हैं तव पाच तो पाप कर्म बाधेगे और दूसरे पाच पुण्य कर्म बाधेगे। एक घर मे दो भाई है -- दोनो भोग्य पदार्थों के स्वामी है, स्त्री पुत्रादि सहित है। एक सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, वह उनके बीच मे रहता हुआ भी जल मे कमल के समान अलिप्त है, भोगो को रोग के समान जानकर वर्तमान इच्छा को रोकने मे असमर्थ होकर कडवी दवा लेने के समान भोग भोगता है। अन्तरग मे यह भावना है कि कब वह समय आवे जब यह विषयवासना मिटे और मैं इन भोगो को न भोगकर केवल आत्मरस का ही पान करू।

ऐसा ज्ञानी जीव भोगो को भोगते हुए आसक्त भाव के न होने से बहुत अल्प कर्म बन्ध करेगा। परन्तु दूसरा भाई जो मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है जिसका उद्देश्य ही ससार का विषय भोग है, जो सहज सुख को पहचानता ही नहीं, इन्द्रिय सुख के सिवाय किसी सुख को जानता ही नही, वह गृहस्थ के भोगो को बहुत बडी आसक्ति से भोगेगा व यही चाहेगा कि ये भोग सदा बनते रहे व इससे बढकर भोग जीवन भर मिले व परलोक मे भी मिले, वह अज्ञानी तीव्र कर्म बाधेगा। एक भाई दूसरे के पाप को बटा नही सकता है। मरने के

बाद सम्यग्दृष्टि स्वर्ग मे देव होगा, मिथ्यादृष्टि पशुगति मे तिर्यंच होगा या नरक मे नारकी होगा। कुटुम्ब मे सर्व ही प्राणी अपने स्वार्थ के साथी हैं। अपना स्वार्थ जब तक सधता जानते हैं तब तक स्नेह करते है, जब स्वार्थ सधता नही जानते है तब स्नेह छोड बैठते है। यदि स्वार्थ मे बाधा होती है तो वे ही जो बन्धु थे, शत्रु हो जाते है। पुत्र पिता की सेवा अपने शारीरिक सुख के लिए करता है। पिता पुत्र की पालना इस आशा से करता है कि मेरे वृद्ध होने पर यह मेरी रक्षा करेगा।

स्त्री पति को स्नेह अपने शरीर पालन व अपने कामतृप्ति का साधन जान के करती है। पति स्त्री के साथ स्नेह गृह कार्य, सन्तान प्राप्ति व कामतृष्णा के शमन हेतु करता है। यदि स्त्री पति को रसोई न खिलावे, घर का काम न करे, कामतृप्ति मे सहाई न हो तो उसी क्षरण पति का स्नेह मिट जाता है। पति यदि स्त्री को भोजन, वस्त्र, आभूषरण न दे उसकी रक्षा न करे, उसकी कामतृप्ति मे सहाई न हो तो स्त्री का स्नेह पति से हट जाता है। जो वृद्ध पिता घर का काम काज नही कर सकता न धन भी पास मे नही रखता उससे कुटुम्बियो का स्नेह छूट जाता है। भीतर परिरणाम यही रहते है कि यह बेकार है, इसका जीवन न रहे तब ही ठीक है।

स्वामी सेवक से स्नेह प्रयोजनवश करता है, सेवक स्वामी से स्नेह, मतलब के हेतु से करता है। सारा जगत का व्यवहार स्वार्थ व परस्पर काम के ऊपर ही निर्भर है। किसान खेती करके राजा को कर देता है तब राजा किसानो की रक्षा करता है। मुनीम सेठ का काम करता है तब सेठ मुनीम को नौकरी देता है। यदि काम न निकले तो एक दिन भी सेठ मुनीम को रखना नही चाहता और यदि सेठ नौकरी न दे तो मुनीम सेठ का काम छोड देता है। वही भाई जो एक ही माता के गर्भ से निकले हैं दूसरे भाई की सम्पत्ति हडप जाने के लिए शत्रु बन जाता है.

सारे जगत के प्राणी इन्द्रियो के सुखो के दास हो रहे है। जिनसे इन्द्रिय सुख की सहायक सामग्री प्राप्त करने मे काम निकलता है उनसे तो स्नेह हो जाता है और जिनसे विषयभोगो मे अन्तराय पडता है उनसे द्वेष पैदा

हो जाता है। इन्द्रिय विषय के मोहवश ही जगत मे मित्र व शत्रु बनते हैं। राग द्वेष का सारा प्रसार विषय चाह के आधीन है। मेरा शरीर है यह मानना भी भ्रम है, मिथ्या है क्योकि यह शरीर एक धर्मशाला है, कही से आके जीव बसा है व आयुकर्म समाप्त होते ही इसे छोडना पडेगा। शरीर पुद्गलमय जड है, आप चेतन है। शरीर अपना कैसे हो सकता है ?

यह परिवार मेरा है, यह भी मिथ्या है। यह सब परिवार शरीर से सम्बन्ध रखता है। आत्मा का कोई परिवार नही। आत्मा का कोई माता-पिता नही, कोई भाई नही, कोई पति नही, कोई इसकी भार्या नही, पुत्री नही, भगिनी नही, कोई इसका पुत्र नही, भाई नही, चाचा नही, भतीजा नही सब सम्बन्ध शरीर से हैं जब शरीर ही अपना नही तब यह परिवार अपना कैसे हो सकता है ? यह धन मेरा है, यह ग्राम मेरा है, यह घर मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह वाहन मेरा है, यह सब भी मानना मिथ्या है। इन सबका सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर के छूटते ही उनका सम्बन्ध छूट जाता है। एक धनी जीव मरकर एक चाडाल के यहा जन्म प्राप्त कर लेता है तथा एक चाडाल का जीव मरकर धनी के यहा पैदा हो जाता है। देव मरकर कुत्ता हो जाता है, कुत्ता मरकर देव हो जाता है। शरीर के सारे सम्बन्ध भोग विलास, कुटुम्ब परिवार, मकान, बाग, कूप तडाग सब शरीर के साथ ही रह जाता है। यह जीव अपने पाप तथा पुण्य कर्म को लिए हुए अकेला ही जाता है और कही जन्म धार लेता है।

शरीर को व शरीर के सम्बन्ध में आये हुए सर्व चेतन व अचेतन पदार्थों को अपना मानना मिथ्या है, भ्रम है, अज्ञान है। इस जीव का सच पूछो तो ससार मे कोई साथी नही है। यदि कोई परम प्यारी स्त्री भी हो तो भी अपने पति के मरने पर ऐसा नही कर सकती कि उसी के साथ ही कही पर जन्म लेकर फिर स्त्री हो जावे। स्त्री मरकर पुत्री हो जाती है, भगिनी हो जाती है या स्त्री अपने पापकर्म के अनुसार तिर्यंचनी हो जाती है, और पति अपने पुण्य कर्म के अनुसार राजपुत्र हो जाता है।

कोई बडा भारी मित्र है तो भी मित्र के मरने पर उसके साथ न तो मर सकता है और यदि मरे भी तो एक साथ एक ही गति मे जन्म पाने का कोई नियम नही है । एक मानव रोग से तडफड़ा रहा है । सैकडो कुटुम्बी पुत्र, मित्रादि बैठे देख रहे है, सहानुभूति बता रहे है परन्तु यह किसी मे शक्ति नही है कि उसके रोग को आप लेले व उसकी रोग पीडा को आप ओढ ले । उसी अकेले को रोग का कष्ट भोगना पडता है । जगत मे यह नियम है कि यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दु ख - सुख भोगता है । इसलिए इस जीव को उचित है कि स्वार्थी जगत के प्राणियो के मोह मे पडकर अपना बुरा न करे । अपने आत्महित को कुटुम्बियो के पीछे न छोड बैठे ।

ससार असार है वता चुके, शरीर अपवित्र अथिर है समझा चुके, भोग चचल अतृप्तिकारी व दु खदायी हैं यह कथन कर चुके तथा सहज सुख ही सच्चा सुख है जो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा ही से मिल सकता है । इन्द्रिय सुख झूठा है, कल्पित है, विनाशक है, आत्मिक सुख स्वाधीन है, अविनाशी है, अपने ही पास है, यह सब दिखा चुके । अब उचित है कि हरएक चेतन प्राणी इस मानव जन्म को सफल करे, सच्चे सुख पाने का यत्न करे, वह सच्चा सुख भी कोई किसी को दे नही सकता, कोई किसी से ले नही सकता, किसी से मागने से मिल नही सकता, खुशामद से प्राप्त नही हो सकता, धन खरचने से नही आ सकता है, कही रखा नही है जो उठाया जा सके । वह सुख हर एक का हर एक के पास है । हर एक आप ही अपने से ही अपने मे अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त कर सकता है । जो साधन करेगा वह पा सकेगा, जो आलसी रहेगा वह नही पा सकेगा ।

यह शरीर मेरा नही है यह प्रगट ही है, परन्तु आत्मा के एकत्व को या उसके एक स्वभाव को ध्यान मे लेते हुए हमे यह भी देखना होगा कि ससारी प्राणियो मे क्रोध कम या अधिक है, मान कम या अधिक है, माया कम या अधिक है, लोभ कम या अधिक है, हास्यभाव कम या अधिक है, रतिभाव कम या अधिक है, अरतिभाव कम या अधिक है, शोकभाव कम या

अधिक है, भय भाव कम या अधिक है, जुगुप्सा या घृणाभाव कम या अधिक है, काम भाव कम या अधिक है, ये सब भाव क्या जीव के स्वभाव हैं या नही, इनका विचार भले प्रकार कर लेना उचित है। यदि पक्षपात छोडकर विचारा जायेगा तो इन क्रोध, मान, माया, लोभादि भावो को कोई भी पसन्द नही करता है। सब ही इनको औपाधिक भाव, अशुद्ध भाव या दोष मानते हैं।

एक अनपढ ग्रामीरग से भी पूछा जावे तो वह यही कहेगा कि क्रोधी आदमी अच्छा नही, मानी आदमी अच्छा नही, मायाचारी अच्छा नही, लोभी अच्छा नही, शोकी आदमी अच्छा नही, भयभीत मानव अच्छा नही, कामी मानव अच्छा नही, इसके विरुद्ध जगत भर को क्षमावान, विनयवान, सरल व्यवहारी, सन्तोषी, ब्रह्मचारी, शीलवान, निर्भय, शोक रहित, प्रेमालु घृणा रहित मानव अच्छा लगता है। जैसे रुई के कपडे सफेद होते है। किसी स्थान पर पचास आदमी एकत्र है, वे सब रुई के कपडे पहने हैं परन्तु गर्मी की ऋतु के कारण सबके कपडे मलीन है। तब दर्शकगरग उनको देखकर यही समझते है कि इनके कपडे स्वच्छ नही है, इनमे मैल चढ गया है और यदि कही किसी सभा मे पचास आदमी जमा हो जो सब नये सफेद कपडे पहनकर आये हो तो दर्शको को वे सब बड़े सुहावने लगते है क्योकि उन कपडो पर मैल नही है।

इसी तरह जब क्रोध, मान, माया, लोभादि से रगे हुए जीव होते हैं तब सबको बुरे लगते है और जब उनके विरुद्ध क्षमा, विनय, ऋजुता, सन्तोष आदि से सम्पन्न जीव होते हैं तब सबको अच्छे लगते है। इसका काररग यही है कि क्षमा, विनय, ऋजुता, सन्तोष आदि तो जीव के स्वभाव है जबकि क्रोध, मान, माया, लोभादि जीव के स्वभाव नही है - दोष है, मैल है।

क्रोधी मानव स्वय भी यदि अपने को देखे तो क्रोध के समय वह अपने आपे से बाहर हो जाता है। उसको बडी आकुलता पैदा हो जाती है। बडा दुःखित भाव हो जाता है, ज्ञान मैला हो जाता है, विवेक जाता रहता है, कुछ का कुछ सत्य असत्य विचारने लगता है, बकने लगता है, चाहे किसी को मारने पीटने लगता है। उसका स्वभाव बिगड जाता है। यदि क्रोधी को कुछ नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे ग्रहरग कर नही सकता। उसका परिरगाम

बड़ा ही क्षोभित व मैला हो जाता है, और जब उसी का क्रोध चला जाता है, शाति आ जाती है तब वही अपने को निराकुल महसूस करता है, सुखी अनुभव करता है। उस समय विवेकी भी रहता है, मन मे ठीक - ठीक विचारता है, वचन भी ठीक - ठीक बोलता है, काय से भी ठीक - ठीक क्रिया करता है, नवीन ज्ञान की शिक्षा को भी ग्रहण करता है, भली प्रकार समझता है क्योंकि यह क्रोध रूपी पिशाच के वश नही है या क्रोध रूपी मदिरा के नशे मे नही है वह अपने आपे मे है।

इसी तरह यदि किसी को अभिमान हो उच्च कुल का, उच्च जाति का, धनवान होने का, रूपवान होने का, बलवान होने का, अधिकारी होने का, विद्वान होने का, तपस्वी होने का, तो उसका भाव मैला रहता है। वह दूसरो को घृणा की दृष्टि से देखता है। मान के वशीभूत हो मन से ठीक विचार नही करता है, वचन भी मानयुक्त बोलता है, शरीर से भी विनययुक्त क्रिया नही होती है, मान के आवेश मे उसका बर्ताव जगत को पसन्द नही आता है, वह भी आकुलित रहता है कि कही कोई अपमान न कर दे और यदि कोई अपमान कर देता है तो वह शीघ्र ही क्रोधी होकर और भी दुःखी हो जाता है। मानी को नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो उसको वह ग्रहण नही करता है।

यदि कोई मान रहित है, मार्दव धर्म का धारी है, कोमल चित्त है तो उसके भावो मे शाति है, वह विवेक से विचार करता है, उसका मन कारण कार्य का ठीक विचार कर सकता है, उसके वचन हितमितप्रिय निकलते हैं, उसकी क्रिया प्रेम, दया व विवेकपूर्ण होती है, उसे नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे बडे आदर से ग्रहण करता है, धारण करता है। उसका मन क्षोभित न होकर सुखी रहता है। इसका कारण यही है कि मानरूपी मदिरा ने उसे बावला व अधा नही किया है।

मायाचार के आवेश मे यह प्राणी बडा ही गन्दा हो जाता है, इसके भावो मे कुटिलता बस जाती है, मन मे स्वार्थ साधन के हेतु पर को वचना करने वाले कुत्सित विचार होते है, वचन यद्यपि मीठे निकलते हैं परन्तु वह

विप से पूर्ण भोजन के समान ठगने वाले होते है, शरीर की चेप्टा सर्व ही धोखे मे डालने वाली कुटिल होती है। उसका भाव कुटिलता से व भय से आकुलित रहता है, शाति नही रहती है, नवीन ज्ञान की शिक्षा भी उसके मलीन भाव मे नही जमती है, परन्तु यदि सरलता हो, ऋजुता हो, आर्जव धर्म हो तो मन निर्मल रहता है, पर हितकारी बातो को ही विचारता है, वचनो से हितकारी बाते कहता है, काय से सरल व योग्य वचना रहित बर्ताव करता है, परिणामो मे शाति रहती है।

ऐसे को यदि नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो बडी भक्ति से ग्रहण करता है, जैसे सफेद कपडे पर लाल रग खूब चढता है। वह अपने भीतर सुख शाति का अनुभव करता है, इसका कारण यही है कि उसके भीतर माया पिशाचिनी का आक्रमण नही है, वह मलीन नही है, दोषी नही है।

लोभ के वशीभूत होकर यह प्राणी बडा ही अपवित्र हो जाता है। स्वार्थी होकर लोभ के साधने वाले विचारो को मन से करता है। मन मे तृष्णा के साधन के ही विचार करता हुआ दया व न्याय के विचारो को छिपा देता है। वचनो से लोभयुक्त, तृष्णायुक्त वाणी कहता है। काय से ऐसी क्रिया करता है जिससे तृष्णा का साधन हो। उसे न्याय, अन्याय, धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्य का ध्यान नही रहता है। लोभ मे अन्धा हो अबला विधवा का भी धन हर लेता है। गरीब आदमी को भी ठगते हुए उसे दया नही आती है। अपने परम मित्र को भी ठग लेता है। लोभ से आकुलित के परिणामो मे शाति नही रहती है, वह सुखी नही होता है। अति धनिक होने पर भी दु खी रहता है। ऐसे लोभी को कोई नवीन ज्ञान की शिक्षा नहीं सुहाती है। जैसे जल मिट्टी से मैला हो जाता है वैसे जीव का परिणाम लोभ से मलीन हो जाता है।

यदि किसी के भावो मे लोभ न हो सन्तोप हो तो उसका मन स्वच्छ रहता है, वह उचित न्याययुक्त व्यवहार का ही विचार करता है, सन्तोप पूर्वक न्याययुक्त वचन बोलता है व न्याययुक्त ही वह काय से क्रिया करता है। उसका परिणाम आकुलित नही रहता है वह निर्लोभता के कारण सुख शाति

का अनुभव करता है, वह जगत को प्रिय होता है। कारण यही है कि लोभ रूपी भूत ने उसको वश नही किया है, वह अपने आपे मे है, लोभ की मूर्छा से मूर्छित नही है।

काम के वशीभूत होकर प्राणी ऐसा अन्धा हो जाता है कि उसका शील स्वभाव विगड जाता है, मन मे बडा ही आकुलित होता हुआ काम भाव सम्बन्धी ही विचार करता है। काम वर्द्धनकारक, हास्ययुक्त, भड वचन, प्रलाप व गानादि करता है। काय से न्याय अन्याय का विवेक छोडकर चाहे जिस तरह काम चेष्टा करने लग जाता है। कामी को बडी अशाति रहती है, सुख शाति उससे कोसो दूर रहती है। उसे कोई ज्ञान की नवीन शिक्षा दी जावे तो वह ग्रहण नही कर सकता, इसके विरुद्ध जो काम के अन्धकार से बाहर हैं शीलवान है, शुद्ध ब्रह्मचर्य के धारी है, उनका मन शुद्ध होता है, वे शुद्ध विचार करते है, वे शील पोषक ब्रह्मचर्य प्रेरक वचन बोलते हैं व काय से ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए चेष्टा करते है। उनका परिणाम सुख शाति का व साम्यभाव का अनुभव करता है। इसका कारण यही है कि काम भाव का अन्धकार उनके ज्ञान के ऊपर नही आया है।

इस तरह यह विदित होगा कि क्रोधादि सर्व ही विभाव दोष है, उपाधि हैं, अपने को भी सक्लेशकारी, हानिकारक, सुख शातिनाशक व ज्ञान के विरोधक भासते है व दूसरो को भी सर्व जगत को भी ये क्रोधादि दोष व मल ही दिखते हैं। वास्तव मे यही यथार्थ बात है। जैसे मलीनपना कपडे का स्वभाव नही है, वैसे ही क्रोधादि मन्द हो या तीव्र हो, ये जीव के स्वभाव नही हैं। मोहनीय कर्म के सयोग से इसी तरह जीव मे होते है जैसे रग के सयोग से पानी रगीन होता है, अग्नि के सयोग से पानी गर्म होता है, मैल के सयोग से कपडा मैला होता है, धुएँ के सयोग से भीत काली होती है, काले, पीले, हरे, लाल डाक के सयोग से स्फटिक मणि का पाषाण काला, पीला, हरा व लाल हो जाता है। यदि पर का सयोग न हो तो पानी निर्मल रहे, शीतल रहे, कपडा उजला रहे, भीत सफेद रहे, स्फटिक मणि स्वच्छ चमकदार रहे।

इसी तरह मोहनीय कर्म के अनेक भेद है – तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्रमंद मंदतर, मंदतम उनके विपाक या फल के संयोग से जैसे नाना प्रकार के मोहनीय कर्म का फल होता है वैसा ही कम व अधिक मैल व उपाधि या दोष जीव मे दिखता है। यदि मोहनीय कर्म का संयोग न हो तो जीव अपने वीतराग निराकुल उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य व उत्तम ब्रह्मचर्य स्वभाव मे ही प्रकाशित रहे, अर्थात् परम शांत रहे। इस जीव का स्वभाव जैसा शांत है वैसी शांति न चन्दन मे है, न मोती की माला मे है, न अगर कपूर मे है, न चन्द्रमा की चांदनी मे है, न बर्फ मे है, न शीतल जल मे है, न गंगा के पानी मे, न क्षीर समुद्र के जल मे है, न केवडे के वन मे है, न कमल के बगीचे मे है, न नन्दनवन की वाटिका मे है, न किसी सूर्य आताप से अस्पर्शित पृथ्वीतल मे है।

इस तरह हमे यह निश्चय करना चाहिये कि जितने ये भाव तीव्र क्रोधादि रूप व मन्द क्रोधादि रूप है वे कोई भी इस जीव के स्वभाव नहीं है, वे सब मोहनीय कर्म के संयोग से दिखने वाले मैल है, आत्मा से बिलकुल विरुद्ध है। इस मोहनीय कर्म के विपाक से संसारी जीवो के दो प्रकार के भाव होते है – एक अशुभ भाव, दूसरे शुभ भाव, अशुभ भावो के दृष्टांत है – (१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) कुशील, (५) परिग्रह की मूर्छा, (६) जुआ खेलना, (७) मांस खाना, (८) मदिरापान, (९) शिकार खेलना, (१०) वेश्या प्रसंग, (११) परस्त्री प्रसंग, (१२) तीव्र शोक, (१३) तीव्र दुःख, (१४) पर का अपकार, (१५) तीव्र क्रोध, (१६) तीव्र मान, (१७) तीव्र माया, (१८) तीव्र लोभ। जिन - जिन कार्यो के करने के लिए मर्यादा, न्याय व धर्म का उल्लंघन हो वर्ताव करना पडे, वे सब काम अशुभ भावो के द्वारा होते है।

जिन कामो मे मन्द कषाय करनी पडती है – राग तो होता है परन्तु अपने स्वार्थ का त्याग होता है, इन्द्रियो के विषयो की लम्पटता नही होती है, वे सब कार्य शुभ भावो से किये जाते है, जैसे – (१) दया, (२) आहार,

औपधि, अभय व ज्ञानदान, (३) सत्य भाषण, (४) न्याय से वर्तन, (५) ब्रह्मचर्य पालन, (६) सन्तोष, (७) परोपकार, (८) सेवा टहल, (६) यथा योग्य विनय, (१०) हितकारी वर्तन, (११) परमात्मा की भक्ति, (१२) धर्म शास्त्र पठन, (१३) गुरु सेवा, (१४) सयम पालन इत्यादि कार्य शुभ भावो से होते है ।

यहा राग या लोभ मन्द होता है । दोनो ही शुभ भाव या अशुभ भाव इस जीव के स्वभाव से दूर है । इस जीव का स्वभाव तो वीतराग, वीतद्वेप, वीतमोह व परम शात उदासीन है, जहा न शुभ भाव से न अशुभ भाव से किसी व्यवहार करने का राग या द्वेष या मोह है । इसीलिए आत्मा का स्वाभाविक भाव, शुद्ध भाव या शुद्धोपयोग है । जैसे पानी के चौदह वर्तन है, पहले मे लाल रग सबसे अधिक मिला हो, फिर कमती कमती दस वर्तनो तक मिला हो, ११ वे से १३ वे तक मे पवन के द्वारा चचलता हो । १४ वे मे चचलता भी न हो परन्तु कुछ मिट्टी हलकी सी मिली हो । १५ वें बर्तन मे ऐसा शुद्ध पानी हो, न जिसमे कोई रग हो, न चचलता हो, न मिट्टी मिली हो तब विचारा जाय तो उन चौदह वर्तनो मे भी जो पानी है, वह पन्द्रहवे वर्तन के पानी के बराबर ही है । अन्तर डालने का कारण परवस्तु का सयोग है । रग हवा व मिट्टी का सयोग है ।

उसी तरह सर्व ही जीव स्वभाव से शुद्ध वीतराग परमात्मा सिद्ध भगवान के समान है - सिद्ध पूर्ण शुद्ध आत्मा है । शेप ससारी आत्माये कम या अधिक कर्मरूपी रज से मिली है, इसीलिए नाना प्रकार रज मिश्रित जल के समान दिखती है, परन्तु स्वभाव सबका एक है ।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह जीव न क्रोधी है, न मानी है, न मायावी है, न लोभी है, न कामी है, न भयभीत है, न शोकी है, न रागी है, न द्वेषी है, न मोही है, न दयादान का कर्त्ता है, न पूजापाठ का कर्त्ता है, न स्वाध्याय का कर्त्ता है, न गुरुसेवा का कर्त्ता है । जीव तो सर्व प्रपचजाल, सर्व प्रकार विकार व चिता व सकल्पविकल्प से रहित पूर्ण वीतराग सिद्ध के समान है ।

तथा यह जीव ज्ञानी है, ज्ञान इसका स्वभाव है, हरएक जीव में ज्ञान की पूर्ण शक्ति विद्यमान है। जैसे परमात्मा सिद्ध भगवान सर्वज्ञ है वैसा हरएक जीव स्वभाव से सर्वज्ञ स्वरूप है, परन्तु जो ज्ञान की कमी ससारी जीवो मे देखने मे आती है वह ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म के सयोग से है। जैसे सूर्य का स्वभाव पूर्ण स्वपर प्रकाशक है, यदि मेघो का अधिक आवरण आता है तो कम प्रकाश झलकता है, कम आवरण होता है तो अधिक प्रकाश प्रकट होता है, यदि और भी कम आवरण होता है तो और भी अधिक प्रकाश झलकता है। मेघो के अधिक व कम आवरण की अपेक्षा प्रकाश के अनेक भेद हो जाते है, यद्यपि सूर्य का प्रकाश एकरूप है।

इसी तरह ज्ञान का प्रकाश एकरूप है। उसके ऊपर ज्ञानावरण कर्म के पटल अनेक प्रकार के होने से किसी जीव मे कम, किसी मे अधिक ज्ञान का प्रकाश है। अथवा जैसे शुद्ध जल मे ऐसी निर्मलता होती है कि अपना मुख दिख जावे परन्तु जल मे मिट्टी अधिक मिली होने से कम निर्मलता होगी, कम मिट्टी मिली होने से अधिक निर्मलता झलकेगी, इसी तरह निर्मल आत्मा मे सर्व जानने योग्य विश्व के पदार्थ प्रकट होते है परन्तु जिसमे जितना कम या अधिक ज्ञान है उसमे उतना ही अधिक या कम कर्म का आवरण है।

स्वभाव हरएक जीव का ज्ञानमयी है। ज्ञान जितना भी कही बढता है विद्या पढने से या पर के उपदेश से वह भीतर से ही अज्ञान मिटकर बढता है। कही बाहर से ज्ञान दिया जाता नही, बाहर से जाता नही। यदि ज्ञान मे लेन - देन हो तो ज्ञान दातारो का ज्ञान घटे तब ज्ञान लेने वालो का ज्ञान बढे जेसे धन के लेनदेन मे होता है। यदि कोई किसी को अपनी एक हजार की थैली मे से सौ रुपये देता है तो उसकी थैली मे नौ सौ रह जायेंगे तब दूसरे को सौ रुपये मिलेंगे, ऐसा ज्ञान मे नही होता। एक विद्वान सौ छात्रो को पढाता है, सर्व छात्रो का ज्ञान उनके आवरण हटने के अनुसार कम या अधिक बढता है परन्तु उस विद्वान का ज्ञान कुछ भी कम नही होता। यदि विचारा जावे तो जितना अधिक उसको पढाने का अनुभव होगा उतना ही अधिक उस विद्वान का ज्ञान बढ जायेगा।

इसलिये यही बात ठीक है कि हरएक जीव मे उतना ही ज्ञान है जितना सिद्ध भगवान मे है। जीव का स्वभाव निर्मल जल के समान स्वच्छ है, सर्व ही जानने योग्य को झलकाना व प्रकाश करना है। यह जीव आनन्दमय है। सहज - सुख अतीन्द्रिय सुख इसका स्वभाव है। यह पहले बताया जा चुका है। मोह के मैल से यह सुख अनुभव मे नही आता है। जितना - जितना मोह हटता है यह सुख प्रगट होता है। परमात्मा जैसे आनन्दमय है वैसा हरएक जीव आनन्दमय है। परमात्मा अमूर्तिक है। परमात्मा मे कोई वर्ण नही है, गध नही है, रस नही है, स्पर्श नही है वैसे हरएक आत्मा मे कोई वर्ण, गध, रस, स्पर्श नही है।

हरएक आत्मा अपना कोई चैतन्यमयी आकार रखता है, क्योकि जिसका कोई आकार नही होता है वह शून्य अभावमय पदार्थ होता है। जीव ऐसा नही है, वह तो अनेक गुणो का धारी द्रव्य है, इसलिए जीव का आकार अवश्य है। जिस शरीर मे रहता है उस शरीर प्रमाण उसका आकार हो जाता है जैसे दीपक का प्रकाश कमरे मे कमरे भर फैलता है, छोटे कमरे मे छोटे कमरे भर, घडे मे घडे भर, एक लोटे के भीतर लोटे भर फैलता है वैसे इस जीव का आकार हाथी मे हाथी के बराबर, ऊट मे ऊट के बराबर, घोडे मे घोडे के बराबर, बैल मे बैल के बराबर, बकरे मे बकरे के बराबर, कुत्ते मे कुत्ते के बराबर, चूहे मे चूहे के बराबर, सर्प मे सर्प के बराबर, नकुल मे नकुल के बराबर, कबूतर मे कबूतर के बराबर, भ्रमर मे भ्रमर के बराबर, चीटी मे चीटी के बराबर, लट मे लट के बराबर, वृक्ष मे वृक्ष के बराबर, इत्यादि जैसा शरीर होता है वैसा यह जीव सकोचकर या फैलाकर छोटे या बडे आकार का होता है तो भी इसमें शक्ति सर्व विश्व मे फैलने की है। स्वभाव की अपेक्षा लोकव्यापी है, परन्तु शरीर के सम्बन्ध मे शरीर प्रमाण रहता है। नाम कर्म के कारण सकोच या विस्तार को प्राप्त होता है।

ऐसा अमूर्तिक, ज्ञानाकार, ज्ञान स्वरूप, वीतराग, आनन्दमय जीव द्रव्य अपनी - अपनी एकता को, अपनी - अपनी सत्ता को भिन्न - भिन्न ही रखता है। एक जीव का दूसरे जीव के साथ कोई सम्बन्ध नही है। जैसे गेहूँ के दस करोड दाने एक स्थल पर रक्खे है, हरएक दाना गेहूँ का अलग - अलग

है। यद्यपि गेहूँ के गुणों की अपेक्षा सब गेहूँ के दाने समान हैं, परन्तु सत्ता सबकी अलग - अलग है। गेहूँ का व्यापारी दस करोड गेहूँ के दानो मे से किसी को ५००, किसी को १०००, किसी को १००००, किसी को १००००० दाने बेच देता है।

लेने वाले कोई थोडा आटा बनाते हैं, कोई ज्यादा बनाते है, आटे की रोटी, पूरी बनाते हैं, खाते है, उन खाये हुए गेहूँ का रस रुधिर, मल आदि बनता है। जबकि बहुत से गेहूँ आटे के रूप मे मटके मे भरे रहते हैं, कितने ही गेहूँ के रूप मे ही रहते है। यदि दस करोड गेहूँ की एक ही सत्ता हो तो जहा एक गेहूँ जावे वहा दूसरा भी जावे, एक पीसा जावे तो दूसरा भी पीसा जावे। एक चबाया जावे तो दूसरा भी चबाया जावे सो ऐसा नही है।

गेहूँ के स्वभाव की अपेक्षा दस करोड गेहूँ समान हैं तो भी हर एक दाना गेहूँ का अपनी - अपनी भिन्न - भिन्न सत्ता रखता है, इसी तरह सर्व जीव अपनी - अपनी भिन्न - भिन्न सत्ता रखते है तब ही एक ही समय मे कोई शरीर मे आता है, कोई शरीर को छोडता है, कोई दु:खी होता है, कोई सुखी होता है, कोई क्रोधी है तो कोई शात है, कोई विशेष ज्ञानी है, कोई कम ज्ञानी है, कोई सोता है, कोई जागता है, कोई पढाता है, कोई पढता है, कोई लडता है कोई प्यार करता है, कोई खाता है, कोई मल - मूत्र करता है, कोई रोता है, कोई हँसता है, कोई न्याय करता है, कोई दण्ड पाता है, कोई लिखता है, कोई रगता है, कोई पीसता है, कोई हल जोतता है, कोई धोता है, कोई नहाता है, कोई कपडे पहनता है, कोई कपडे उतारता है, कोई ध्यान करता है, कोई गाता है, कोई बजाता है - सर्व जीव भिन्न - भिन्न है। तब ही सर्व की क्रियाएँ प्रगट है।

एक ही जीव की सत्ता बन नही सकती। एक ही समय मे एक चोरी करता है, एक रक्षा करता है, एक हिंसा करता है, एक बचाता है, एक शील खण्डन करता है, एक शील की रक्षा करता है, एक ठगा जाता है, एक दान करता है, एक दान पाता है। जितने प्रकार के शरीर विश्व मे हो सकते हैं

उतने प्रकार के शरीर को एक जीव पुन पुनः जन्म लेकर व मरकर धारण कर लेवे परन्तु एक जीव दूसरे जीव के साथ कभी मिलकर एक नही हो सकता, न एक जीव के खण्ड होकर दो जीव या अनेक जीव बन सकते हैं। जीव अमूर्तिक पदार्थ है। जितने अमूर्तिक पदार्थ होते है वे न कभी परस्पर बँधते है, न कभी उनके खण्ड होते है। मिलना - बिछुडना परमाणुओ मे होता है जो मूर्तिक है। परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्ध बन जाते है, स्कन्ध के खण्ड होकर परमाणु हो जाते है। इस तरह जीवो के मिलकर स्कन्ध नही होते है, न उनके खण्ड होते है।

हरएक जीव अकेला है, निराला है, स्वतन्त्र है, स्वाधीन है। जब जीव के परके सयोग रहित एकत्व को विचार करते है तब तो यही झलकता है कि हरएक जीव बिलकुल अकेला है, स्वभाव से एक जीव मे न दूसरे जीव है, न कोई परमाणु या स्कन्ध है, न कोई कर्म है, न कोई पुण्य है, न पाप है, न राग है, न द्वेष है, न मोह है, न सासारिक सुख है, न दु ख है, न शुभ भाव है, न अशुभ भाव है, न वह एकेन्द्रिय है, न द्वेन्द्रिय है, न त्रिइन्द्रिय है, न चौन्द्रिय है, न पचेन्द्रिय पशु है, न नारकी है, न देव है, न मानव है, न स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है, न बालक है, न युवा है, न वृद्ध है, न ब्राह्मण है, न क्षत्री है, न वैश्य है, न शूद्र है, न म्लेच्छ है, न आर्य है, न लघु है, न दीर्घ है, न साधु है, न गृहस्थ है, न बधा है, न खुला है। हरएक जीव सबसे निराला शुद्ध ज्ञाता - दृष्टा वीतराग आनन्दमयी सिद्ध परमात्मा के समान है।

सिद्ध परमात्मा अनेक है, वे सर्व ही अपनी - अपनी सत्ता भिन्न - भिन्न रखते हुए अपने - अपने ज्ञानानन्द का भिन्न - भिन्न अनुभव करते है। वे समान होने पर भी सत्ता से समान नही हैं। जीव का एकत्व उसका शुद्ध निज स्वभाव है, यह हमे निश्चय करना चाहिये। परमाणु मात्र भी कोई अन्य द्रव्य या कोई अन्य जीव या कोई अन्य औपाधिक भाव इस जीव का नही है। यह जीव रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म व शरीरादि नौकर्म से भिन्न है। यह बिलकुल निराला स्वतन्त्र है।

अशुद्ध अवस्था मे भी हरएक को अकेले ही जगत मे व्यवहार करना पडता है, हरएक अपनी हानि व लाभ मे स्वय का उत्तरदायित्व रखता है,

हरएक अपने सुख को व दु ख को आप अकेले भोगता है, हरएक अपनी उन्नति व अवनति स्वय करता है। 'हम न किसी के कोई न हमारा, झूठा है जग का व्यवहार' यह लोकोक्ति बिलकुल सत्य है। यह जीव व्यवहार मे भी अकेला है, अशरण है, निश्चय से भी अकेला व अशरण है। जैन शास्त्रो मे आचार्यो ने जो वाक्य जीव के एकत्व के सम्बन्ध मे कहे है उनका दिग्दर्शन नीचे प्रमाण है –

श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है –

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

भावार्थ :– यह ससारी प्राणी अकेला ही कर्मो को बाधता है, अकेला ही इस अपार ससार मे भ्रमण करता है, अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अपने कर्मो का फल भी अकेला ही भोगता है।

एक्को करेदि पावं विसयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

भावार्थ :– यह प्राणी विषयो के लिए तीव्र लोभी होकर अकेला ही पाप बाधता है, वह अकेला ही नारकी व तिर्यंच होकर उस पापकर्म का फल भोगता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

भावार्थ :– यह अकेला ही धर्म के निमित्त पात्रो को दान देकर पुण्य को बाधता है तथा उस पुण्य का फल अकेला ही देव तथा मनुष्य भव मे भोगता है।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥२०॥

भावार्थ :– मैं निश्चय से एक अकेला हूँ, मेरा कोई भी अन्य नही है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान - दर्शन लक्षण वाला हूँ तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हूँ, ऐसा ज्ञानी सदा चिन्तवन करता है।

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहग्रो य सयलविज्जाग्रो ।
जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ।।८।।

भावार्थ :– जब प्राणी के मरण का समय आता है, तब मणि, मन्त्र, औषधि, रक्षक, घोडे, हाथी, रथ व सर्व विद्याये कोई भी प्राणी को मरण से बचा नही सकती हैं ।

जाइजरमरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा ।
तम्हा आदा सरण बधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ।।११।।

भावार्थ :– जन्म, जरा, मरण, रोग व भय से आत्मा ही अपनी रक्षा आप कर सकता है । इसलिए बन्ध, उदय, सत्वरूप कर्मों से मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपना रक्षक है ।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवझाया साहु पचपरमेष्ठी ।
ते वि हु चेट्ठिदे जम्हा तम्हा आदा हु मे सरणं ।।१२।।

भावार्थ :– अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पाचो परमेष्ठी आत्मा का ही अनुभव करते है । इसलिए मेरे को भी एक अपना आत्मा ही शरण है ।

सम्मत्तं सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव ।
चउरो चेठ्ठदि आदे तम्हा आवा हु मे सरणम् ।।१३।।

भावार्थ – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र व सम्यक् तप ये चारो ही आत्मा के ध्यान से सिद्ध होते है इसलिये मेरे को एक अपना आत्मा ही शरण है ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है –

अहमिक्को खलु सुद्धो, दसणणाणमइग्रो सयारूवी ।
णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्ण परमाणुमित्त वि ।।४३।।

भावार्थ :– मैं एक अकेला हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमयी हूँ, सदा अरूपी हूँ । अन्य एक परमाणु मात्र भी मेरा नही है ।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण सघदणं ।।५५।।

भावार्थ :– जीव के निश्चय से न कोई वर्ण है, न कोई गन्ध है, न कोई रस है, न कोई स्पर्श है, न कोई रूप है, न कोई सहनन (हड्डी का प्रकार) है।

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥

भावार्थ :– जीव के न तो राग है, न कोई द्वेष है, न कोई मोह है, न कर्म आने का भाव आस्रव है, न कर्म है न शरीरादि नौकर्म है।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेय फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणा वा ॥५७॥

भावार्थ :- जीव के न कोई वर्ग है (फलदान शक्ति का अश है), न कोई वर्गणा (कर्म स्कन्ध) है, न स्पर्द्धक (वर्गणा समूह) है, न रागादि अध्यवसाय स्थान है, न फलदान शक्तिरूप अनुभाग स्थान है।

जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बधठाणा वा।
णे वय उदयट्ठाणा णो मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥

भावार्थ :– जीव के न कोई योग स्थान (मन, वचन, काय के व्यापार) है, न बन्ध स्थान है, न कर्म के उदय स्थान है, न गति इन्द्रिय आदि मार्गणा के स्थान है।

णो ठिदि बधट्ठाणा जीवस्स ण सकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिठ्ठाणा णो सजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥

भावार्थ – इस जीव के न कोई स्थितिबन्ध स्थान हैं, न कोई सक्लेश भाव के स्थान है, न विशुद्धि के स्थान है, न सयम लब्धि के स्थान है।

णेव य जीवठ्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥

भावार्थ :– जीव के न कोई जीव समास अर्थात् जीवो के भेद है न गुणस्थान अर्थात् उन्नति की श्रेणिया है क्योकि ऊपर लिखित ये सब पुद्गल - द्रव्य के सयोग से होने वाली अवस्थाए है। जीव का निज स्वभाव नही है।

अहमिक्को खलु सुद्धो य णिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वे एदे खयं णेमि ॥७८॥

भावार्थ :– मैं निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्व रहित हूँ, ज्ञानदर्शन से पूर्ण हूँ, मैं अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप मे स्थित होता हुआ व उसी मे तन्मय होता हुआ इन सर्व ही क्रोधादि भावो का नाश करता हूँ।

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मिठिदा सब्भावे मुणिणो पावती णिव्वाणं ॥१५८॥

भावार्थ :– आत्मा निश्चय से परम पदार्थ है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है। उसी के स्वभाव मे जो लय होते है वे मुनि निर्वाण पाते है।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवयोगो।
कोहे कोहे चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१७१॥

भावार्थ :– ज्ञानोपयोगी आत्मा मे ज्ञानोपयोग धारी आत्मा है,(क्रोधादि मे कोई भी ज्ञानोपयोग नही है। क्रोध मे क्रोध है, उपयोग मे कोई क्रोध नही है)। भावार्थ यह है कि क्रोध भिन्न है, आत्मा भिन्न है।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो।
उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥१७२॥

भावार्थ :– आठ प्रकार कर्म मे व शरीरादि नौ कर्म मे भी ज्ञानोपयोगी आत्मा नही है, न ज्ञानोपयोगी आत्मा मे कर्म व नौकर्म है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते है –

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारण तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमत्ता णेव कत्तीणं ॥७१॥

भावार्थ :– निश्चय से मैं आत्मा अकेला हूँ, न मै देह हूँ, न मै वचन हूँ, न मै मन हूँ, न मैं मन, वचन, काय का कारण हूँ, न मै इनका कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ, न करने वालो की अनुमोदना करने वाला हूँ।

णाह होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाण हवदि झादा ॥१०३॥

भावार्थ :– ज्ञानी जानता है कि निश्चय से न मै शरीरादि का हूँ न शरीरादि मेरे है। मै तो एक ज्ञान स्वरूप शुद्ध हूँ, ऐसा जो ध्यान मे ध्याता है वही आत्मध्यानी होता है।

एवं णाणप्पाण दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालब मण्णेऽह अप्पगं सुद्धं ॥१०४॥

भावार्थ – मैं अपने आत्मा को ऐसा मानता हूँ कि यह आत्मा पर-भावो से रहित निर्मल है, निश्चल एकरूप है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनमयी है, अतीन्द्रिय है, महान पदार्थ है, निश्चल है तथा परद्रव्य के आलम्वन से रहित स्वाधीन है ।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाऽध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१०५॥

भावार्थ :– औदारिक आदि पाच शरीर अथवा धन धान्यादिक अथवा इष्ट अनिष्ट पचेन्द्रियो के सुख तथा दु ख अथवा शत्रु मित्र आदि लोक कोई भी इस जीव के नही है, ये सव नाशवन है, जवकि जीव ज्ञान दर्शन स्वरूप अविनाशी द्रव्य है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है –

एगो मे सास्सदो अप्पो णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५६॥

भावार्थ :– मेरा आत्मा एक अकेला है, अविनाशी है, ज्ञान व दर्शन लक्षरणधारी है, रागादि सर्व भाव मेरे नही है वे सव कर्म के सयोग से उत्पन्न हुए है ।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइनिहणो य ।
दसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि ॥१४८॥

भावार्थ :– यह जीव निश्चय से अपने ही शुद्ध भावो का कर्त्ता है व शुद्ध भावो का भोक्ता है, अमूर्तिक है, शरीर प्रमाण आकारधारी है, ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने मोक्षपाहुड मे कहा है –

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवम णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाण हवइ सद्दव्वं ॥१८॥

भावार्थ :– यह आत्मा एक सत् द्रव्य है, दुष्ट आठ कर्मो से रहित है, अनुपम है, ज्ञानाकार है, अविनाशी है, व शुद्ध है, ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुम केवलं णाणं ॥३५॥

भावार्थ :— आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वलोकदर्शी है, यही केवल ज्ञानमय है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

(६) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है —

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स फले, समुवट्ठिदमि दुक्खमि ।
जादिजरामरणरुजा–, चिंताभयवेदणादीए ॥१७३४॥

जीवाण णत्थि कोई, ताण सरण च जो हविज्ज इद ।
पायालमदिगदो विय, ण मुच्चइ सकम्मउदयम्मि ॥१७३५॥

भावार्थ :— उदय आने पर ना इलाज ऐसा कर्म का फल जब होता है तव जन्म, जरा, मरण, रोग, चिन्ता, भय, वेदना आदि दु ख जीवो के ऊपर यकायक आ जाते है, उस समय कोई रक्षा करने वाला नही होता है । जिस जीव पर इनका आक्रमण होता है, उसे अकेले ही भोगना पडता है । यदि जीव पाताल मे भी चला जावे तो भी उदय मे प्राप्त कर्म फल दिये बिना नही रहता है ।

दंसणणाणचरित्तं तवो य ताण च होइ सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासण, हेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ॥१७४६॥

भावार्थ :— जीव के कर्म की उदीरणा या तीव्र उदय होते हुए कर्म के नाश करने को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप ही परम शरण है और कोई अन्य रक्षक नही है ।

पावं करेदि जीवो, बंधवहेदुं सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फल, एक्को सो चेव वेदेदि ॥१७४७॥

भावार्थ :— यह जीव अपने बान्धवो के निमित्त व अपने शरीर के लिए पाप कर्म करता है बहुत आरम्भ व परिग्रह मे लीन होकर ऐसा पाप बध करता है जिसका फल नरकादि कुगति मे अकेला ही इसको भोगना पडता है ।

रोगादिवेदणाओ, वेदयमाणस्स णिययकम्मफल ।
पेच्छता वि समक्ख, किंचिवि ण करंति से णियया ॥१७४८॥

भावार्थ :— अपने कर्म का फल रोगादि वेदना है उसको भोगते हुये जीव का कोई दुःख दूर नही कर सकता है, कुटुम्ब परिवार के लोग सामने बैठे देखते रहते हैं तो भी वे कुछ नही कर सकते है तब और कौन दु ख दूर कर सकेगा ?

णीया अत्था देहा-, दिया य संगा ण कस्स इह होंति ।
परलोगं मुण्णिता, जदि वि वइत्तति ते सुट्ठु ॥१७५०॥

भावार्थ :— परलोक को जाते हुये जीव के साथ स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, देहादि परिग्रह कोई नही जाते है, यद्यपि इसने उनके साथ बहुत प्रीति करी है तो भी वे निरर्थक हैं, साथ नही रहते ।

होऊण अरी वि पुणो, मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी, जायदि अवयारकरणेण ॥१७६१॥
तम्हा ण कोइ कस्सइ, सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुन्ति जगे, णीया व अरी व जीवाणं ॥१७६२॥

भावार्थ :— बैरी भी हो परन्तु यदि उसका उपकार करो तो मित्र हो जाता है तथा अपना पुत्र भी अपकार किये जाने पर क्षण मे अपना शत्रु हो जाता है, इसलिये इस जगत में कोई किसी का मित्र व शत्रु नही है, स्वार्थ के वश ही जगत मे मित्र व शत्रु होते है ।

जो जस्स वट्टदि हिदे, पुरिसो सो तस्स बंधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिदं, सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो ॥१७६३॥

भावार्थ :— जिसका जो हित करता है वह उसका बाधव हो जाता है व जो जिसका अहित करता है वह शत्रु हो जाता है ।

(७) श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश मे कहते है —

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ॥८॥

भावार्थ — शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु आदि सर्व का स्वभाव अपने से जुदा है तो भी मूढ पुरुष उनको अपना मान लेता है ।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसन्ति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्याति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥९॥

भावार्थ :– पक्षिगण भिन्न - भिन्न देशों से आकर संध्या के समय वृक्ष पर बैठ जाते है, सवेरा होते - होते अपने - अपने कार्यवश भिन्न - भिन्न दिशाओं मे उड जाते है इसी तरह कुटुम्ब के लोग है, किसी का किसी से सम्बन्ध नही है ।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

भावार्थ :– मै एक अकेला हूँ, कोई नही है, मैं निश्चय मे शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ, योगियों के ध्यानगम्य हूँ, जितने कर्म के संयोग से होने वाले भाव है वे सब बिलकुल मेरे से भिन्न है ।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

भावार्थ :– मै आत्मा हूं, मेरा मरण नही, मुझे मरने से क्या भय ? न मेरे मे रोग है, मुझे रोग का क्या कष्ट ? न मैं बालक हू, न मैं युवक हू, न मैं वृद्ध हू, ये सब शरीरमयी पुद्गल की अवस्थाए है, मैं इनसे भिन्न हू ।

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैवगुरुरात्मनः ॥३४॥

भावार्थ :– आत्मा का सच्चा गुरु अपना आत्मा ही है, अपने ही मे अपना भला करने की इच्छा होती है । आप ही अपने हित को जानता है व आप ही अपने को हित साधन मे प्रेरणा करता है ।

(८) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते है –

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्र भार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिमन्यते हा हतं जगत् ॥१४॥

भावार्थ – शरीर को अपना मानने से ही पुत्र, स्त्री आदि की मान्यताए हो जाती है इसलिये अज्ञानी उन्ही स्त्री, पुत्रादि को अपना मानता हुआ नष्ट हो रहा है ।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

भावार्थ :– जो आत्मा से भिन्न है, वह ग्रहण करने योग्य नही है, उसे यह कभी ग्रहण नही करता है। जो इसका स्वभाव है, जिसे यह ग्रहण किये हुये है उसे यह कभी छोडता नही है। जो सर्व को सर्वथा जानता है और स्वानुभवगम्य है वही मैं हू।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहु. ॥२३॥

भावार्थ :– जिस स्वरूप से मैं अपने मे अपने द्वारा अपने को अपने समान ही अनुभव करता हू वही मै हू। न मैं पुरुष हू, न स्त्री हू, न नपुसक हूं, न मै एक हू, न दो हू, न मै बहुवचन हू।

यदभावे सुषुप्तोऽह यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

भावार्थ :– जिस स्वरूप के न जानने से मैं सोया हुआ था व जिस स्वरूप के जानने से मै जाग उठा यह मेरा स्वरूप इन्द्रिय गोचर नहीं हैं, कथन योग्य नही है। मात्र मै अपने से ही अनुभवगोचर हू।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मा प्रपश्यत.।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

भावार्थ :– जब मैं निश्चय से अपने ज्ञान स्वरूप को अनुभव करता हूं तब मेरे रागादिभाव सब नाश हो जाते हैं इसलिये इस जगत मे न कोई मेरा शत्रु है, न कोई मेरा मित्र है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

भावार्थ :– यह जगत् मेरे सच्चे शुद्ध स्वरूप को देखता ही नहीं है, इसलिये न मेरा शत्रु हो सकता है न-मित्र तथा जो ज्ञानी मेरे शुद्ध स्वरूप को देखता है वह भी मेरा शत्रु या मित्र नहीं हो सकता है।

यः परात्मा स एवाहं योऽह स परमस्ततः।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

भावार्थ – जो कोई परमात्मा है वह मै ही हू, तथा जो मैं हू वही परमात्मा का स्वरूप है, इसलिये मै ही अपनी आराधना करता हू और किसकी सेवा करू यही सत्य बात है।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रिय ।
अन्त पश्यामि सानंदं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

भावार्थ :– जो कुछ मैं इन्द्रियों से देखता हू वह मेरा नही है । जब मैं इन्द्रियो को रोककर अपने भीतर देखता हू तो वहा परमानन्दमयी उत्तम ज्ञानज्योति को पाता हू, वही मैं हू ।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

भावार्थ :– यह आत्मा आप ही अपने को ससार मे भ्रमण कराता है व आप ही अपने को निर्वाण मे ले जाता है । इसलिये परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है और कोई गुरु या रक्षक नही है ।

(६) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है –

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलम् ।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम् ।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रव सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

भावार्थ :– यह तेरा घर तुझे मरणादि आपत्तियो से बचा नही सकता, ये तेरे बान्धव तेरे को स्नेह पाश मे बाधने वाले है, दीर्घ काल की परिचित स्त्री आपदाओ के घर का द्वार है, ये तेरे पुत्र है, वे भी तेरी आत्मा के शत्रु हैं । इन सर्व से मोह छोड । यदि तू सहज सुख को चाहता है तो निर्मल धर्म का सेवन कर ।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणे ।
सम्बन्धेन किमङ्गशश्वदशुभैः सम्बन्धिभिर्बन्धुभिः ॥
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा ।
देहिन् याहि सुखाय ते सममुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

भावार्थ :– हे प्राणी ! तेरे पास यह जो धन है सो आशारूपी अग्नि को बढाने के लिये ईंधन के समान है, तथा हे भव्य ! तेरे सम्बन्धी बन्धुओ से तुझे क्या लाभ ? जिनके निमित्त से सदा तू अशुभ मे प्रवृत्ति करता है,

तथा यह देह रूपी घर, मोहरूपी सर्प का बिल है, इससे भी क्या ? तू इन सबसे स्नेह छोड और एक समताभाव को भज उसी से तुझे सुख होगा, प्रमाद मत कर ।

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः ।
योगिगम्यं तव प्रोक्त रहस्यं परमात्मनः ॥११०॥

भावार्थ :– मेरा कोई नही है, मैं अकेला हू, ऐसी भावना कर, इसी से तू तीन लोक का स्वामी हो जायेगा । यह योगियो के जानने लायक भेद तुझे कहा गया है । इसी से परमात्मा का स्वरूप प्रगट होता है ।

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता ।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् का सा तप फले ॥२४२॥

भावार्थ :– यह शरीर मेरा है और मैं इसका, यह प्रीति ईति या अकस्मात् टिड्डीदल, मृषकदल आदि के समान उपद्रव की करने वाली है । जव तक शरोर मे आत्मा मोहित है तब तक तप के फल की आशा क्या ? अर्थात् तब तक तप से मोक्ष पाने की आशा करनी वृथा है ।

मामन्यमन्यं मा मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे ।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥२४३॥

भावार्थ :– भ्रम वुद्धि के होने पर तूने अपने को शरीर रूप जाना और कायादिक को अपना स्वभाव जाना । इस विपरीत ज्ञान से तू ससार रूपी समुद्र मे भ्रमण करता रहा । अब तू यह जान कि मैं पर पदार्थ नही हू, मैं मैं ही हू, पर पर ही है, उनमे मै नही, मै मै नही हू, मैं आत्मा हू और सब मुझसे भिन्न है ।

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनो ।
भेद एव यदि भेदवत्स्वडल बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा ॥२५३॥

भावार्थ – जिस देह के साथ इस जीव का दूध पानी के समान सम्बन्ध चला आ रहा है वह देह ही जब जीव से भिन्न है तब और बाहरी चेतन व अचेतन पदार्थों की क्या कथा ? वे तो अपने से भिन्न ही है । तैजस व कार्मण शरीर भी जीव का नही है ।

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात् ।
इह देह परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥२५४॥

भावार्थ :– ज्ञानी विचारता है कि मै इस देह के सयोग से उसी तरह दु खी रहा जैसे अग्नि के सयोग से पानी सतापित होता है। इसीलिये कल्याण के अर्थी साधुओ ने देह का ममत्व छोडकर शातिलाभ की।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्त्तं कर्ता भोक्ता सुखी बुधः ।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्ध्वमचल प्रभु ॥२६६॥

भावार्थ :– यह आत्मा कभी पैदा हुआ नही इससे अजन्मा है, कभी नाश नही होगा इससे अविनाशी है, अमूर्तिक है, अपने स्वभावो का कर्ता व अपने सहज सुख का भोक्ता हे, परम सुखी है, ज्ञानी है, शरीर मात्र आकार-धारी है, कर्ममलो से रहित लोकाग्र जाकर ठहरता है, निश्चल है तथा यही प्रभु है, परमात्मा हे।

(१०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन मे कहते है –

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः ।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षण ॥१४७॥

भावार्थ :– मैं चैतन्य हूँ, लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशी हूँ, अमूर्तिक हूँ, शुद्धात्मा हूँ, सिद्ध समान हूँ व ज्ञानदर्शन लक्षणधारी हूँ।

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः ।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥१४८॥

भावार्थ :– अन्य मै नही हूँ, मैं अन्य नही हूँ, न मैं अन्य का हूँ, न अन्य मेरा है। अन्य है सो अन्य है, मै मै हूँ, अन्य अन्य का है, मैं ही मेरा हूँ। भावार्थ – आत्मा सबसे भिन्न है।

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतन ।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षय ॥१४९॥

भावार्थ :– शरीर जुदा है, मै जुदा हूँ, मैं चेतन हूँ, शरीर अचेतन जड है। शरीर अनेक परमाणुओ से रचा गया है, मै एक अखण्ड हूँ। शरीर नाशवन्त है, मैं अविनाशी हूँ।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः ।
स्वोपात्तदेहगात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

भावार्थ :– मै सत् द्रव्य हू, चेतन स्वरूप हू, ज्ञाता दृष्टा हू, सदा ही उदासीन हू । अपने प्रति देह के आकार हू, तो भी आकाश के समान देह से जुदा हू ।

(११) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे कहते है :–

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः ।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥९॥

भावार्थ :– यह आत्मा चैतन्य स्वरूप है, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित ज्ञानादि गुण व उनकी शुद्ध पर्यायो को रखने वाला है । स्वभाव से ध्रुव है, परिणमन की अपेक्षा उत्पाद व्यय स्वरूप है ।

(१२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार मे कहते हैं :–

कस्याऽपत्य पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।
एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥३४-६॥

भावार्थ :– किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता, किसकी स्त्री ? यह जीव इस दुस्तर ससार - समुद्र मे अकेला ही भ्रमता रहता है ।

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।
हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥३५-६॥

भावार्थ :– यह जीव सचेतन है, शरीर से जुदा है, शरीर अचेतन है, जीव से जुदा है । खेद है कि तो भी मानव इन दोनो के भेद को नही समझते हैं ।

(१३) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते है –

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०-१॥

भावार्थ – शुद्ध निश्चय से वास्तव मे इस आत्मा का स्वभाव रागादि परभावो से भिन्न है - अपने ज्ञानादि गुणो से पूर्ण है, अनादि अनन्त है, इसमे सकलपविकल्प के जाल नही है, यह सदा प्रकाशमान है ।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्तः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३-२॥

भावार्थ :— यह जीव चैतन्यशक्ति से सम्पूर्ण भरा हुआ है। इसके सिवाय जितने रागादि भाव है वे सब पुद्गल जड के रचे हुए है।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंस ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥५-२॥

भावार्थ :— वर्ण, गन्ध, रसादि व राग मोहादि भाव ये सब इस आत्मा से भिन्न है। जब निश्चय से भीतर देखा जाता है तो ये सब नही दिखते हैं, एक उत्कृष्ट आत्मा ही दिखता है।

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यामवाधितम् ।
जीवः स्वय तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥६-२॥

भावार्थ :— यह जीव अनादि अनन्त है, स्वभाव से निश्चल है, स्वानुभव-गम्य है, प्रगट है, चैतन्यरूप है, अपने मे ही पूर्ण उद्योतरूप है।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेः तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुणित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयाः
किं द्रव्यान्तरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२-१०॥

भावार्थ :— शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से देखा जावे तो तत्व का यह स्वरूप है कि एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कदापि भी नही झलकता है। ज्ञान जो पदार्थो को जानता है वह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का प्रकाश है, फिर क्यो मूढ जन परद्रव्य के साथ रगाभाव करते हुए आकुल व्याकुल होकर अपने स्वरूप से भ्रष्ट होते है।

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथक् वस्तुता—
मादानोज्झनशून्यमेतदमल ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो ययास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ॥४२-१०॥

भावार्थ :— आत्मा का स्वभाव जो ज्ञान है वह अन्य द्रव्यो मे नही है। आत्मारूपी द्रव्य मे निश्चल ठहरा है, सर्व अन्य पदार्थों से पृथक् है। इसमे न

किसी का ग्रहण है, न किसी का त्याग है। यह शुद्ध वीतराग है, जैसा है वैसा ही स्थित है, अनादि व अनन्त है। प्रकाशमान शुद्ध ज्ञान का समूह यह आत्मा अपनी महिमा को लिये हुये नित्य उदय रहता है।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार में कहते है :–

दसणणाणपहाणो असखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१७॥

भावार्थ :– जो दर्शन व ज्ञानमयी है, असख्यातप्रदेशी है, अमूर्तिक है, अपनी देह प्रमाण आकारधारी है उसे ही आतमा जानो।

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेसाओ।
जाइजरामरणं विय णिरजणो सो अहं भणिओ ॥१६॥

भावार्थ :– जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्याए है, न जन्म है, न जरा है, न मरण है वही जो निरजन है सो मैं हूँ ऐसा कहा गया है।

फासरसरूवगधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो।
सुद्धो चेयणभावो णिरजणो सो अह भणिओ ॥२१॥

भावार्थ :– जिसके स्पर्श, रस, वर्ण, गध, शव्दादि नही है, जो शुद्ध चैतन्यमय पदार्थ है वही निरजन है, ऐसा ही मैं हूँ यह कहा गया है।

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो वभो मुणेयव्वो ॥२६॥

भावार्थ – जो मलरहित है, ज्ञानमयी है, परम ब्रह्म स्वरूप है व सिद्ध गति मे विराजमान है, वैसा ही आतमा इस देह मे है ऐसा जानना चाहिये।

णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सोहं सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालम्बो ॥२७॥
सिद्धोहं सुद्धोह अणतणाणाइगुणसमिद्धोह।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

भावार्थ :– यह आतमा निश्चय से नौकर्म तथा कर्म रहित है, केवल-ज्ञानादि गुणो से पूर्ण है, शुद्ध है, सिद्ध है, अविनाशी है, एक अकेला है,

परालम्ब रहित है वैसा ही मै हूँ - मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञानादि गुणो से पूर्ण हूँ, शरीर प्रमाण आकारधारी हूँ, अविनाशी हूँ, असख्यातप्रदेशी हूँ तथा अमूर्तिक हूँ ।

(१५) श्री आचार्य योगीन्दुदेव योगसार मे कहते है --

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ॥२२॥

भावार्थ :-- जो परमात्मा है वही मै हूँ, जो मै हूँ वही परमात्मा है । अर्थात् मेरा स्वभाव परमात्मारूप है । हे योगी ! ऐसा जानकर और विकल्प न कर ।

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ॥२३॥

भावार्थ :-- यह आत्मा शुद्ध प्रदेशो से पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण है, इसी आत्मा का रात - दिन मनन करो, शीघ्र निर्वाण का लाभ होगा ।

सुद्धु सचेयण बुद्ध जिणु केवलणाणसहाउ ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु जइ चाहउ सिव लाहु ॥२६॥

भावार्थ :-- आत्मा शुद्ध है, चैतन्यरूप है, बुद्ध है, जिन है, केवलज्ञान स्वभाव है, उसी का रात - दिन मनन करो जो मोक्ष का लाभ लेना चाहते हो ।

अप्पा दसणु णाण मुणी अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजम सील तऊ अप्पा पच्चक्खाणि ॥८०॥

भावार्थ :-- आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा को ही चरित्र जानो, आत्मा सयम है, शील है, आत्मा ही त्याग है ।

जो अप्पा सुद्ध वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ॥६४॥

भावार्थ :-- जो अपने आत्मा को इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध व अविनाशी सुख मे लीन अनुभव करता है व सर्व शास्त्रो को जानता है ।

(१६) श्री अमितगति आचार्य सामायिक पाठ मे कहते है –

न सन्ति वाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषा न कदाचनाहम् ।
इत्थ विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्व भव भद्रमुक्त्यै ॥२४॥

भावार्थ :- कोई भी मेरे आत्मा से बाहर के पदार्थ मेरे नही है, न मैं उनका कदापि होता हूँ, ऐसा निश्चय करके सर्व बाहरी पदार्थों से ममता त्याग कर हे भद्र! सदा तू अपने स्वरूप मे स्थिर हो जिससे कि मुक्ति का लाभ हो।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मलः साधिगमस्वभावः।
बहिर्भवा सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वता कर्मभवा स्वकीया ॥२६॥

भावार्थ :— मेरा आत्मा सदा ही एक अविनाशी निर्मल ज्ञान स्वभावी है, अन्य रागादि भाव सब मेरे स्वभाव से बाहर है, क्षणिक है व अपने-अपने कर्मो के उदय से हुये है।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं, तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः, कुतो हि तिष्ठंति शरीरमध्ये ॥२७॥

भावार्थ — जिस आत्मा की एकता इस शरीर के साथ ही नही है तो फिर पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के साथ कैसे होगी, जिनका सम्बन्ध शरीर से है। ऊपर का चमडा अलग कर देने पर रोमो के छिद्र शरीर मे कैसे पाये जा सकते हैं? रोमछिद्र चमडे के आश्रय है।

सयोगतो दु:खमनेकभेदं, यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो, यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

भावार्थ :— इस शरीर के सयोग से ही शरीरधारी, ससाररूपी वन मे अनेक दु:खो को भोगता है इसलिये जो अपने आत्मा की मुक्ति चाहता है उसको उचित है कि वह मन, वचन, काय से इस शरीर का ममत्व त्याग करे।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं संसारकातारनिपातहेतुम्।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२९॥

भावार्थ :— सर्व ही मन के विकल्पो को दूर करके जो ससाररूपी वन मे भ्रमण कराने के कारण है, सबसे भिन्न अपने आत्मा को निश्चय करके तू अपने ही परमात्म स्वरूप मे लय हो।

(१७) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना मे कहते हैं —

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भाव: परो विद्यते।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालङ्कृतिम् ॥

यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्वस्थितेः ।
बधस्तस्य न यत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः ॥११॥

भावार्थ :– सर्व भावकर्म, द्रव्यकर्म, नौकर्म रहित व ज्ञान दर्शन गुणो से विभूषित आत्मा को छोडकर न मै किसी का हूँ, न कोई परभाव मेरा है । जिस तत्वज्ञानी के चित्त मे ऐसी बुद्धि है उसका बध सासारिक बधनो से तीन भुवन मे कही नही होता है ।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ॥
तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषा भवन्ति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमति' कार्या सदात्मस्थिता ॥१२॥

भावार्थ :– अनेक प्रकार के उपायो से वढाने पर भी यह देह भी जहा इस आत्मा की नही हो सकती तो पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्र, जमाई, बन्धु आदि जो अपने - अपने पूर्व कर्म के वश आये है व जायेगे, अपने कैसे हो सकते है ? ऐसा जानकर बुद्धिमान को अपनी बुद्धि सदा ही आत्मा के हित मे करनी योग्य है ।

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बाधवा मेऽग्रजा ।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः ॥
इत्थं घोरममत्वतामसवशाव्यस्तावबोधस्थितिः ।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्त्रस्यते ॥२५॥

भावार्थ :– मेरी माता है, मेरी स्त्री है, मेरा घर है, मेरे बन्धु है, मेरा भाई है, मेरा पिता है, मेरी सम्पदा है, मेरा सुख है, मेरे सज्जन हैं, मेरे नौकर हैं, इस तरह घोर ममता के वश से तत्वज्ञान मे ठहरने को असमर्थ होकर परम सुख देने वाले आत्महित से यह प्राणी दूर होता चला जाता है ।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा, न कांता न माता न भृत्या न भूपा ।
यमालिंगितुं रक्षितुं सति शक्ता, विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैं ॥३३॥

भावार्थ :– जिस शरीर को आत्मा से जुदा होते हुये न तो वैद्य बचा सकते हैं, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न स्त्री, न माता, न नौकर, न राजागण ।

ऐसा जानकर आर्य पुरुषों को आत्मा के हित को करना चाहिये, शरीर के मोह मे आत्महित को न भूलना चाहिये ।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः, स्वकीयो न देहः समं यत्र याति ।
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र, प्रबुद्धयेति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ॥३४॥

भावार्थ :— नाना उपायो से सदा पालने रहते भी जहा यह अपना देह साथ नही जा सकता तब बाहरी पदार्थ किस तरह हमारे हो सकते है ? ऐसा जानकर किसी भी पर पदार्थ मे मोह करना उचित नही है ।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणी ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

भावार्थ :— मै शूर हूँ, बुद्धिमान हूँ, चतुर हूँ, सबसे अधिक धनवान हूँ, मै मान्य हूँ, मै गुणवान हूँ, मै समर्थ हूँ, मै सबसे बड़ा मुखिया हूँ । हे आत्मन ! तू उस पापकारी कल्पना को छोड़कर सदा ही अपने निर्मल आत्म तत्त्व का ध्यान कर जिससे मोक्ष - लक्ष्मी का लाभ हो ।

गौरो रूपधरो दृढ़ः परिवृढः स्थूलः कृशः कर्कशः ।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना ॥
मिथ्यात्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतम् ॥७०॥

भावार्थ :— मै गोरा हूँ, मै रूपवान हूँ, दृढ हूँ, बलवान हूँ, मोटा हूँ, दुबला हूँ, कठोर हूँ, देव हूँ, मनुष्य हूँ, पशु हूँ, नारकी हूँ, पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, नपुंसक हूँ । हे मूढ ! तू इन झूठी कल्पनाओं को करके अपने आत्मा को नही समझता है, जो नित्य ज्ञान स्वभावधारी है, सर्व मल रहित है व सर्व आपत्तियो से बाहर है ।

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम् ॥११२॥

भावार्थ :— जब मरण किसी संसारी आतुर प्राणी पर आता है तब मन्त्री, पैदल सिपाही, पुरोहित, देव, विद्याधर, असुर, इन्द्र आदि कोई भी रक्षा नही कर सकते है ।

विविधसंग्रहकल्मषमगिनो विदधतेंगकुटुम्बकहेतवे ।
अनुभवत्यसुखं पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्सहम् ॥११४॥

भावार्थ – प्राणी शरीर व कुटुम्ब के लिए नाना प्रकार के पापो को वाधता है परन्तु उनका फल उस अकेले को ही नरक मे जाकर असहनीय दु ख भोगना पडता है ।

(१८) श्रीचन्द्रजी वैराग्यमणिमाला मे कहते है –

एको नरके याति वराकः स्वर्गे गच्छति शुभसविवेक· ।
राजाप्येक. स्याच्च धनेश. एकः स्यादविवेको दासः ॥६॥
एको रोगी शोकी एको दु·खविहीनो दु.खी एकः ।
व्यवहारी च दरिद्री एक एकाकी भ्रमतीह वराकः ॥१०॥

भावार्थ :-- यह जीव अकेला ही बिचारा नर्क मे जाता है, कभी पुण्य - वाध के अकेला ही स्वर्ग मे जाता है, अकेला ही कभी राजा, कभी धनिक, कभी अज्ञानी व दास हो जाता है, अकेला ही रोगी, शोकी होता है । अकेला ही सुखी व दु खी होता है । अकेला ही व्यवहारी व दरिद्र होता है । इस तरह से बिचारा अकेला ही भ्रमण करता रहता है ।

(१९) श्री आचार्य कुलभद्र सारसमुच्चय मे कहते है –

ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे सयोगलक्षणाः ॥२४९॥
सयोगेमूलजीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्सयोगसम्बंध त्रिविधेन परित्यजेत ॥२५०॥

भावार्थ :-- मेरी आत्मा ज्ञानदर्शन स्वभाव से पूर्ण है, एक है, अविनाशी है । और सर्व रागादि भाव मेरे स्वभाव से बाहर कर्म के सयोग से हुए है । शरीर और कर्म के सयोग से जीव बराबर दु ख उठा रहे है, इसलिये इस सयोग सम्बन्ध को मन, वचन, काय से मैं त्यागता हूँ ।

(२०) श्री पद्मनदि मुनि एकत्वसप्तति मे कहते है –

अजमेक पर शान्त सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि य स्थिर· ॥१८॥

स एवामृतमार्गस्थ सः एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१६॥

भावार्थ – जो कोई अपने आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परमपदार्थ, शात स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जानकर आत्मा मे स्थिर तिष्ठता है वही मोक्षमार्ग मे चलने वाला है, वही आनन्दरूपी अमृत को भोगता है, वही पूजनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर हे ।

विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः ।
कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत् ॥२६॥

भावार्थ :– यह आत्मा कर्मों के छूट जाने पर सर्व विकल्परूपी तरगो से रहित, शात व अपने केवलज्ञानादि स्वभाव मे स्थिर ऐसा हो जाता है जैसा पवन के सचार विना समुद्र स्थिर रहता है ।

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकल परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मति. ॥२७॥

भावार्थ – जो जो वस्तु या अवस्था परके सयोग से आई है वह सव मुझसे भिन्न है उस सवको त्याग देने से मैं मुक्त ही हूँ, ऐसी मेरी बुद्धि है, ऐसा ज्ञानी विचारता है ।

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकारं परं महः ।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभोभवेत् ॥३५॥

भावार्थ :– क्रोधादि कर्मों के सयोग होने पर भी वह उत्कृष्ट आत्म-ज्योति विकारी नही होती है, जैसे विकार करने वाले मेघो से आकाश विकारी नहीं होता है, ऐसा निश्चय आत्मा का स्वरूप है ।

तदेक परमं ज्ञानं तदेक शुचि दर्शनम् ।
चारित्र च तदेक स्यात् तदेकं निर्मलं तप. ॥३६॥

भावार्थ :– शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, सो ही उत्कृष्ट ज्ञान है, सो ही पवित्र सम्यग्दर्शन है, सो ही एक निर्मल चारित्र है, वही एक निर्मल तप है ।

नमस्यञ्च तदेवैक तदेवैकञ्च मंगलम् ।
उत्तमञ्च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥४०॥

भावार्थ :– वही चैतन्य स्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है, वही एक मगल है, वही एक उत्तम पदार्थ है, सज्जनो के लिए वही एक शरण का स्थान है ।

तदेवैकं परं तत्वं तदेवैकं परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैकं तदेवैकं परं महः ।।४४।।

भावार्थ :– चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही एक उत्कृष्ट तत्व है, सो ही एक परम पद है, सो ही भव्य जीवो के द्वारा आराधने योग्य है, सो ही एक परम ज्योति है ।

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतलम् ।।४७।।

भावार्थ :– ससाररूपी आताप से सदा तप्तायमान प्राणी के लिये वह चिदानद स्वरूप आत्मा है, सो ही हिमालय के समान शीतल यन्त्रधारागृह है अर्थात् फव्वारो का घर है ।

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि ।
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशनम् ।।४६।।

भावार्थ – चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही महान विद्या है, सो ही प्रकाशमान मन्त्र है । तथा वही ससार रूपी रोग को नाश करने वाली औषधि है ।

अहं चैतन्यमेवैक नान्यत्किमपि जातुचित् ।
संबन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृश. ।।५४।।

भावार्थ :– ज्ञानी विचारता है कि मैं एक चैतन्य स्वरूप हूँ, और कोई कदापि नही हूँ । मेरा किसी के साथ कोई सम्बन्ध नही है, मेरा ऐसा दृढ निश्चय है ।

शरीरादिबहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितम् ।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्ते निरन्तरम् ।।५५।।

भावार्थ :– ज्ञानी शरीरादि बाहरी पदार्थों की चिन्ता के सम्बन्ध से रहित होकर शुद्धात्मा मे चित्त को स्थिर करता हुआ निरतर विराजता है ।

(२१) श्री पद्मनदि मुनिश्री उपासक सस्कार मे कहते है .--

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थत. ।
केवल स्वार्जित कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥४८॥

भावार्थ :-- इस जीव का साथी न तो कोई स्वजन है, न परजन है। अपने बाधे हुए कर्म के फल को यह जीव अकेला ही भोगता है।

क्षीरनीरवदेकत्र स्थितयोर्देहदेहिनो. ।
भेदो यदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥४९॥

भावार्थ :-- दूध और पानी के समान एक साथ मिले हुए शरीर और आत्मा मे ही जब भेद है तब अन्य स्त्री आदि की तो बात ही क्या है, वे तो जुदे है ही।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्य· प्रथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्य नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१॥

भावार्थ :-- ज्ञानी को उचित है कि वह आत्मा के स्वरूप की ऐसी भावना करे कि वह आठ कर्मों से व आठ कर्म के कार्यो से जुदा है, चैतन्यमयी है। नित्य है व नित्य आनन्दमयी पद को देने वाला है।

(२२) मुनि श्री पद्मनदि सद्‌बोधचन्द्रोदय मे कहते है --

कर्मबधकलितोप्यबंधनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ॥१३॥

भावार्थ :-- यह आत्मा कर्मबन्ध सहित होने पर भी कर्म बन्ध से रहित है, रागद्वेष से मलीन होने पर भी निर्मल है, देहवान होने पर भी देह रहित है आत्मा का सर्व महात्म्य आश्चर्यकारी है।

व्याधिनाङ्गमभिभूयते परं तद्‌गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः ।
उच्छ्रितेन गृहमेव दह्यते वह्निना गगन तदाश्रितम् ॥२४॥

भावार्थ :-- रोगो से शरीर को पीडा होती है परन्तु उस शरीर मे प्रविष्ट चैतन्य प्रभु को पीडा नही होती है। जैसे अग्नि की ज्वाला से घर जलता है परन्तु घर के भीतर का आकाश नही जलता है। आत्मा आकाश के समान निर्लेप तथा अमूर्तिक है, जल नही सकता है।

बोधरूपमखिलरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥२५॥

भावार्थ :– सर्व रागादि उपाधियो से रहित जो कोई एक ज्ञान स्वरूप है सो ही हमारा है, और कुछ भी परमाणु मात्र भी हमारा नही है। मोक्ष का कारण यही एक तत्व है, यही योगियो का निश्चय मत है।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्रकुरुतोत्तमं बुधाः।
यन्न यात्यपरतीर्थमकोटिभिः क्षालयत्यपि मलं तदन्तरम् ॥२८॥

भावार्थ :– आत्मज्ञान ही एक पवित्र अद्भुत तीर्थ है, इसी तीर्थ रूपी नदी मे पडितजन उत्तम स्नान करो। जो अतरग का कर्म मल करोड़ो नदियो के स्नान से नाश नही होता है, उसे यह तीर्थ धो देता है।

(२३) मुनि श्री पद्मनंदि निश्चयपचाशत् मे कहते हैं –

व्याधिस्तुदति शरीरं न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम्।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥२३॥

भावार्थ :– रोग शरीर को पीडा करता है, उससे अमूर्तिक व शुद्ध ज्ञानमयी आत्मारूप जो मै हूँ सो मुझे पीड़ा नही होती है। आग कुटी को जलाती है, परन्तु कुटी के भीतर के आकाश को नही जला सकती है। आत्मा आकाश के समान अमूर्तिक व निर्मल है।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किन्तु कर्मसंबन्धनात्।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥२५॥

भावार्थ :– निश्चय से क्रोध आदि आत्मा के स्वाभाविक विकार नही हैं, परन्तु कर्म के उदय से सम्बन्ध से विकार है जैसे स्फटिक मणि के नीचे लाल पुष्प है इससे वह लाल दिखती है। आत्मा तो स्फटिक मणि के समान स्वच्छ ही है।

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य।
मुखसंजोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥२६॥

भावार्थ :– कर्मो के उदय से अनेक रागादि विकल्प होते हैं, परन्तु निश्चय से मैं तो परम शुद्ध हूँ, मैं विकारी नही होता हूँ, जैसे विकारी मुख का दृश्य दर्पण मे देखने पर भी दर्पण स्वय विकारी नही होता है।

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरम् ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥२७॥

भावार्थ :– कर्म के उदय से उत्पन्न बाहरी उपाधि की बात तो दूर ही रहे। शरीर, वचन और मन के विकल्पो का समूह भी मुझसे भिन्न है। क्योकि मैं तो शुद्ध हूँ, मेरा शरीरादि कैसे हो सकता है।

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

भावार्थ – कर्म भिन्न हैं तथा कर्म के कार्य सुख तथा दु ख भी भिन्न हैं, इनके होने पर मोही हर्ष तथा विषाद करता है, अन्य कोई नही करता है।

नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झितं परं शान्तं ।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेकं धाम चिद्रूपम् ॥५४॥

भावार्थ :– मैं नय, निक्षेप इत्यादि विकल्पो से रहित परम शात हूँ, मैं चैतन्य रूप एक तेज हूँ, सो शुद्ध अनुभूति से ही अनुभव करने योग्य हूँ।

(२४) आचार्य श्री शुभचन्द्र ज्ञानार्णव मे कहते है –

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥१—४॥

भावार्थ :– महा आपदाओ से भरे हुए, दु ख रूपी अग्नि से प्रज्वलित और भयानक ऐसे ससार रूपी मरुस्थल (रेती के जगल) मे यह जीव अकेला ही भ्रमण करता रहता है।

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभम् ।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥२—४॥

भावार्थ :– इस ससार मे यह आत्मा अकेला ही तो अपने कर्मों के अनुसार सुख दुःख रूप फल को भोगता है और अकेला ही सर्व गतियो मे एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है।

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथ वा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिन ॥४—४॥

भावार्थ – इस प्राणी के सयोग में, वियोग में, जन्म मे व मरण में, सुख तथा दु:ख भोगने मे कोई भी मित्र साथी नही है, अकेले ही को भोगना पडता है ।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽयं लुप्तबोधादिलोचनः ।
भ्रमत्यविरतं जीव एकाकी विधिवञ्चितः ॥८—४॥

भावार्थ :– यह जीव अपने स्वरूप को न जानता हुआ व ज्ञानादि लोचन को बद किये हुए अपने अज्ञान से कर्मों से ठगाया हुआ एकाकी दीर्घकाल से भ्रमण कर रहा है ।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः ।
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः ॥
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान् ।
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ॥११—४॥

भावार्थ :– यह जीव अकेला ही स्वर्ग मे जाकर देव होता है, और स्त्री के मुख-कमल मे भ्रमरवत् आसक्त हो जाता है, व अकेला ही नर्क मे जाकर तलवारो से छिन्न - भिन्न किया हुआ नरक के खारे जल को पीता है, व अकेला ही क्रोधादि की अग्नि से जलता हुआ कर्मों को बाधता है, तथा अकेला ही आप विवेकी होकर जब सर्व कर्मों के आवरण को दूर कर देता है, तब मुक्त होकर ज्ञान राज्य को भोगता है ।

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्धं प्रति न वस्तुतः ।
अनादिश्चानयो श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ॥२—५॥

भावार्थ :– चैतन्य स्वरूप आप व शरीरादि जड की एकता बध की अपेक्षा से है । निश्चय से देखा जावे तो चेतन अलग है, जड़ अलग है । इन दोनो का अनादिकाल से सम्बन्ध चला आ रहा है, जैसे :– खान मे सुवर्ण और कालिमा का एकपना है, वस्तुत कालिमा अलग है सुवर्ण अलग है ।

ये ये सम्बन्धमायाता पदार्थाश्चेतनेतराः ।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ॥८—५॥

भावार्थ :– इस जगत में जिन चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध जीव के साथ हुआ है, वे सब ही सर्वत्र अपने - अपने स्वरूप से भिन्न - भिन्न हैं, आत्मा उन सबसे जुदा है ।

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान् स्वान् प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिर ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रू पमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रं समाकोकय ।।१२—५।।

भावार्थ :— हे आत्मन् ! तू इस ससार रूपी गहन वन मे मिथ्यादर्शन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई सर्वथा एकान्तरूप खोटी दृष्टि के मार्ग मे भ्रमरूप होता हुआ बाहरी पदार्थों को अपने मान करके सदा दु खी ही रहा है, परन्तु अब तू सर्व भ्रम को दूर कर दे और अपने हीं मे ठहरकर उत्कृष्ट चैतन्यरूपी तेज मे प्रवेश कर और मुक्तिरूपी स्त्री के मुख को देख ।

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ।।१२-३१।।

भावार्थ .— निश्चय नय से न मैं नारकी हूँ, न तिर्यंच हूँ, न मानव हूँ, व देव हूँ, किन्तु सिद्ध स्वरूप हूँ । ये सब नारकी आदि अवस्थाएँ कर्मो के उदय से होती है ।

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ।।२२-३१।।
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करणच्युतम् ।।२३-३१।।
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।
शुद्धमत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ।।२४-३१।।
विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ।।२५-३१।।
विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ।।२६-३१।।
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ।।२७-३१।।

भावार्थ :— आत्मा का निश्चयनय से स्वरूप परमात्मा के समान है । यह ज्ञानाकार है तथा अमूर्तिक है, हलन-चलन क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, निर्विकल्प है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्द का मन्दिर है, ज्ञानापेक्षा सर्वव्यापी है,

अज्ञानी जिसके स्वरूप को नही जान सकते हैं, सदा उदयरूप है, कृत-कृत्य है, कल्याणरूप है, शात है, शरीर रहित है, इन्द्रियो से अतीत है, समस्त ससार के क्लेशरूपी वृक्षो को जलाने के लिये अग्नि के समान है, शुद्ध है, कर्मलेप से रहित है, ज्ञानरूपी राज्य मे स्थित है, निर्मल दर्पण मे प्राप्त प्रतिबिम्ब की तरह प्रभावान है, ज्ञानज्योतिमय है, महावीर्यवान है, पूर्ण है, पुरातन है, सम्यक्तादि आठ गुण (सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व) सहित है, उपाधि रहित है, रोगादि रहित है, प्रमाण अगोचर है, ज्ञानियो के द्वारा जानने योग्य है, सर्व तत्वो का निश्चय करने वाला है, जो बाहरी इन्द्रियादि से ग्रहण करने योग्य नही है, अन्तरग भावो से क्षण मात्र मे ग्रहण योग्य है, ऐसा स्वभाव इस परमात्मस्वरूप आत्मा का है ।

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितम् ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ।।३३-३१।।

भावार्थ :– आत्मा का स्वरूप वचनगोचर नही है, इन्द्रियो से व मन से प्रगट नही है, अनत है, शब्द रहित है, जन्म रहित है, भव भ्रमण से रहित है, निर्विकल्प है ऐसा विचारे ।

यः स्वयमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपरम् ।
निर्विकल्पः स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवलम् ।।२७-३२।।

भावार्थ – ज्ञानी ऐसा ध्याता है कि जो अपने को ही ग्रहण करता है तथा जो अपने से पर है उसको नही ग्रहण करता है ऐसा मैं आत्मा हूँ, उसमे कोई विकल्प नही है, ज्ञानमय है तथा केवल एक अकेला है, और वह अपने से ही अनुभवगम्य है ।

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ।।३५-३२।।

भावार्थ :– जो विशुद्ध है, प्रसिद्ध आत्मा है, परम ज्ञानमय ज्योति स्वरूप है, सनातन है सो ही मैं हूँ, इसलिये इस अविनाशी आत्मा को मैं अपने मे ही देखता हूँ ।

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिकः पटे ।
एवं वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ।।७२-३२।।

भावार्थ :– कपड़े को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होते हुए कोई अपने को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट हुआ नही मानता है, वैसे ही शरीर को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होता हुआ जानकर आत्मा जीर्ण, लाल, मोटा तथा नष्ट नही होता है।

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम्।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्यात्मनिश्चये ।।८३-३२।।

भावार्थ :– ज्ञानी आत्मा के तत्व को भीतर देखकर व शरीर को बाहर देखकर दोनो के भेद मे चतुर होकर आत्मा के स्वरूप के निश्चय मे कभी शिथिल नही होता है।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम्।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ।।६९-३२।।

भावार्थ :– हे आत्मन्! तू आत्मा को आत्मा ही मे आत्माही के द्वारा जान कि यह अतीद्रिय है, वचनो से कथन योग्य नही है, अमूर्तिक हे, कल्पना से रहित है, चिदानन्दमयी है।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम्।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यंतभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ।।१०३-३२।।

भावार्थ :– हे आत्मन्! तू अपने आत्मा को अपने आत्मा से ही इस प्रकार शुद्ध अनुभव कर कि यह आत्मा सर्व लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने वाला अद्वितीय प्रदीप है तथा अतिशय सहजानद की सीमा को उपाधि-रहित प्राप्त हुआ है तथा परम मुनि की बुद्धि से प्रगट उत्कृष्टता पर्यंत जिसका स्वरूप है।

सोऽहं सकलवित्सार्वं सिद्ध साध्यो भवच्युतः।
परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ।।२८-४०।।

तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरु।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ।।२९-४०।।

भावार्थ :-- इस प्रकार अपने को ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्वव्यापक हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मै ही साध्य हूँ, ससार से रहित हूँ, श्रेष्ठ आत्मा हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, विश्वदर्शी हूँ, निरजन हूँ, तब अपना स्वरूप ऐसा झलकता है यह अमूर्तिक है, निष्कलक है, जगत मे श्रेष्ठ है, चैतन्य मात्र है व अतिशय करके ध्यान ध्याता के विकल्प से रहित है।

(२५) भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते है –

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपक विना।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ॥१०-४॥

भावार्थ :– इस जगत में शुद्ध चैतन्यरूप के सिवाय न तो मैं कुछ हूँ, और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा है, इसलिये शुद्ध चैतन्यरूप को छोडकर और कुछ चिंता करना वृथा है, इसलिये मैं उसी मे लय होता हूँ।

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः।
नैव स्थूलो कृशो नाहं किंतु चिद्रूपलक्षणः ॥५-१०॥

भावार्थ :– न मै देह हूँ, न आठकर्म हूँ, न मनुष्य हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न अब्राह्मण हूँ, न मोटा हूँ, न दुबला हू, किन्तु मैं तो एक चैतन्य स्वरूप लक्षणधारी हूँ।

(२६) प० बनारसीदासजी नाटक समयसार मे कहते हैं –

[सवैया इकतीसा]

जहां शुद्ध ज्ञान की कला उद्योग दीसे तहा,
शुद्धता प्रमाण शुद्ध चारित्र को अंश है।
ता कारण ज्ञानी सब जाने ज्ञेय वस्तु मर्म,
वैराग्य विलास धर्म वाको सरवस है॥
राग द्वेष मोह की दशासो भिन्न रहे याते,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जालसो विध्वस है।
निरुपाधि आतम समाधि मे बिराजे ताते,
कहिये प्रगट पूरण परम हस है॥८१॥

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवंत कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप है।
कालसो अतीत कर्म चालसो अभीत जोग,
जालसो अजीत जाकी महिमा अनूप है ।।
मोह को विलास यह जगत को वास मैं तो,
जगत सो शून्य पाप पुण्य अन्ध कूप है।
पाप किने किये कोन करे करि है सो कोन,
क्रिया को विचार सुपने की दोर धूप है ।।६१।।
निरभय निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परकाश मे जगत माइयतु है।
रूप रस गध फास पुदगल को विलास,
तासो उदवस जाको जस गाइयतु है ।।
विग्रहसो विरत परिग्रह सो न्यारो सदा,
जामे जोग निग्रह को चिन्ह पाइयतु है।
सो है ज्ञान परमाण चेतन निधान ताहि,
अविनाशी ईश मानी शीश नाइयतु है ।।१०६।।
जैसे निरभेदरूप निहचै अतीत हुतो,
तैसे निरभेद अब भेद कोन कहेगो।
दीसे कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायो निज थान फिर बाहिर न वहेगो ।।
कबहू कदाचि अपनो स्वभाव त्यागि करि,
राग रस राचिके न पर वस्तु गहेगो।
अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयो,
याही भाति आगामी अनतकाल रहेगो ।।१०७।।
जबहीते चेतन विभावसो उलटि आप,
समे पाय अपनो स्वभाव गहि लीनो है।
तबहीते जो जो लेने योग्य सो सो सब लीनो,
जो जो त्यागि योग्य सो सो सब छाडि दीनो है ।।

लेवे को न रही ठोर त्यागवे को नाहिं और,
वाकी कहा उबरभोजु कारज नवीनो है।
सग त्यागि अंग त्यागि, वचन तरग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा शुद्ध कीनो है ॥१०८॥

करम के चक्र मे फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यो वहिर मुख व्यापत विपमता।
अन्तर सुमती आई विमल बड़ाई पाई,
पुद्‌गलसो प्रीति टूटी छूटी माया ममता ॥
शुद्ध ने निवास कीनो अनुभौ अभ्यास लीनो,
भ्रमभाव छाडि दीनो भीनोचित्त समता।
अनादि अनत अविकलप अचल ऐसो,
पद अवलवि अवलोके राम रमता ॥१४॥

रूप रसवत मूरतीक एक पुद्‌गल,
रूप विन और यो अजीव द्रव्य द्विधा है।
च्यार है अमूरतीक, जीव भी अमूरतीक,
याही तै अमूरतीक वस्तु ध्यान मुधा है ॥
और सो न कवहू प्रगट आपाआपही सो,
ऐसो थिर चेतन स्वभाव शुद्ध सुधा है।
चेतन को अनुभौ आराधे जग तेई जीव,
जिन्ह के अखड रस चाखवे की क्षुधा है ॥११॥

निहचे निहारत स्वभाव जाहि आतमा को,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत वरतमान काल जाको,
केवल स्वरूप गुण लोकालोक भासना ॥
सोई जीव ससार अवस्था माँहि करम को,
करतासो दीसे लिये भरम उपासना।
यहै महा मोह को पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भौ विकार यह व्यवहार बासना ॥४॥

एह छह द्रव्य इनही को है जगतजाल,
तामे पाच जड एक चेतन सुजान है।
काहू की अनन्त सत्ता काहूसो न मिले कोई,
एक एक सत्ता मे अनन्त गुणगान है ।।
एक एक सत्ता मे अनन्त परजाय फिरे,
एक मे अनेक इहि भाति परमाण है।
यहै स्यादवाद यह सतन की मरयाद,
यहै सुख पोष यह मोक्ष को निदान है ।।२२।।

[सवैया तेईसा]

चेतन मडित अग अखडित, शुद्ध पवित्र पदारथ मेरो ।
राग विरोध विमोह दशा, समझे भ्रम नाटक पुद्गल केरो ।।
भोग सयोग वियोग व्यथा, अवलोकि कहे यह कर्मजु घेरो ।
है जिन्हको अनुभौ इह भाति, सदा तिनको परमारथ नेरो ।।१७।।

ज्यो कलधौत सुनार की सगति, भूषण नाम कहे सब कोई ।
कचनता न मिटी तिहि हेतु, वहे फिरि औटिके कचन होई ।।
त्यो यह जीव अजीव सयोग, भयो बहुरूप हुवो नहि दोई ।
चेतनता न गई कबहूँ तिहि, कारण ब्रह्म कहावत सोई ।।१२।।

ज्यो नट एक धरै बहु भेष, कला प्रगटै जग कौतुक देखै ।
आप लखै अपनी करतूति, वहै नट भिन्न विलोकत पेखै ।।
त्यो घट मे नट चेतन राव, विभाव दशा धरि रूप विसेखै ।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनो पद, दु द विचार दशा नहि लेखै ।।१४।।

[सवैया इकतीसा]

प्रथम सुदृष्टिसो शरीर रूप कीजे भिन्न,
तामे और सूक्ष्म शरीर भिन्न मानिये ।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि सोई कीजे भिन्न,
ताहू मे सुबुद्धि को विलास भिन्न जानिये ।।

तामे प्रभु चेतन विराजत अखंड रूप,
वहे श्रुत ज्ञान के प्रमाण ठीक आनिये ।
वाही को विचार करि वाही मे मगन हूजे,
वाको पद साधिवेको ऐसी विधि ठानिये ।।५५।।

अलख अमूरति अरूपी अविनाशी अज,
निराधार निगम निरजन निरध है ।
नानारूप भेष धरे भेष को न लेश धरे,
चेतन प्रदेश धरे चैतन्य का खध है ।।
मोह धरे मोहीसो बिराजे तामे तोहीसो,
न मोहीसो न तोहीसो न रागी निरबध हैं ।
ऐसो चिदानद याहि घट मे निकट तेरे,
ताहि तू विचार मन और सब धध है ।।५४।।

शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है ।
पूरण विज्ञान घन सो है व्यवहार माहिं,
नव तत्वरूपी पच द्रव्य मे रहत है ।।
पच द्रव्य नव तत्व न्यारे जीव न्यारो लखै,
सम्यक दरश यह और न गहत है ।
सम्यक दरश जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है ।।७।।

(२७) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास में कहते है –

[सवैया इकतीसा]

चेतना सरूप जीव ज्ञान दृष्टि मैं सदीव,
कुम्भ आन आन घीव त्यौ सरीर सौ जुदा ।
तीनलोकमाहि सार सास्वतो अखण्डधार,
मूरतीककौ निहार नीरकौ बुदैबुदा ।।

सुद्धरूप बुद्धरूप एकरूप आपभूप,
आतमा यही अनूप पर्मजोतिकौ उदा ।
स्वच्छ आपने प्रमानि राग दोष मोह भानि,
भव्यजीव ताहि जानि छाडि शोक औ मुदा ।।८१।।

चेतना सहित जीव तिहुँकाल राजत है,
ज्ञान दरसन भाव सदा जास लहिए ।
रूप रस गध फास पुद्गल कौ विलास,
मूरतीक रूपो विनासीक जड कहिये ।
याही अनुसार परदर्व कौ ममत्त डारि,
अपनौ सुभाव धारि आपमांहि रहिए ।
करिए यही इलाज जातै होत आपकाज,
राग दोप मोह भावकौ समाज दहिए ।।६३।।

[सिंहावलोकन]

ज्ञानी जानी ज्ञान मे, न मैं वचन मन काय ।
कायम परमारथविषै, विषै-रीति बिसराय ।।
बिषै रीति विसराय, राय चेतना विचारै ।
चारै क्रोध विसार, सार समता विसतारै ।।
तारै औरनि आप, आपकी कौन कहानी ।
हानी ममता बुद्धि, बुद्धिअनुभौतै ग्यानी ।।६।।

सोह सोह होत नित, सास उसासमभार ।
ताकौ अरथ विचारियै, तीन लोक मे सार ।।
तीन लोक मे सार, धार सिव खेत निवासी ।
अप्ट कर्म सौ रहित, सहित गुण अष्टविलासी ।।
जैसौ तैसौ आप, थाप निहचै तजि सोह ।
अजपा-जाप सभार, सार सुख सोह सोह ।।७।।

दरव करम नौकरमतै, भाव करमतै भिन्न ।
विकलप नही सुबुद्धके, सुद्ध चेतना चिन्न ।।

सुद्ध चेतना चिन्न, भिन्न नही उदे भोग मैं ।
सुखदुख देह मिलाप, आप सुद्धोपयोग मैं ।।
हीरा पानी माहि, नाहि पानी गुण ह्वै कब ।
आग लगै घर जलै, जलै नही एक नभदरब ।।८।।
जो जानै सो जीव है, सो मानै सो जीव ।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी ।
आनन्द कद सुबन्द, चन्द पूरन सुखदानी ।।
जो जो दीसै दर्व, सर्वं छिनभगुर सो सो ।
सुख कहि सकै न कोई, होई जाको जानै जो ।।६।।
सब घट मैं परमातमा, सूनी ठोर न कोई ।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होई ।।
जा घट परगट होई, धोई मिथ्यात महामल ।
पच महाव्रत धार, सार तप तपै ग्यानबल ।।
केवल जोत उदोत, होत सर्वज्ञ दसा तब ।
देही देवल देव, सेव ठानै सुर नर सब ।।१०।।
द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल ।
सुर्गइन्द्र अहमिंद्र सब, अधिक अधिक सुख भाल ।।
अधिक अधिक सुखभाल, काल तिहु नत गुनाकर ।
एकसमै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातम पद धर ।।
सो निहचै तू आप, पापविन क्यौ न पिछानत ।
दरस ग्यान थिर थाप आपमे आपसु द्यानत ।।११।।

(२८) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते है –

[कवित्त]

ज्ञान मे है ध्यान मे है वचन प्रमाण मे है,
अपने सुथान मे है ताहि पहचानिरे ।
उपजै न उपजत मूए न मरत जोई,
उपजन मरन व्योहार ताहि मानिरे ।।

रावसों न रंकसो है पानीसो न पकसो है,
अति ही अटंकसो है ताहि नीके जानिरे।
अपनो प्रकाश करै अष्टकर्म नाश करै,
ऐसी जाकी रीति 'भैया' ताहि उर आनिरे ॥१३॥

[सवैया इकतीसा]

जैसो वीतराग देव कह्यो है स्वरूपसिद्ध,
तैसो ही स्वरूप मेरो यामें फेर नाही है।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि मोमें कहू नाहि,
अष्ट गुण मेरे सो तो सदा मोहि पाहि है ॥
ज्ञायक स्वभाव मेरो तिहू काल मेरे पास,
गुण जे अनन्त तेऊ सदा मोहिमाही है।
ऐसो है स्वरूप मेरो तिहुं काल सुद्ध रूप,
ज्ञान दृष्टि देखतें न दूजी परछाही है ॥६॥

[सवैया तेईसा]

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानंद शुद्ध विराजै।
अन्तरदृष्टि खुलै जव ही तव, आपुही मे अपनो पद छाजै ॥
सेवक साहिव कोउ नही जग, कोहेको खेद करै किह काजै।
अन्य सहाय न कोउ तिहारै जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै ॥३६॥

ए मन मूढ कहा तुम भूले हो, हस विसार लगे परछाया।
यामे स्वरूप नही कछु तेरो जु, व्याधिकी पोट वनाई है काया ॥
सम्यक रूप सदा गुण तेरो सु, और वनी सव ही भ्रम माया।
देखत रूप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनन्द वताया ॥४७॥

चेतन जीव निहारहु अंतर, ए सव है परकी जड काया।
इन्द्रकमान ज्यो मेघघटामहि, शोभत है पै रहै नहि छाया ॥
रैन समै सुपनो जिमि देखतु, प्रात वहे सव झूंठ वताया।
त्यो नदि नाव सयोग मिल्यो तुम, चेतहु चित्तमे चेतनराया ॥४८॥

सिद्ध समान चिदानन्द जानिके, थापत है घटके उरके बीच ।
वाके गुण सब बाहि लगावत, और गुणहि सब जानत कीच ।।
ज्ञान अनत विचारत अ तर, राखत है जियके उर सीच ।
ऐसें समकित शुद्ध करतु है, तिनतें होवत मोक्ष नगीच ।।९३।।

[सवैया इकतीसा]

जबै चिदानद निज रूप को सभार देखे,
कौन हम कौन कर्म कहा को मिलाप है ।
रागद्वेष भ्रम ने अनादि के भ्रमाये हमे,
तातें हम भूल परे लाग्यो पुण्य पाप है ।।
रागद्वेष भ्रम ये सुभाव तो हमारे नांहि,
हम तो अनत ज्ञान, भानसो प्रताप है ।
जैसो शिव खेत वसे तैसो ब्रह्म यहा लसै,
तिहू काल शुद्ध रूप 'भैया' निज आप है ।।९।।

जीव तो अकेलो है त्रिकाल तीनोंलोकमध्य,
ज्ञान पुज प्राण जाके चेतना सुभाव है ।
असख्यात परदेश पूरित प्रमान बन्यो,
अपने सहज माहि आप ठहराव है ।।
रागद्वेष मोह तो सुभाव में न याके कहू,
यह तो विभाव पर सगति मिलाव है ।
आतम सुभाव सो विभाव सो अतीत सदा,
चिदानद चेतवेको ऐसे मे उपाव है ।।१०।।

[छप्पय]

ऊरध मध अध लोक, तासु में एक तिहू पन ।
किसिहि न कोउ सहाय, याहि पुनि नांहि दुतिय जन ।।
जो पूरब कृत कर्म भाव, निज आप बध किये ।
सो दुख सुख द्वयरूप, आय इहि थान उदय दिय ।।

तिहि मध्य न कोऊ रख सकति, यथा कर्म विलसंत तिम ।
सब जगत जीव जग मे फिरत, ज्ञानवत भाषत इम ।।१३।।

[सवैया इकतीसा]

आतम अनोपम है दीसै राग द्वेष बिना,
देखो भव्य जीव ! तुम आप मे निहारकै ।
कर्म को न अ श कोऊ भर्म को न वश कोऊ,
जाकी सुद्धताई मैं न और आप टारकै ।।
जैसो शिव खेत बसै तेसो ब्रह्म इहा लसै,
इहा उहा फेर नाहि देखिये विचारकै ।
जेई गुण सिद्धमाहि तेई गुण ब्रह्ममाहि,
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहि निश्चय निरधारकै ।।२।।

[छप्पय]

त्रिविधि कर्मते भिन्न, भिन्न पररूप परसतैं ।
विविधि जगत के चिन्ह, लखै निज ज्ञान दरसतै ।।
वसै आपथल माहि, सिद्ध सम सिद्ध विराजहि ।
प्रगटहि परम स्वरूप, ताहि उपमा सब छाजहि ।।
इह विधि अनेक गुणब्रह्ममहि, चेतनता निर्मल लसै ।
तस पद त्रिकाल वदत भविक, शुद्ध स्वभावहि नित बसै ।।६।।
ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषाये ।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखाये ।।
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै निज मानत ।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ।।
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम ।
निरमल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, चिदानद चेतन धरम ।।८।।

[सवैया इकतीसा]

वर्ण मे न ज्ञान नहि ज्ञान रस पचन मे,
फर्स मे न ज्ञान नही ज्ञान कहू गन्ध मे ।
रूप मे न ज्ञान नही ज्ञान कहू ग्रन्थन मे,
शब्द मे न ज्ञान नही ज्ञान कर्म बन्ध मे ।।

इनतै अतीत कोऊ आतम स्वभाव लसै,
तहा बसै ज्ञान शुद्ध चेतना के खन्ध मे ।
ऐसो वीतराग देव कह्यो है प्रकाशमेव,
ज्ञानवत पावै ताहि मूढ पावै ध्वध मे ।।१०।।

जहा तोहि चलबो है साथ तू तहा को ढूँढि,
इहा कहा लोगन सो रह्यो तू लुभायरे ।
सग तेरे कौन चलै देख तू विचार हिये,
पुत्र कै कलत्र धन धान्य यह कायरे ।।
जाके काज पाप कर भरत है पिंड निज,
ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जायरे ।
तहां तौ अकेलो तू ही पाप पुण्य साथी दोय,
तामे भलो होय सोई कीजे हसराय रे ।।६।।

आंख देखै रूप जहा दौड तू ही लागै तहा,
सुने जहा कान तहा तूही सुनै बात है ।
जीभ रस स्वाद धरै ताको तू विचार करै,
नाक सूघै बास तहा तू ही बिरमात है ।।
फर्स की जु आठ जाति तहा कहो कौन भाँति,
जहाँ तहाँ तेरो नाँव प्रगट विख्यात है ।
याही देह देवल में केवलि स्वरूप देव,
ताकी कर सेव मन कहाँ दौड़े जात है ।।१७।।

[छप्पय]

जो जानहिं सो जीव, जीव विन और न जानें ।
जो मानहिं सो जीव, जीव विन और न मानें ।।
जो देखहि सो जीव, जीव विन और न देखै ।
जो जीवहि सो जीव, जीवगुण यहै विसेखै ।।
महिमा निधान अनुभूत युत, गुण अनन्त निर्मल लसै ।
सो जीव द्रव्य पेखत भवि, सिद्ध खेत सहजहिं बसै ।।१४।।

छठा अध्याय

सहज सुख साधन

यह बताया जा चुका है कि ससार असार दुःखमय है, शरीर अशुचि व अथिर है, इन्द्रियो के भोगो का सुख अतृप्तिकारी व तृष्णावर्द्धक है तथा सहज सुख अपने ही आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अपनी सत्ता को भिन्न रखता है। आप अकेला ही कर्म के सयोगवश दुःख सुख उठाता हुआ भव-भव मे जन्म-मरण करता हुआ भ्रमण करता है। यह अपनी करणी का आप ही उत्तरदायित्व रखता है। कोई इसके दु ख को बटा नही सकता, हर नही सकता। आत्मा का स्वभाव बिलकुल शुद्ध ज्ञातादृष्टा आनन्दमयी तथा परम शात और निर्विकार है। सिद्ध भगवान के समान ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। अब यह बताना है कि सहज सुख जो अपने ही पास है, अपना गुण है वह अपने को कैसे मिले ? सहज सुख का स्वाद आना ही हमारी विषय सुख की तृष्णा के रोग को शमन करने का एकमात्र उपाय है।

किसी वस्तु का स्वाद लेने के लिये यह आवश्यक है कि स्वाद को लेने वाला ज्ञानोपयोग उस वस्तु की ओर एकाग्र हो जावे और उस समय दूसरी चिन्ताओ से रहित हो जावे। उस वस्तु की ओर ज्ञान की थिरता ही उस वस्तु का स्वाद अनुभव कराने मे कारण है। जैसे मिष्ट जल सरोवर मे है ऐसा जानते हुये भी मिष्ट जल का स्वाद तब ही आवेगा जब जल को लेकर जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श कराया जायेगा और मति ज्ञानोपयोग थिर होकर उधर एकाग्र होगा। यदि किसी और काम की तरफ उपयोग आकुलित होगा तो जल को पीते हुये भी जल का स्वाद नही भासेगा।

यदि हमारा ध्यान किसी और कार्य मे है और कोई खटमल काट रहा है तो हमको वेदना नही होगी। जब उपयोग स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा उस काटे हुये स्थल पर जाकर रुकेगा तब ही उस वेदना का ज्ञान होगा। उदास चित्त

होने पर बढिया वस्त्र व रत्नमय आभूषण पहनने पर भी सुख की वेदना नहीं होती, क्योकि उपयोग उनकी सुन्दरता की ओर उपयुक्त नही है। जब उपयोग उन वस्त्र व आभूषणो की तरफ राग सहित लवलीन होगा तब उनके स्पर्श का स्वाद आयेगा।

एक शोकाकुल मानव तीव्र धन की हानि से पीडित है, उसकी प्रियतमा स्त्री उसको प्रेमपूर्वक आलिगन करती है तो भी उस शोकातुर का उपयोग स्त्री के स्पर्श मे लवलीन न होने से उसको स्त्री के स्पर्श का स्वाद नही आयेगा। कचहरी जाने की शीघ्रता मे बहुत ही सुन्दर व रसीली रसोई भी खाई हुई अपने स्वाद के रस का भान नही कराती है क्योकि उपयोग रसोई के खाने मे लवलीन नही है किन्तु व्यग्र है। एक बैरागी साधु के गले मे बहुत ही सुगधित पुष्पो की माला डाल दी जाती है, उस साधु का उपयोग रागसहित उस माला की सुगन्ध लेने मे उपयुक्त नही होता है इसलिये उस साधु को उस सुगन्धी का सुख विदित नही होता।

एक बहुत सुन्दर स्त्री का चित्र किसी रोग की पीडा से पीड़ित मानव के आखो के सामने लाया जाता है, वह पीडा के अनुभव मे लीन है। उसके भीतर रागसहित उस चित्र के देखने का भाव नही होता है। अतएव उस सुन्दर चित्र को देखने का स्वाद उस व्यग्रचित्त रोगी को नही आयगा। एक पति-व्रता स्त्री पति के वियोग से चिन्तातुर बैठी है, उसके सामने नाना प्रकार के सुरीले गान किये जाते हैं परन्तु उसका ज्ञानोपयोग रागसहित उसको नही सुनता है, उन पर उपयोग नही लगता है इसलिये गान सुनने का सुख उस दु खित अबला के अनुभव मे नही आता है। इससे सिद्ध है कि इन्द्रिय सुख व दुःख का भान तब ही होता है जब ज्ञानोपयोग की स्थिरता होती है।

एक मजदूर नगे पैर ज्येष्ठ की धूप मे भार लिये कोसों चला जाता है, उसको पग के जलने का दु ख नही होता क्योकि उसका उपयोग पैसा लाभ करने मे उलझा है, वह उस पग की पीडा सरागभाव से अनुभव नही करता है। उसी जेठ मास की धूप मे यदि किसी धनिक को जो बिना जूता पहने व छतरी लगाए कभी नही चलता है, दस कदम भी नगे पैर चलने को बाधित किया जावे तो वह उपयोग उधर को ही लगाता हुआ बहुत दु ख अनुभव करेगा।

एक साधु आत्मध्यान में तल्लीन है, शरीर पर डॉस - मच्छर काटते है, साधु को किंचित् भी कष्ट नही होता है क्योंकि उपयोग उस तरफ नही आया है। ध्यान हटते ही जैसे ही उपयोग उधर आता है वह काटने की वेदना को अनुभव करता है।

इसी तरह जब सहजसुख आत्मा मे है, आत्मा का स्वभाव है तब उसके लाभ का यही साधन है कि हम अपना उपयोग सर्व ओर से खीचकर एक अपने आत्मा पर ही लगावें। आत्मा के स्वभाव के ज्ञान मे थिरता से जमे। जिस समय उपयोग सर्व अपने आत्मा से भिन्न द्रव्य तथा भावों से हटकर अपने आत्मा के ही शुद्ध गुणो मे रमण करेगा तब ही सहजसुख का स्वाद आएगा।

इसलिये आवश्यक है कि सहजसुख जिसमे है उस आत्मा को भली प्रकार पहचाना जावे। यह विश्वास लाया जावे कि आत्मा है और उसका स्वभाव इस तरह का है और उसी विश्वासयुक्त आत्मा के ज्ञान मे उपयोग को स्थिर किया जावे। इसी को रत्नत्रय मार्ग कहते है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता को रत्नत्रय मार्ग कहते है। यही सहजसुख का साधन है।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध, सिद्ध समान, ज्ञानानंद वीतरागमय है। यह दृढ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी दृढ श्रद्धा सहित आत्मा के स्वभाव का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा इसी श्रद्धा सहित ज्ञान मे थिर होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनो भी आत्मा से भिन्न नही है, आत्मा ही है। जैसे श्री महावीर स्वामी का श्रद्धान व महावीर स्वामी का ज्ञान व महावीर स्वामी का ध्यान महावीर स्वामी से भिन्न नही है, तीनों का लक्ष्यबिंदु एक महावीर स्वामी है। सुवर्ण का श्रद्धान, सुवर्ण का ज्ञान व सुवर्ण का ध्यान सुवर्ण से भिन्न नही है, सुवर्ण ही है। अतएव आत्मा ही स्वय अपने लिये आप ही सहजसुख का साधन है। अर्थात् आत्मा आप ही अपने ध्यान से सहजसुख को पा लेता है। इसलिये आत्मा का ध्यान या आत्मा का अनुभव ही सहज सुख का साधन है।

यह ज्ञानोपयोग पाच इन्द्रियो के विषयो मे या मन के विचारो मे उलझा रहता है। इसी को इनसे हटाकर जब आत्मस्थ किया जाता है, तब ही आत्मा का ध्यान हो जाता है। जैसे एक मानव किसी ऐसे घर मे बैठा है जिस

छ: दिशाओ मे छ: खिडकियाँ है । वह इन खिडकियो के द्वारा सदा ही बाहर देखा करता है । एक खिडकी को छोडकर दूसरी मे, उसको छोडकर तीसरी में, उसको छोडकर चौथी मे, फिर किसी मे, फिर किसी मे, इस तरह इन खिड-कियो के द्वारा बाहर ही देखा करता है, कभी भी खिडकियो से देखना बन्द करके अपने घर को नही देखता है । यदि वह खिडकियो से देखना बन्द करदे, भीतर देखे तो उसे अपने घर का दर्शन हो जावे । पाँच इन्द्रिया और मन ये छह खिडकिया है, इनसे हम बाहर देखा करते है । रात दिन इन ही के विषयो मे उपयोग को रमाते है । इसीसे हमे अपने आत्मा का दर्शन नही होता है यदि एक क्षणभर के लिये भी इनसे उपयोग हटाले और भीतर देखें तो हमे अपने आत्मा का दर्शन हो सकता है ।

जिसका हमको ध्यान करना है वह आप ही है, कोई दूसरी वस्तु नही है । उपयोग जब आत्मा के सिवाय जो जो अन्य पदार्थ है, भाव है या पर्यायें है उनसे हटेगा तब ही आत्मा का अनुभव हो जायेगा । सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य ही आत्मध्यान का साधक है ।

सच्चा ज्ञान तो यह है कि यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, विभाव से अशुद्ध है । सच्चा वैराग्य यह है कि मेरे आत्मा का हितकारी आत्मा के सिवाय कोई और पदार्थ नही है । आत्मा ही मे आत्मा की अटूट अमिट ध्रुव सम्पत्ति है । इसे किसी और वस्तु से राग करने की जरूरत नही है हमे अपने आत्मा का ज्ञान दो अपेक्षाओ से करना चाहिये – एक निश्चयनय, दूसरा व्यवहारनय । जिस दृष्टि से पदार्थ का मूल शुद्ध स्वभाव देखने मे आता है । उस दृष्टि, अपेक्षा, नय को निश्चय नय कहते है । जिस दृष्टि से पदार्थ का भेद रूप स्वरूप व अशुद्ध स्वभाव देखने मे आता है उस दृष्टि, अपेक्षा, नय को व्यवहारनय कहते हैं । वस्तु को शुद्ध अशुद्ध जानने का उपाय यही है, अत: इसको निश्चय-नय तथा व्यवहारनय दोनो से जाना जावे ।

हमारे सामने एक मैला कपडा है । जब तक इसको निश्चयनय तथा व्यवहारनय दोनो से न जाना जायेगा तब तक इसको साफ करने का उपाय नही बन सकेगा । निश्चय नय से कपडा स्वभाव से सफेद रुई का बना हुआ है इस-लिये सफेद स्वच्छ है । अर्थात् निश्चयनय से देखते हुए वही मैला कपडा सफेद

स्वच्छ दिखता है क्योकि कपडा तो उतना ही है, मैल तो ऊपर से चढा हुआ धु ंआ है, या चढी हुई रज है, या चढा हुआ पसीना है, कपडे का स्वभाव अलग है, मैल का स्वभाव अलग है, मैल है सो कपडा नही, कपडा है सो मैल नही, इसलिये असल मे मूल स्वभाव मे कपडा सफेद स्वच्छ है ऐसा ही कपडे को देखना निश्चयनय का काम है। व्यवहारनय से कपडा मैला है क्योकि मैल ने स्वच्छता को ढँक दिया है। कपडा मैला दिखता है। मैल के सयोग से मलीनता कपडे मे हो रही है। कपडे की वर्तमान अवस्था विभावरूप है, अशुद्ध है, दोनो ही दृष्टियो से दो भिन्न बातो को देखना ठीक है, निश्चयनय से कपडा स्वच्छ है, यह स्वभाव की दृष्टि भी ठीक है। व्यवहारनय से कपडा मलीन है, यह विभाव की दृष्टि भी ठीक है यदि कोई एक ही दृष्टि को माने दूसरी दृष्टि को सर्वथा न माने तो ज्ञान उस मैले कपडे का ठीक न होगा। और कभी भी कपडा साफ नही किया जा सकेगा।

यदि कोई निश्चयनय का पक्ष पकडकर यह ही माने कि कपडा स्वच्छ ही है, उजला ही है, यह मैला है ही नही तो माननेवाला कभी कपडे को साफ करने का उद्यम न करेगा। इसी तरह यदि कोई व्यवहारनय का पक्ष पकडकर यह ही माने कि यह कपडा मैला ही है, मैला ही रहना इसका स्वभाव है, तो ऐसा मानने वाला भी कभी कपडे को स्वच्छ न करेगा। दोनो मे से एक दृष्टि से देखने वाला कभी भी कपडे को साफ नही कर सकता। जो कोई दोनो दृष्टियो से कपडे को देखेगा कि यह कपडा स्वभाव से तो स्वच्छ है परन्तु वर्तमान मे इसकी स्वच्छता को मैल ने ढँक दिया है, मैल कपडा नही, कपडा मैल नही, दोनों अलग २ स्वभाव वाले हैं तब अवश्य मैल को किसी मसाले से धोया जा सकता है, ऐसा यथार्थ ज्ञान एक बुद्धिमान को होगा और वह कपडे को अवश्य स्वच्छ कर डालेगा। इसी तरह यह आत्मा दोनो नयो से जानने योग्य है। निश्चयनय से यह बिल्कुल निराला, अकेला, सिद्ध समान शुद्ध है, ज्ञाता है, दृष्टा है, निर्विकार है, वीतराग है, अमूर्तिक है, परमानन्दमय है, इसमे कोई मलीनता व अशुद्धता नही है। न इसके आठो कर्मो का बन्धन है न रागद्वेष क्रोधादि भावकर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म है। इसके मन, वचन, काय नही है। यह एकाकी, स्वतत्र, परम शुद्ध स्फटिकमणि के समान है। यही इस आतम द्रव्य का निज स्वभाव है, मूल स्वभाव है, निजतत्व है।

व्यवहारनय से यह आत्मा कर्म बध सहित है, पाप-पुण्य को रखता है, सुख दु ख को भोगता है। क्रोधादि भावो मे परिणमता है, इन्द्रियो व मन से बहुत थोडा जानता है। यह बहुत सी बातो का अज्ञानी है। वर्तमान मे पुद्गल के सयोग से जो इसकी अशुद्ध सासारिक अवस्था हो रही है इस बात का ज्ञान व्यवहार नय या पर्याय दृष्टि द्वारा देखने से होता है। दोनो ही बातें अपनी २ अपेक्षा से सत्यार्थ है।

स्वभाव आत्मा का शुद्ध है, विभाव अशुद्ध है। यदि निश्चयनय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा को शुद्ध मानले तो कभी आत्मा को शुद्ध करने का यत्न नही हो सकेगा और जो व्यवहारनय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा को अशुद्ध ही मानले तो भी शुद्ध करने का यत्न नही हो सकेगा। यत्न तब ही हो सकेगा जब निश्चयनय से स्वभाव मे शुद्ध होने पर भी व्यवहारनय से विभाव मे हो रहा है इसलिये अशुद्ध है। यह अशुद्धता पुद्गल के सयोग से है। इसलिये इस सयोग को हटाया जा सकता है, ऐसा भाव जब होगा तब ही आत्मा के शुद्ध करने का प्रयत्न हो सकेगा। यही आत्मा का सच्चा ज्ञान है। सच्चा वैराग्य है, आत्मा का स्वभाव मे रहना ही आत्मा की सुन्दरता है। यदि यह स्वभाव मे हो, इसे किसी बात के जानने देखने की चिन्ता न हो, कोई क्रोध, मान, माया, लोभ का क्लेश न हो, कोई तृष्णा न हो, कोई दु ख न हो, कोई विकार न हो, कोई जन्म-मरण न हो, सदा ही अपने स्वाभाविक सहज सुख का अनुभव हो। कर्म का सयोग तथा शरीर का सम्बन्ध इसके गुणो का घातक है, इसकी सुन्दरता को बिगाडने वाला है, इसे आकुलित, खेदित, शोकित रखने वाला है।

अतएव मुझे किसी भी परमाणु मात्र पुद्गल से प्रयोजन नही है, न पुण्य से, न पाप से, न सासारिक क्षणिक सुख से, न दु ख से, न इन्द्र अहमिंद्र पद से, न चक्रवर्ती विद्याधर, नरेन्द्र पद से। कोई भी ससार की अवस्था मेरे लिये हितकारी नही है। ऐसा सच्चा वैराग्य हो तो ससार मात्र विरस दीखे। सर्व ही कर्म का सयोग त्यागने योग्य दीखे, सिवाय निज स्वभाव के और सबको अकार्यकारी स्वभाव विकारक जानकर सबसे मोह रागद्वेष छोड देना यही सच्चा

वैराग्य है । सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ आत्म ध्यान करना ही रत्नत्रय धर्म है या सहज सुख का साधन है ।

जैसे मलीन कपड़े को स्वच्छ करने के लिये कपडा स्वच्छ है, मैल के संयोग से मैला है । इस सच्चे ज्ञान को तथा कपड़े के स्वभाव को ढकने वाले मैल की कोई जरूरत नही है, यह कपडे के लिए अहितकारी है, ऐसे सच्चे वैराग्य की जरूरत है, और साथ साथ इस सच्चे ज्ञान व वैराग्य को लिये हुए कपडे पर ध्यान लगाने की जरूरत है, तब कपडा स्वच्छ होगा वैसे ही ज्ञान वैराग्य के साथ आत्मा के ध्यान से आत्मा शुद्ध होगा ।

यदि कोई कपडे को स्वच्छ करने की इच्छा रखता हुआ कपडे पर मसाला रखके इधर उधर ध्यान रक्खे, कपडे पर ध्यान न रक्खे व एक चित्त हो कपड़े पर बलपूर्वक रगड न लगावे तो कभी भी कपडे का मैल न कटेगा और वह कपड़ा कभी भी स्वच्छ न होगा । इसी तरह कोई सच्चे ज्ञान वैराग्य सहित होकर व्यवहार चारित्र का मसाला लेकर यदि आत्मा को शुद्ध करना चाहे, जप तप करे, सयम पाले परन्तु उपयोग को एकग्र न करे, आत्मा मे ध्यान न लगावे, आत्मानुभव न करे तो कदापि आत्मा शुद्ध न होगा ।

आत्मा के शुद्ध करने का व सहज सुख के पाने का एक मात्र उपाय आत्मध्यान है । जो उपाय सहज सुख पाने का है वही उपाय आत्मा के मैल काटने का है । आत्मा के कर्म मैल का सयोग रागद्वेष मोह भावो से होता है । तब कर्म मैल का कटना - दूर होना वीतराग भावो से होता है । जब आत्म - ध्यान किया जाता है, सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ शुद्ध आत्मा के स्वभाव में एक तान (लीन) हुआ जाता है तब वीतरागता का अश बढता जाता है । यही ध्यान की अग्नि है जो कर्म - ईंधन को जलाती है ।

जिस आत्मध्यान से सहज सुख का स्वाद आता है उसी आत्मध्यान से आत्मा का कर्ममैल कटता है । तथा इसी आत्मध्यान से आत्मा का बल अधिक अधिक प्रगट होता है । अन्तरायकर्म का मैल जितना जितना कटता है उतना उतना आत्मबल बढ़ता जाता है । आत्मध्यान के भीतर एक गुण और प्रगट हो जाता है, वह है धैर्य, धैर्य इतना अधिक बढ जाता है कि अचानक सकटो के व आपत्तियो के आने पर वह आकुलित नही होता है, कर्मो का उदय मानकर

संतोषी रहता है, तथा आत्मा को अविनाशी व अजर अमर मानता हुआ वह सांसारिक आपत्तियो से आत्मा का कुछ भी बिगाड नही समझता है। बडे-बड़े उपसर्ग आनें पर भी वह मेरु पर्वत के समान अचल रहता है।

जैसे मिश्री का कण एक क्षण मात्र जिह्वा पर रहे तो भी वह उतनी देर ही मिष्ट स्वाद देता है, वैसे आत्मा का ध्यान यदि बहुत ही अल्प समय तक रहे तो भी वह सहज सुख का स्वाद देता है। एक मिनट के साठ सेकण्ड होते है, एक सेकन्ड के भी सौ भाग करो। इस सौवें भाग भी यदि उपयोग आत्मस्थ हो जावे तो भी सहज सुख अनुभव मे आयेगा। अतएव आत्मध्यान के अभ्यासी को समता भाव के साथ जितनी देर तक लगातार ध्यान लग सके, आकुलता न हो, उतनी देर ही आत्मध्यान करके सन्तोष मानना चाहिये। अधिक समय तक आत्म स्थिरता करने की चिन्ता व घबराहट नही लानी चाहिये। बडे बडे शक्तिशाली व बडे बडे वीर वैराग्यवान पुरुष भी आत्मा का ध्यान लगातार दो घडी के भीतर ही भीतर कर सकते है। दो घडी अडतालीस (४८) मिनट की होती हैं।

एक बात और याद रखनी चाहिये कि आत्मध्यान पैदा करने की क्षमता आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना है। भावना बहुत देर तक की जा सकती है। भावना करते करते यकायक ध्यान पैदा होता है जो कम या अधिक देर तक बिलकुल एकाग्र रहता है। ध्यान के समय मन, वचन, काय, तीनो के व्यापार बन्द हो जाते है, चिन्तवन नही होता है। आत्मा के स्वरूप मे उसी तरह रमणभाव हो जाता है जैसे किसी सुन्दर रूप के देखने मे उपयोग एकाग्र हो जाता है। उस समय ध्याता को यह विचार भी नही होता है कि मैं ध्यान करता हूँ या आत्मा को ध्याता हूँ। वह दशा एक ऐसी है जिसका वर्णन नही हो सकता है। उस दशा को अद्वैत भाव कहते है। वहा एक आत्मा का ही स्वाद विकल्प व विचार रहित होता है। इस स्वानुभवरूप आत्मध्यान को पैदा करने वाली आत्मा की भावना है। जैसे दूध को बिलोते बिलोते मक्खन निकलता है वैसे आत्मा की भावना करते - करते आत्मध्यान या आत्मसुख हो जाता है।

सच्चे ज्ञान के लिए कहा जा चुका है कि हमे आत्मा को निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनो से जानना चाहिये। इन दोनो दृष्टियो मे से आत्मा की भावना करने के लिए निश्चय दृष्टि को ग्रहण कर लेना चाहिये, व्यवहार दृष्टि के विषय को धारणा मे रखना चाहिये, भावना के सामने न लाना चाहिये। जिस स्थान पर पहुँचना है उस स्थान पर ले जाने वाले मार्ग पर चलने से ही हम उस स्थान पर पहुँच सकते हैं। हमे शुद्धात्मा का अनुभव प्राप्त करना है अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप की ही भावना करनी चाहिये।

निश्चय नय ही आत्मा को शुद्ध बनाती है, दिखाती है। इसलिए मैं शुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, ज्ञायक हूँ, परमानन्दमय हूँ, परमात्मा रूप हूँ, यही भावना बार बार करना ही आत्मानुभव को जागृत करने वाली है। जब आत्मानुभव हो जाता है तब भावना बन्द हो जाती है। तब अद्वैतभाव, निर्विकल्पभाव, स्वात्मरमणभाव, एकाग्रभाव ही रहता है। जब तक स्वात्मानुभव रहता है, तब तक न निश्चय नय का पक्ष या विचार है, न व्यवहार नय का पक्ष या विचार है। आत्मानुभव नयो से बाहर, विकल्पो से बाहर, अनिर्वचनीय अचिन्तनीय एक परमानन्दमयी अमृत का समुद्र है। इसी समुद्र मे स्नान करते हुए डुबकी लगाना आत्मध्यान है।

आत्मानुभव या आत्मध्यान ही निश्चय रत्नत्रय है या निश्चय मोक्षमार्ग है। इसके बाहरी साधनो मे व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग उपयोगी है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा। यहा पर आत्मध्यान करने के कुछ जरूरी निमित्त कारणो को बता देना उचित होगा। ध्यान करने वाले मे दृढ व पक्का श्रद्धान आत्मा का निश्चय नय तथा व्यवहार नय से होना चाहिये तथा उसके मन मे सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य होना चाहिये, ऐसा ध्याता आत्मरसिक होता है, आनन्दामृत पीने का प्रेमी होता है। जैसे कोई के घर मे बडा ही मिष्ठ रस हो वह पुन पुन उसे पीकर स्वाद को लेकर सुख भोगता है वैसे ही आत्मरसिक बार बार जितना ही अधिक हो सके आत्मध्यान करके आत्मा के आनन्दामृत का स्वाद लेता है।

इस घोर आपत्तिमय ससार के भीतर रहता हुआ वह एक आत्मानद का ही प्रेमी हो जाता है। अतएव जिन निमित्तो से ध्यान हो सकता है उन

निमित्तों को अवश्य मिलाता है। ध्यान करने वाले को समय, स्थान, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आसन बैठने का व आसन लगाने का योग्य उपाय करना चाहिये तथा उस विधि का सेवन करना चाहिये जिससे ध्यान हो सके।

ध्यान

काल :– ध्यान करने का समय प्रात काल सूर्योदय के पहले से लेकर सूर्योदय के पश्चात् तक छ. घडी, चार घडी या दो घडी है। यह उत्तम, मध्यम, जघन्य है। अभ्यास करने वाला जितना भी समय दे सके उतना ही ठीक है। यदि दो घडी करना हो तो एक घडी सूर्योदय के पहले से लेकर एक घडी पीछे तक करे इसी तरह मध्यम व उत्तम मे करे। दोपहर को व साझ को भी, इसी तरह तीन काल है। मध्यम रात्रि को भी ध्यान इसी तरह किया जा सकता है। इसके सिवाय जिस समय मन लगे उसी समय ध्यान किया जा सकता है। सब से श्रेष्ठ समय प्रात'काल का है। तब समय बिलकुल शात रहता है, वातावरण शीतल व सुहावना होता है।

स्थान : – ध्यान के लिए स्थान पवित्र, शात व क्षोभ रहित होना चाहिये, जहाँ पर स्त्रियो का व बच्चो का शब्द न आवे, पुरुषो की बाते भी न सुनाई दे। हवा अनुकूल हो, न बहुत शीत हो न बहुत उष्ण हो। जितना एकात होगा उतना ध्यान अधिक अच्छा हो सकेगा। पर्वत का शिखर, पर्वत की गुफा, वन, उपवन, नदी व समुद्र तट, नगर बाहर उद्यान या नशियाँ, श्री जिन मन्दिर का एकात स्थान, धर्मशाला का या उपाश्रय का एकात स्थान, व अपने घर का ही एकात स्थान जहाँ निराकुलता रहे ऐसा स्थान ध्यान के लिये खोज लेना चाहिये।

मन की शुद्धि :– जितनी देर ध्यान करना हो उतनी देर और सर्व कामो से निश्चित हो जावे। यदि कोई काम दूसरो की देखभाल, रक्षा या प्रबन्ध का हो तो दूसरे के सुपुर्द करदे, अपने ऊपर कोई चिन्ता न रहे। निश्चित हुए बिना ध्यान मे मन न लगेगा। जहा भय का कारण हो वहा न बैठे अथवा भय का कारण सभावित हो तो किसी भी अन्य मानव को अपने साथ मे रखे जिससे वह रक्षा रखे। ध्याता के मन मे आकुलता न होनी चाहिये। मन से

शोक, विषाद आदि दूर कर उतनी देर के लिये मन का ममत्व सबसे छोड़कर ध्यान करने बैठे।

वचन शुद्धि :– ध्यान मे जितनी देर लगानी हो उतनी देर मौन रहे व ध्यान के सहकारी मत्रो को पढे या पाठ पढे परन्तु और किसी से बातचीत न करे।

काय शुद्धि :– शरीर मे बहुत भूख न हो, बहुत भरा न हो, दर्द न हो, मलमूत्र की बाधा न हो। शरीर भीतर से स्वस्थ हो, बाहर से भी पवित्र हो। शरीर पर जितना कम वस्त्र हो उतना ठीक है। वस्त्र रहित भी ध्यान किया जा सकता है। जिस तरह डॉस मच्छरादि की बाधा को होते हुए थिरता रहे वैसे उपाय करना चाहिये। सरदी की बाधा नही सह सके तो अधिक वस्त्र ओढ ले। शरीर भीतर व बाहर से निराकुल हो। शरीर के कारण से कोई बाधा मन मे न आवे ऐसा शरीर को रखे।

आसन बैठने का – ध्यान के लिये कोई घास का आसन या चटाई या पाटा या शिला नियत करले। यदि कुछ न मिल सके तो पवित्र भूमि पर भी ध्यान किया जा सकता है।

आसन लगाना –ध्यान करते हुए पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन या कायोत्सर्ग ये तीन आसन सुगम है तथा बडे उपयोगी है। आसन लगाने से शरीर थिर रहता है। शरीर की थिरता से श्वासोच्छ्वास सम तरह से चलता है व मन निश्चल रह सकता है। दोनो पग जाघो पर रक्खे, दोनो हथेली एक को दूसरे पर रक्खे, सीधा मस्तक सीधी छाती करके इस तरह बैठे कि दृष्टि नाक पर मालूम होती हो। यह पद्मासन है। एक जाघ के नीचे एक पग ऊपर रख के पद्मासन की तरह बैठने को अर्ध पद्मासन कहते है। सीधे खडे हो दोनो पग आगे की तरफ चार अगुल की दूरी पर रखकर दोनो हाथ लटकाकर ध्यान मय रहना कायोत्सर्ग है। जिस आसन से ध्यान जमे उसी आसन से बैठा जा सकता है। ध्यान के वीरासन, मयूरासन आदि बहुत से आसन है।

ध्यान की विधि –बहुत सीधी विधि यह है कि अपने शरीर के भीतर व्याप्त आत्मा को शुद्ध जल की तरह निर्मल भरा हुआ विचार करे और मन

को उसी जल समान आत्मा मे डुबाये रक्खे, जब हटे तब अर्हं, सोहं, सिद्ध, अरहंत, सिद्ध, ॐ आदि मत्र पढने लगे फिर उसी मे डुबोए । इस तरह बार २ करे । कभी कभी आत्मा का स्वभाव विचार ले कि यह आत्मा परम शुद्ध ज्ञानानन्दमयी है ।

(२) दूसरी विधि यह है कि अपने आत्मा को शरीर प्रमाण आकार-धारी स्फटिक मणि की मूर्ति समान विचार करके उसी के दर्शन मे लय हो जावे । जब मन हटे तब मत्र पढता रहे, कभी - कभी आत्मा का स्वभाव विचारता रहे ।

(३) तीसरी विधि यह है कि पिंडस्थ ध्यान करे । इसकी पाच धार-णाओ का क्रमश अभ्यास करके आत्मा के ध्यान पर पहुच जावे । पाच धारणाओ का स्वरूप यह है –

(क) पार्थिवी धारणा – इस मध्य लोक को सफेद निर्मल क्षीर समुद्र-मय चितवन करे । उसके मध्य मे ताए हुए सुवर्ण के रग का एक हजार पत्रो का कमल एक लाख योजन का चौडा जम्बूद्वीप के समान विचारे, इस मध्य मे कणिका को सुमेरु पर्वत के समान पीत वर्ण का सोचे । इस पर्वत के ऊपर सफेद रग का ऊँचा सिहासन विचारे । फिर ध्यान करे कि मैं इस सिंहा-सन पर पद्मासन बैठा हू । प्रयोजन यह है कि मैं सर्व कर्म मल को जलाकर आत्मा को शुद्ध करू । इतना चिन्तवन पार्थिवी धारणा हैं ।

(ख) आग्नेयी धारणा – उसी सिहासन पर बैठा हुआ यह सोचे कि मेरे नाभिमण्डल के भीतर एक सोलह पत्रो का निर्मल सफेद खिला हुआ कमल ऊपर की ओर मुख किये हुए है । उसके सोलह पत्रो पर सोलह अक्षर पीत रग के लिखे विचारे ।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः । उस कमल के नीचे कणिका मे चमकता हुआ हैं अक्षर विचारे फिर इस नाभिकमल के ऊपर हृदय मे एक अधोमुख औंधा आठ पत्रों का कमल विचारे जिसके पत्रो पर ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को स्थापित करे । फिर यह सोचे कि नाभि कमल के मध्य मे जो हैं मन्त्र है उसकी रेफ से धुआ निकला, फिर अग्नि का फुलिगा

उठा, फिर लौ उठी और वह बढ़कर हृदय के कमल को जलाने लगी। वही अग्नि की शिखा मस्तक पर आ गई और चारो तरफ शरीर के उसकी रेखा फैलकर त्रिकोण मे बन गई। तीन रेखाओ को र र अग्नि मय अक्षरो से व्याप्त देखे तथा तीनो कोनो के बाहर हर एक में एक एक साथिया अग्निमय विचारे भीतर तीनो कोनो पर ॐ र अग्निमय विचारे तब यह ध्याता रहे कि बाहर का अग्नि मडल धूम रहित शरीर को जला रहा है व भीतर की अग्नि शिखा आठ कर्मो को जला रही है। जलाते जलाते सर्व राख हो गई इतना ध्यान करना सो आग्नेयी धारणा है।

(ग) मारुती धारणा :- वही ध्याता वही बैठा हुआ सोचे कि तीव्र पवन चल रही है, जो मेघो को उडा रही है, समुद्र को क्षोभित कर रही है, दशो दिशाओ मे फैल रही है, यही पवन मेरे आत्मा के ऊपर पडी हुई शरीर व कर्म के रज को उडा रही है। ऐसा ध्यान करना पवन धारणा है।

(घ) वारुणी धारणा - वही ध्याता सोचे कि बडी काली काली मेघो की घटाए आ गई। उनसे मोती के समान जल गिरने लगा तथा अर्धचद्राकार जल का मडल आकाश मे बन गया, उससे अपने आत्मा पर जल पडता हुआ विचारे कि यह जल बची हुई रज को धो रहा है। ऐसा सोचना जल धारणा है।

(३) तत्वरूपवती धारणा - फिर वही ध्यानी सोचे कि मेरा आत्मा सर्व कर्मों से रहित व शरीर रहित पुरुषाकार सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। ऐसे शुद्ध आत्मा मे तन्मय हो जावे। यह तत्वरूपवती धारणा है।

(४) चौथी विधि यह है कि पदो के द्वारा पदस्थ ध्यान किया जावे। उसके अनेक उपाय हैं। कुछ यहाँ दिये जाते है कि ह्रँ मत्रराज को चमकता हुआ नासाग्र पर या भौहों के मध्य पर स्थापित करके चित्त को रोके। कभी मन हटे तो मत्र कहे व अर्हंत सिद्ध का स्वरूप विचारा जावे।

(ख) ॐ प्रणव मत्र को हृदयकमल के मध्य मे चमकता हुआ विचारे। चारो तरफ १६ सोलह स्वर व कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, व य र ल व प स ह इन सव व्यजनो से वेष्ठित विचारे। कर्णिका मे १६ स्वर विचार

ले व आठ पत्तो पर शेष अक्षरो को बाट ले और ध्यान करे । कभी कभी ॐ का उच्चारण करे कभी पाँच परमेष्ठी के गुण विचारे ।

(ग) नाभि स्थान मे या हृदय स्थान मे सफेद रग का चमकता हुआ आठ पत्रो का कमल विचारे । मध्य कर्णिका मे सात अक्षर का "णमो अरहताण" लिखा विचारे - चार दिशाओ के चार पत्रो पर क्रम से "णमोसिद्धाण, णमोआइरियाण, णमोउवज्झायाण, णमोलोए सव्वसाहूण" इन चार मत्र पदो को लिखे, चार विदिशाओ के चार पत्रो पर "सम्यग्दर्शनाय नम , सम्यग्ज्ञानाय नम , सम्यक्चारित्राय नमः, सम्यक् तपसे नम " इन चार मत्रो को स्थापित करे, फिर क्रम से एक एक पद पर मन को रोक कर कभी - कभी पद बोलकर कभी अरहत आदि का स्वरूप विचार कर ध्यान करे ।

(घ) मुख मे सफेद रग का एक कमल आठ पत्रो का सोचे । उन आठो पत्रो पर क्रम से आठ अक्षरो को स्थापित करे, "ॐ णमो अरहताण" एक एक अक्षर पर चित्त रोके । कभी मन्त्र पढे कभी स्वरूप विचारे ।

(ङ) इसी कमल के बीच मे कर्णिका मे सोलह स्वरो को विचारे, उनके बीच मे ही मन्त्र को विराजित ध्याये ।

(५) **रूपस्थ ध्यान** की विधि यह है कि समवशरण मे विराजित तीर्थंकर भगवान को ध्यानमय सिंहासन पर शोभित बारह सभाओ से वेष्ठित इन्द्रादिको से पूजित ध्यावे । उनके ध्यानमय स्वरूप पर दृष्टि लगावे ।

(६) छठी विधि **रूपातीत ध्यान** की है – इसमे एकदम से सिद्ध भगवान को शरीर रहित पुरुषाकार शुद्ध स्वरूप विचार करके अपने आपको उनके स्वरूप मे लीन करे ।

ध्यान का स्वरूप श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ अध्याय ३७, ३८, ३९, ४० मे है वहा से विशेष जानना योग्य है ।

जब ध्यान करने मे मन न लगे व ध्यान के समय के सिवाय भी आत्म-मनन करना हो तो नीचे लिखे काम किये जा सकते है । इन कामो के करने मे भी मध्य मध्य मे कुछ कुछ देर वृत्ति मे आत्मा का विचार आता रहेगा, धर्मध्यान होता रहेगा ।

(१) आध्यात्मिक वैराग्यमय ग्रन्थो को ध्यान से पढे तथा सुने।

(२) आध्यात्मिक भजनो को गावे, वाजे के साथ भी गा सकता है।

(३) जिनेन्द्र की वैराग्य स्तुति पढे, स्तोत्र पढे।

(४) जिनेन्द्र की ध्यानमय प्रतिमा के सामने खडा हो ध्यान करे या उनके स्वरूप को देखता हुआ पूजा करे, भक्ति करे। जल, चदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ प्रकार शुद्ध द्रव्यो को लेकर इनके द्वारा भक्ति करके आत्मा की भावना करे। इन आठ द्रव्यो की भावना क्रम से नीचे इस प्रकार है :–

(१) **जल** – मै जल चढाता हूँ, मेरा जन्म, जरा, मरण, रोग नष्ट हो।
(२) **चंदन** :– मै चदन चढाता हूँ, मेरा भव आताप शात हो।
(३) **अक्षत** – मै अक्षत चढाता हूँ, मुझे अक्षय गुणो की प्राप्ति हो।
(४) **पुष्प** :– मै पुष्प चढाता हूँ, मेरा काम विकार शात हो।
(५) **नैवेद्य** :– मै नैवेद्य (चरु) चढाता हूँ, मेरा क्षुधा रोग शात हो।
(६) **दीपक** :– मै दीपक चढाता हूँ, मेरा मोह अन्धकार नष्ट हो।
(७) **धूप** – मै धूप चढाता हूँ, मेरे आठ कर्म नष्ट हो।
(८) **फल** :– मै फल चढाता हूँ, मुझे मोक्षफल प्राप्त हो।

फिर श्री जिनेन्द्र की जयमाल स्तुति पढे। इस पूजा से भी आत्मध्यान जग जाता है।

जैसे मिठाई की चर्चा करने से, मिठाई को देखने से, मिठाई के स्मरण करने से सराग भाव के कारण मिठाई के स्वाद लेने के समान स्वाद सा आ जाता है। वैसे आत्मा की चर्चा करने से, आत्म ध्यान को देखने से, आत्मा के स्मरण करने से सहज सुख का स्वाद आ जाता है। सहज सुख के अभिलाषी को वे सब प्रयत्न कर्तव्य है, वह सव सगति कर्तव्य है जिससे आत्मा के मनन व ध्यान मे उपयोग रम सके व आत्मा के सिवाय सम्पूर्ण जगत के प्रपचजाल से उपयोग विरक्त हो सके।

वास्तव मे अद्वैत आत्मानुभव ही मुख्यता से सहज सुख का साधन है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिये जो जो यत्न किया जावे वह भी परम्परा से सहज सुख का साधन है। जीवन को सफल करने के लिये कटकमय ससार के

भीतर गुलाव के फूल के समान चमकता हुआ जीवन विताने के लिये सहज सुख का साधन अवश्य कर्तव्य है। रत्नत्रय मार्ग ही सहज सुख का साधन है। अव देखिये, जैनाचार्य इस सम्वन्ध मे क्या क्या अमृतवाणी की वर्षा करते है।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है :-

जीवो चरित्तदसणणाणट्ठिद त हि ससमय जाणे।
पुग्गल कम्मुवदेसठ्ठिदं च तं जाण परसमय ॥२॥

भावार्थ :- जव यह जीव अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव के श्रद्धान ज्ञान व चारित्र की एकता रूप होता है अर्थात् स्वानुभवरूप होता है, तव इसको स्वसमय अर्थात् आत्मस्थ जानो और जव यह पुद्गल कर्म के उदय से होने वाली रागादि या नर नारकादि पर्यायो मे लीन होता है, तव इसको पर समय या आत्मा से वाहर पर मे रत जानो।

एयत्तणिछ्य गदो समग्रो, सव्वत्थ सुन्दरोलोए।
बधकहा एयत्ते, तेण विसवाविणी होदि ॥३॥

भावार्थ :- इस लोक मे यह आत्मा अपने एक शुद्ध स्वभाव मे तिष्ठा हुआ सर्वत्र सुन्दर भासता है क्योकि वह अपने स्वभाव मे है ऐसा सिद्ध समान शुद्ध स्वभाव होते हुए भी इसके साथ कर्म का वध है, यह वात भी कहना आत्मा के स्वरूप की निन्दा है।

णाणह्मि भावणा खलु, कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुणु तिण्णिवि आदा, तम्हा कुण भावणं आदे ॥११॥

भावार्थ - सम्यग्दर्शन मे, सम्यग्ज्ञान मे व सम्यक्चारित्र मे भावना करनी चाहिये परन्तु ये तीनो ही रत्नत्रय आत्मा का ही स्वभाव है इसलिये एक आत्मा की ही भावना करो।

दसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

भावार्थ :- साधन करने वाले को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र की सदा सेवा करनी चाहिये, परन्तु निश्चय से ये तीनो ही आत्मा ही हैं, आत्मा से भिन्न नही है। इसलिये आत्मा की ही आराधना करनी चाहिये।

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज ॥१५७॥

भावार्थ :– ससार मे जो जीव रागी है, आसक्त है वह कर्मो को बाँधता है, परन्तु जो ससार से वैरागी है वह कर्मों से मुक्त होता है, यह जिनेन्द्र का उपदेश हैं । इसलिये पुण्य या पापकर्मो में रजायमान मत हो, आसक्त मत हो ।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ॥१६०॥

भावार्थ – व्रत व नियमों को पालते हुए तथा शील और तप को करते हुए भी यदि कोई परमार्थ जो आत्मानुभव है उससे रहित है, केवल व्यवहार चारित्र में लीन है, निश्चय चारित्र से शून्य है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है ।

अप्पाणमप्पणोरुंभिवूण दोसु पुण्णपावजोगेसु ।
दंसणणाणम्हिठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥१७७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चिंतेदि एयत्तं ॥१७८॥

भावार्थ :– जो कोई आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा पुण्य तथा पाप-रूप मन वचन काय के योगो से रोककर सर्व आत्मा के सिवाय पर पदार्थों मे इच्छा को दूर करता हुआ आत्मा के दर्शन और ज्ञान स्वभाव मे स्थिर होता है तथा सर्व परिग्रह से मुक्त होकर सर्व ममता को छोडकर अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को ध्याता है, द्रव्य कर्म व शरीर को नही ध्याता है वह ज्ञानी एक शुद्ध आत्म स्वभाव का अनुभव करके उसी का आनन्द लेता है ।

णाणगुणेहिं विहीणा एवं तु पदं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२२१॥

भावार्थ :– बहुत भी जीव आत्मज्ञान तथा आत्मानुभव से रहित होते हुए जिस निज स्वाभाविक पद को नही पा सकते हैं, तू उसी एक अपने निज स्वभाव को ग्रहण कर, यदि तू कर्मों से छूटना चाहता है ।

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥३१८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झपरित्त णादव्वा ।।३१६।।

भावार्थ :-- शिष्य प्रश्न करता है कि - आत्मा को कैसे ग्रहण करके अनुभव किया जावे । आचार्य कहते है - प्रज्ञा या भेद विज्ञान या विवेक भाव से ही आत्मा को ग्रहण करना चाहिये । जैसे प्रज्ञा के द्वारा इस आत्मा को सर्व रागादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नौकर्म तथा सर्व अन्य जीव व पुद्गलादि द्रव्यों से भिन्न जाना गया है उसी प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिये । जैसे जिस बुद्धि से चावल व तुष को अलग अलग जाना जाता है उसी बुद्धि से चावल को प्रयोजनभूत जान के ग्रहण किया जाता है, उसी तरह जिस विवेक से आत्मा को पर से भिन्न जाना गया उसी विवेक से उसे ग्रहण करना चाहिये तथा जिसको प्रज्ञा से ग्रहण करना है वह ज्ञाता आत्मा मैं ही तो निश्चय से हूं इससे मैं आप में स्थिर होता हूं, और अपने से भिन्न जो सर्वभाव है उन सब को पर है ऐसा जानता हूं व ऐसा ही जानना उचित है ।

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ।।४३२।।

जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहि वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंजमोक्खपहे ।।४३३।।

मुक्खपहे अप्पाणं ठवेहि वेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ।।४३४।।

भावार्थ :-- निश्चय से साधु के व श्रावको के बाहरी भेष मोक्षमार्ग नहीं हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र को जिनेन्द्रों ने मोक्षमार्ग कहा है । इसलिये गृहस्थ व साधु के ग्रहण किये हुए भेषो मे ममता छोड करके अपने आत्मा को सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग मे स्थापन कर, इसी स्वानुभव रूप मोक्षमार्ग मे अपने को रख, इसी का मनन कर व इसी का ध्यान कर व इसी में रमण कर । अपने आत्मा को छोडकर दूसरे द्रव्य के चिंतवन मे मत जा ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पंचास्तिकाय मे कहते हैं :--

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीणं।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीणं ॥१०६॥

भावार्थ :– आत्मज्ञानी भव्य जीवो के लिये रागद्वेष से रहित सम्यग्दर्शन व ज्ञान से युक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

भावार्थ :– जिसके भावो मे राग, द्वेष, मोह नही है, न मन, वचन, कायो की क्रिया है, उसी के भाव मे शुभ तथा अशुभ भावो को दग्ध करने वाली स्वात्मानुभव रूपी ध्यानमयी अग्नि पैदा हो जाती है।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसंजुत्तं।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

भावार्थ :– जो साधु अपने आत्मा के स्वभाव को जानता है। उसके लिये सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित आत्मरमणता रूप ध्यान जिसमे आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्य का सयोग नही है, उत्पन्न होता है। इसी ध्यान से कर्मों का क्षय होता है।

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१५८॥

भावार्थ :– जो कोई सर्व परिग्रह त्यागकर एकाग्रमन होकर अपने आत्मा को स्वभाव के द्वारा निरतर जानता देखता रहता है वही जीव स्वचारित्र मे या आत्मानुभव मे या आत्मा के ध्यान मे वर्त रहा है।

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

भावार्थ – निश्चयनय से यह कहा गया है कि जो आत्मा रत्नत्रय सहित होकर किसी भी अन्य द्रव्य पर लक्ष्य नही देता है और न अपने स्वभाव को त्यागता है। आप आप मे मगन होता है वही मोक्षमार्ग है।

जस्स हिदयेणुमत्तं वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ॥१६७॥

भावार्थ :– जिसके मन मे परमाणु मात्र भी जरा सा भी राग पर द्रव्य मे है वह सर्व आगम को जानता हुआ भी अपने आत्मा को नही जानता है। आत्मा तो सबसे भिन्न एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, उसमे राग द्वेष के मोह का रच मात्र भी लेश नही है।

तह्मा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।
सिद्धेसु कुणदि भत्ति णिव्वाण तेण पप्पोदि ॥१६९॥

भावार्थ :– इसलिये सर्व इच्छाओ को छोडकर किसी भी पदार्थ मे कही भी राग मत कर, इस तरह जो भव्य जीव वीतराग होता है, वही भव-सागर से पार हो जाता है। स्वात्मरमणरूप वीतराग भाव ही मोक्षमार्ग है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते है –

सपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेंहि।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥
चारित्त खलु धम्मो, धम्मोजो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो 'हि समो ॥७॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र से ही जीव को निर्वाण प्राप्त होता है और जब तक निर्वाण न हो वह इन्द्र चक्रवर्ती आदि की विभूति प्राप्त करता है। यह चारित्र ही धर्म है। धर्म एक समभाव कहा गया है। रागद्वेप-मोह से रहित जो अपने आत्मा का स्वभाव है वह ही समभाव है। यही मोक्षमार्ग है, यही स्वात्मानुभव है।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८७॥

भावार्थ – मोह रहित जीव अपने आत्मा के स्वभाव को भली प्रकार जानकर जब रागद्वेष त्यागता है तब वह शुद्ध आत्मा को पा लेता है अर्थात् शुद्ध आत्मा मे ही रमण करता है।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥९५॥

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्र के उपदेश को समझकर जो रागद्वेष मोह त्याग देता है वही अतिशीघ्र सर्व दु:खों से मुक्त हो जाता है।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाण हवदि झादा ॥१०३-२॥

भावार्थ :— न मैं किन्हीं पर पदार्थों का हूँ न पर पदार्थ मेरे हैं। मैं एक अकेला ज्ञानमय हूँ। इस तरह जो ध्याता ध्यान मे ध्याता है वही आत्मा का ध्यानी है।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१०४-२॥

भावार्थ :— ध्याता ऐसा जानता है कि मैं इस तरह अपने आत्मा को ध्याता हूँ कि यह परभावों से रहित शुद्ध है, निश्चल एकरूप है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनमयी है, अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से एक महान पदार्थ है, अपने स्वरूप में निश्चल है तथा पर के आलम्बन से रहित स्वाधीन है। यही भावना आत्मानुभव को जागृत करती है।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥१०८-२॥

भावार्थ :— जो मोह के मैल को नाशकर इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होकर तथा मन को रोककर अपने स्वभाव मे भली प्रकार स्थित हो जाता है वही आत्मध्यानी है।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धि ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥५६-३॥

भावार्थ :— जिसकी मूर्छा देह आदि पर पदार्थों मे परमाणु मात्र भी है वह सर्व शास्त्र को जानता हुआ भी सिद्धि को नही पा सकता है।

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं ।
विसएसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥६५-३॥
सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं ।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥६६-३॥

भावार्थ :— जो जीव यथार्थ रूप से जीवादि पदार्थों को जानते है तथा बाहरी व भीतरी परिग्रह को छोडकर पांचो इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त नही होते हैं, उन्ही को शुद्ध मोक्षमार्गी कहा गया है। जो परम वीतराग भाव

को प्राप्त हुआ मोक्ष का साधक परमयोगीश्वर है उसी के सम्यग्दर्शन - ज्ञान - चारित्र की एकतारूप साक्षात् मोक्षमार्गरूप श्रमण पद कहा गया है। उसी शुद्धोपयोगी के अनत दर्शन व अनत ज्ञान प्रगट होता है, उसी को ही निर्वाण होता है, वही सिद्ध है, उनको बार बार नमस्कार हो।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड मे कहते है :—

ए ए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।

नियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्भ परिहरइ ॥१६॥

भावार्थ — जो मोहरहित जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमयी गुणो को धारते हुए अपने आत्मिक शुद्ध गुणों की अराधना करता है वह शीघ्र ही कर्मों से छूट जाता है।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।

पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥

भावार्थ :— जो आत्मज्ञानी स्वरूपाचरण चारित्र को धारता हुआ अपने आत्मा मे परद्रव्य को नही चाहता है अर्थात् केवल आत्मरमी हो जाता है, पर द्रव्य से रागद्वेष मोह नही करता है सो शीघ्र ही उपमा रहित सहज सुख को पाता है ऐसा निश्चय से जानो।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है :—

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।

संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥८५॥

भावार्थ :— जो आत्मा रागद्वेषादि सर्व दोषो को छोडकर अपने आत्मा के स्वभाव मे लवलीन होता है वही ससार-सागर से तिरने का उपाय धर्म जिनेन्द्रो ने कहा है।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते हैं :—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।

आवसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥१२॥

भावार्थ :— जो योगी शरीर के सुख से उदासीन है, रागद्वेष के द्वन्द्व से रहित है, पर पदार्थ मे जिसने ममता छोड़ दी है, जो आरम्भ रहित है और आत्मा के स्वभाव मे लीन है, वही निर्वाण को पाता है।

सव्वे कसाय मुत्तं गारवमयरायदोसवा मोहम् ।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ।।२७।।

भावार्थ :-- ध्याता सर्व कषायो को छोडकर अहकार, मद, राग-द्वेष, मोह व लौकिक व्यवहार से विरक्त होकर ध्यान मे लीन होकर अपने ही आत्मा को ध्याता है ।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ।।३१।।

भावार्थ :-- जो योगी जगत के व्यवहार मे सोता है वही अपने आत्मा के कार्य में जागता है तथा जो लोक व्यवहार मे जागता है वह अपने आत्मा के कार्य मे सोता है ।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए ।
सो पावइ परमपयं झायन्तो अप्पयं सुद्धम् ।।४३।।

भावार्थ :-- जो सयमी सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रय को धारता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार तप करता हुआ अपने आत्मा को ध्याता है वही परमपद को पाता है ।

होऊण विढचरित्तो विढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायन्तो अप्पाणं परमपयंपावए जोई ।।४६।।

भावार्थ :-- जो योगी दृढ सम्यक्त्व की भावना करता हुआ दृढ चारित्र को पालता है और अपने शुद्ध आत्मा को ध्याता है वही परम पद को पाता है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ।।५०।।

भावार्थ :-- चारित्र आत्मा का धर्म है । धर्म है वही आत्मा का स्वभाव है, तथा वह स्वभाव रागद्वेष रहित आत्मा का ही अपना भाव है ।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण विढचरित्ताणं ।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताणं ।।७०।।

भावार्थ :-- जो विषयो से विरक्त चित्त है, जिनका सम्यक्त शुद्ध है और चारित्र दृढ है जब वे आत्मा को ध्याते है तो उनको निश्चय से निर्वाण का लाभ होता है ।

णिच्छयणयस्स एव अप्पा अप्पमि अप्पणे सुरदो ।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाण ॥८३॥

भावार्थ -- निश्चय नय का यह अभिप्राय है कि जो आत्मा, आत्मा ही मे, आत्मा ही के लिये भली प्रकार लीन होता है वही स्वरूपाचरणरूपी चारित्र को पालता हुआ निर्वाण को पाता है ।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥

गुणगणविहूसियंगो हेयोपादेयणिच्छिओ साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तमं ठाणं ॥१०२॥

भावार्थ -- जो साधु वैराग्यवान है, पर द्रव्यो से पराङ्मुख है, ससार के क्षणिक सुख से विरक्त है, आत्मा के सहज शुद्ध सुख मे अनुरक्त है, गुणो के समूह से विभूषित है, ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य का निश्चयज्ञान रखने वाला है, ध्यान मे तथा आगम के अध्ययन मे लगा रहता है वही उत्तम स्थान मोक्ष को पाता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के द्वादशानुप्रेक्षा अधिकार मे कहते हैं --

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेंहि कणय व ॥५६॥

भावार्थ :-- जैसे सुवर्ण धातु अग्नि से धौके जाने पर मल रहित सुवर्ण मे परिणत हो जाती है वैसे ही यह जीव आत्मा मे तप्त रूप तप के द्वारा कर्म मल से छूटकर शुद्ध हो जाता है ।

णणवरमारुवजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो ।
दहइ तवो भवबीय तणकट्ठादी जहा अग्गी ॥५७॥

भावार्थ :-- जैसे अग्नि तृण व काष्ठ को जला देती है ऐसे ही आत्म ध्यान रूपी तप की अग्नि उत्तम आत्मज्ञान रूपी पवन के द्वारा बढती हुई तथा शील समाधि और सयम के द्वारा जलती हुई ससार के बीजभूत कर्मो को जला देती है ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के अनगार भावना अधिकार मे कहते है —

दंतेंदिया महरिसी रागं दोस च ते खवेदूणं।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥११५॥

भावार्थ :— जो महामुनि इन्द्रियो को दमन करने वाले है वे ध्यान मे उपयोग लगाते हुए राग द्वेष को क्षय करके सर्व मोह को दूर करते हुए कर्मों का क्षय करते है।

अट्ठविहकम्ममूलं खविद कसाया खमादि जुत्तेंहि।
उद्धदमूलो व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि ॥११६॥

भावार्थ :— आठ प्रकार कर्मों के मूल कारण कषाय है उनको जब क्षमादि भावो से क्षय कर दिया जाता है फिर कर्म नही बधते जैसे जिस वृक्ष की जड़ काट दी जाय फिर वह नही उग सकता है।

जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥११८॥

भावार्थ — जैसे सुमेरु पर्वत पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर की पवनो से चलायमान नही होता है वैसे योगी निश्चल होकर निरन्तर ध्यान करता है।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के समयसार अधिकार मे कहते है —

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥३॥

भावार्थ :— जो साधु धीर है, वैराग्यवान है वह थोडा भी शास्त्र जाने तो भी सिद्धि को प्राप्त कर लेता है परन्तु जो सर्व शास्त्रो को पढकर भी वैराग्यरहित है वह कभी सिद्ध न होगा।

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दु.खं सह जिण णिद्दा मेत्ति भावेहि सुट्ठुवेरग्गं ॥४॥

भावार्थ :— ध्यानी साधु को उपदेश करते है कि भिक्षा से भोजन कर, एकात वन मे रह, थोडा जीम, बहुत बात मत कर, दुःखो को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना व वैराग्य का भली प्रकार चितवन कर।

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो ।

चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेठ्ठो असंगो य ।।५।।

भावार्थ :– ध्यानी साधु को लोक व्यवहार से दूर रहना चाहिये, एकाकी रहकर ध्यान मे एकाग्र मन रखना चाहिये, आरम्भ नही करना चाहिये, कषाय व परिग्रह का त्यागी होना चाहिये, ध्यान मे उद्योगी रहना चाहिये व असग भाव अर्थात् ममता रहित भाव रखना चाहिये ।

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो ।

कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहुं ।।७७।।

भावार्थ :– जो ज्ञान और भेदविज्ञान से सयुक्त है, ध्यान, स्वाध्याय व तप मे लीन है, कषाय व अहकार से रहित है सो शीघ्र ससार को तरता है ।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार वृहत् प्रत्याख्यान अधिकार मे कहते है :–

ध्यानी ध्यान के पहले ऐसी भावना भावे –

सम्म मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि ।

आसा वोसरित्ताणं समाहिं पडिवज्जए ।।४२।।

भावार्थ :– मैं सर्व प्राणियो पर समभाव रखता हूँ, मेरा किसी से वैर भाव नही है, मैं सब आशाओ को त्यागकर आत्मा की समाधि को धारण करता हूँ ।

खमामि सव्वजीवाणं सव्वे जीवा खमंतु मे ।

मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झ ण केणवि ।।४३।।

भावार्थ :– मैं सर्व जीवो पर क्षमाभाव लाता हूँ । सर्व प्राणी भी मुझ पर क्षमा करो । मेरी मैत्री सर्व जीव मात्र से हो, मेरा वैरभाव किसी से न रहो ।

रायबंध पदोस च हरिसं दीणभावयं ।

उस्सुगत्तं भयं सोगं रदिमरदिं च वोसरे ।।४४।।

भावार्थ :– मैं रागभाव को, द्वेषभाव को, ईर्ष्याभाव को, दीनभाव को, उत्सुकभाव को (राग सहित भाव से करना कुछ विचारना कुछ), भय को, शोक को, रति को व अरति को त्यागता हूँ ।

ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंबणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥४५॥

भावार्थ :-- मैं ममता को त्यागता हूँ, निर्ममत्व भाव से तिष्ठता हूँ, मैं मात्र एक आत्मा का ही सहारा लेता हूँ और सब आलम्बनो को त्यागता हूँ।

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयण जे करंति भावेण ।
असबल असकिलिट्ठा ते होंति परित्तससारा ॥७२॥

भावार्थ :-- जो जिनवाणी मे लीन रहते है, गुरु की आज्ञा को भाव से पालते है, मिथ्यात्व रहित व सक्लेश भाव रहित होते हैं वे ससार से पार होते है ।

(११) श्री समतभद्र आचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते है –

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छित मनो निज ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
विदिध्यपस्त्व विषदाहमोहित यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वविग्रह ॥४७॥

भावार्थ :-- हे शीतलनाथ भगवान ! सुख की इच्छा रूपी अग्नि की दाह से मूर्छित मन को आपने आत्मज्ञान रूपी अमृत के जल से सिचित करके वुझा डाला, जिस तरह वैद्य विष की दाह से तप्त अपने शरीर को मन्त्र के प्रभाव से विष को उतार कर शात कर देता है ।

कषायनाम्नां द्विषतां प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषण मन्मथदुर्मदामयं समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयन् ॥६७॥

भावार्थ :-- हे अनन्तनाथ स्वामी ! आपने आत्मा का मथन करने वाले, घात करने वाले, कषाय नाम के वैरी को मूल से नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया तथा आत्मा को सुखाने वाले कामदेव के खोटे मद के रोग को आत्मा की समाधि रूपी औषधि के गुणो से दूर कर डाला । वास्तव मे आत्म ध्यान ही शाति का उपाय है ।

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्य्यः ।
विभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचिर्विवस्वान् ॥८४॥

भावार्थ :- हे कुन्थुनाथ भगवान ! आपने रत्नत्रय रूपी तेज से आत्म-बल को प्रगट करके आत्मध्यान के द्वारा चार घातिया कर्मों की कटुक प्रकृतियो को जला डाला । तब आप अरहत हो गए । आपने सम्यग्ज्ञान का प्रकाश

किया । जैसे आकाश मे से मेघो के चले जाने से सूर्य का प्रकाश हो जाता है ऐसे आप ज्ञानावरणादि कर्मो के दूर होने सूर्य सम सर्वज्ञ स्वरूप मे प्रकट हो गए ।

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।
दृष्टिसम्यदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः ॥६०॥

भावार्थ :— हे अरहनाथ भगवान परमवीर ! आपने क्रोधादि कषाय रूपी योद्धाओ को रखने वाले और महा-पापी मोहरूपी शत्रु को सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप आत्मानुभव रूपी शस्त्र से जीत लिया । तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मानुभव ही मोह को जीतने का उपाय है ।

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोर्निनिरुत्तरा ।
तृष्णा नदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥६२॥

भावार्थ :— हे अरहनाथ भगवान ! आपने इस लोक और परलोक दोनो लोक मे दु खो को देने वाली व जिसका पार होना बडा कठिन है ऐसी तृष्णा-रूपी नदी को वीतरागता सहित आत्मानुभव रूपी नौका मे चढकर पार कर डाला । अर्थात् रागद्वेप रहित आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है ।

दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ॥११५॥

भावार्थ .— हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने आठ कर्मरूपी मलीन कलक को अनुपम आत्मध्यान की अग्नि को जलाकर भस्म कर डाला और आप अतीन्द्रिय सिद्ध के सहज सुख के भोक्ता हो गए । आपके प्रताप से मैं भी इसी तरह आत्म ध्यान करके अपने ससार को शान्त कर डालू । सहज सुख का साधन एक आत्मा का ध्यान ही है ।

भगवानृषि. परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनम् ।
ज्ञानविपुलकिरणै सकल प्रतिबुध्य बुद्धः कमलायतेक्षणः ॥१२१॥
हरिवंशकेतुरनवद्यविनयदमतीर्थनायक ।
शीतलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिनकुञ्जरोऽजरः ॥१२२॥

भावार्थ :— हे अरिष्ट नेमि जिन तीर्थंकर ! आपने उत्तम आत्मध्यान की अग्नि से कर्मरूपी ईधन को दग्ध कर डाला, आप ही परम ऐश्वर्यवान् सच्चे

ऋषि हो। आपने केवलज्ञान की विशाल किरणो से सर्व विश्व को जान लिया। आप प्रफुल्लित कमल समान नेत्र के धारी है, हरिवश की ध्वजा है, निर्दोष चारित्र व सयममयी धर्म तीर्थ के उपदेष्टा है, शील के समुद्र है, भव रहित है अजर व अविनाशी है। यहाँ भी आत्मानुभव की ही महिमा है।

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया निशात्य यो दुर्जयमोहविद्विषम्।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भूत त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥१३३॥

भावार्थ :– हे पार्श्वनाथ स्वामी ! आपने आत्मध्यान रूपी खड्ग की तेज धारा से कठिनता से जीते जाने योग्य मोहरूपी शत्रु को क्षय कर डाला और अचिंत्य अद्भुत व तीन लोक के प्राणियो से पूजने योग्य ऐसे अरहन्त पद को प्राप्त कर लिया। यहा भी आत्मानुभव की ही महिमा है।

(१२) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है –

दसणणाणचरित्तं, तव च विरिय समाधिजोग च।
तिविहेणुवसंपज्जि य, सव्वुवरिल्लं कमं कुणइ ॥१७६७॥

भावार्थ :– जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् तप, सम्यक् वीर्य व आत्म ध्यान मयी समाधि योग, इनको मन, वचन, काय तीनो योगो को थिर करके ध्याता है वही सर्वोत्कृष्ट क्रिया करता है।

जिदरागो जिददोसो, जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ।
रदिअरदिमोहमहणो, झाणोवगओ सदा होइ ॥१७६८॥

भावार्थ – जो साधु राग द्वेष को जीतने वाला है, इन्द्रियो को वश करने वाला है, भय रहित है, कषायो को जीतने वाला है, रति अरति व मोह का मथन करने वाला है वही सदा ध्यान मे उपयुक्त हो सकता है।

जह जह णिव्वेदुवसम–, वेरग्गदयादमा पवड्ढंति।
तह तह अब्भासयरं, णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८६२॥

भावार्थ – जैसे जैसे साधु मे धर्मानुराग, शाति वैराग्य, दया, इन्द्रिय सयम बढते जाते है वैसे २ निर्वाण अति निकट आता जाता है।

वयरं रदणेसु जहा, गोसीसं चंदणं व गंधेसु।
वेरुलियं व मणीणं तह झाणं होइ खवयस्स ॥१८६४॥

भावार्थ :—(जैसे रत्नो मे हीरा प्रधान है, सुगध द्रव्यो मे गोसीर चन्दन प्रधान है, मरिणयो मे वैडूर्यमरिण प्रधान है) तैसे साधु के सर्व व्रत व तपो मे आत्मध्यान प्रधान है।

झाणं कसायवादे, गब्भधरं मारूए व गब्भहरं।
झाण कसायउण्हे, छाही छाही व उण्हम्मि ॥१८९६॥

भावार्थ :— जैसे प्रबल पवन की बाधा मेटने को अनेक घरो के मध्य मे गर्भगृह समर्थ है वैसे कषाय रूपी प्रबल पवन की बाधा मेटने को ध्यान रूपी गर्भगृह समर्थ है। जैसे गर्मी की आताप मे छाया शातिकारी है वैसे ही कषाय की आताप को मेटने के लिये आत्म ध्यान की छाया हितकारी है।

झाणं कसायडाहे, होवि वरदहो व दाहम्मि।
झाणं कसायसीदे, अग्गी अग्गी व सीदम्मि ॥१८९७॥

भावार्थ :— कषाय रूपी दाह के हरने को आत्मा का ध्यान उत्तम सरोवर है तथा कषाय रूपी शीत के दूर करने को आत्मा का ध्यान अग्नि के समान उपकारी है।

झाणं कसायपरच-क्कभए वलवाहणड्ढओ राया।
परचक्कभए वलवा-, हणड्ढओ होइ जह राया ॥१८९८॥

भावार्थ :— जैसे पर चक्र के भय से बलवान वाहन पर चढा हुआ राजा प्रजा की रक्षा करता है वैसे कषाय रूपी पर चक्र के भय से समताभाव रूपी वाहन पर चढ़ा आत्म ध्यान रूपी राजा रक्षा करता है।

झाणं कसायरोगे, सु होइ विज्जो तिगिछदो कुसलो।
रोगेसु जहा विज्जो, पुरिसस्स तिगिछओ कुसलो ॥१८९९॥

भावार्थ :— जैसे रोग होने पर प्रवीरण वैद्य रोगी पुरुष का इलाज कर के रोग को दूर करता है, वैसे कषाय रूपी रोग के दूर करने को आत्मध्यान प्रवीरण वैद्य के समान है।

झाणं विसयछहाए, य होइ अछुहाइ अण्णं वा।
झाणं विसयतिसाए, उदयं उदय व तण्णाए ॥१९००॥

भावार्थ :— जैसे क्षुधा की वेदना को अन्न दूर करता है, तैसे विषयो की चाह रूपी क्षुधा को आत्म ध्यान मेटता है जैसे प्यास को शीतल मिष्ट जल दूर करता है, वैसे विषयो की तृष्णा को मेटने के लिये आत्मध्यान समर्थ है।

(१३) श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश मे कहते हैं :--

सयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थित ॥२२॥

भावार्थ :—आत्मज्ञानी ध्याता को उचित है कि इन्द्रियो के ग्राम को सयम मे लाकर और मन को एकाग्र करके आत्मा ही के द्वारा आत्मा म स्थित अपने आत्मा को ध्यावे ।

अभिवच्चित्तविक्षेप एकाते तत्त्वसस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्व निजात्मन. ॥३६॥

भावार्थ — जहा मन मे आकुलता न आवे ऐसे एकात मे वैठकर आत्मा के तत्व को भली प्रकार निश्चय करने वाला योगी योगवल से अपने ही आत्मा के स्वरूप के ध्यान का अभ्यास करे ।

यथा यथा समायाति सवित्तो तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

भावार्थ :— जैसे जैसे स्वात्मानुभव मे उत्तम आत्मा का तत्व भली प्रकार आता जाता है वैसे वैसे सुलभ भी इन्द्रियो के विषय नही रुचते हैं ।

निशामयति निःशेषमिद्रजालोपम जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३६॥

भावार्थ :— ध्यान करने वाला सर्व जगत को इन्द्रजाल के तमाशे के समान देखता है, आत्मा के अनुभव की ही कामना रखता है । यदि आत्मानुभव से उपयोग दूसरे विषय पर जाता है तो पश्चात्ताप करता है ।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ॥४१॥

भावार्थ :— जिसने आत्मध्यान मे स्थिरता प्राप्त करली है व आत्मा के मनन का भली प्रकार अभ्यास कर लिया है वह इतना स्वभाव मे मगन रहता है कि कुछ कहते हुए भी मानो नही कहता है, चलते हुए भी नही चलता है, देखते हुए भी नही देखता है । अर्थात् वह आत्मानद का ही प्रेमी रहता है, और कार्य मे दिल नही लगाता है ।

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगीर्बहिर्दुःखेष्वचेतनः ।।४८।।

भावार्थ – योगी आत्मध्यान करता हुआ ऐसा एकाग्र हो जाता है कि बाहर शरीर पर कुछ दुःख पडे तो उनको नही गिनता हुआ कुछ भी खेदित नही होता है । तथा परमानन्द का अनुभव करता है । यही आनन्द ही वह ध्यान की अग्नि है जो निरन्तर जलती हुई बहुत कर्मों के ईंधन को जला देती है ।

(१४) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक मे कहते है :–

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थित ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसकल्पवर्जितम् ।।२७।।

भावार्थ :– वहिरात्मा बुद्धि को छोडकर, आत्मा का निश्चय करने वाला अन्तरात्मा होकर, सर्व सकल्प से रहित परमात्मस्वरूप अपने आत्मा की भावना करनी चाहिये ।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिनभावनया पुन ।
तत्रैव दृढ़सस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ।।२८।।

भावार्थ :– "सोह" इस पद के द्वारा मैं परमात्मारूप हूँ, ऐसा बार बार सस्कार होने से व उसी आत्मा मे बार बार भावना करने से तथा इस भावना का वहुत दृढ़ अभ्यास होने से योगी आत्मा मे तन्मयता को प्राप्त करता है ।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परम तपः ।।३३।।

भावार्थ :– जो कोई शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न इस अविनाशी आत्मा का अनुभव नही करता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुए भी निर्वाण को नही पा सकता है ।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृत' ।
तपसा दुष्कृतं घोर भुञ्जनोऽपि न खिद्यते ।।३४।।

भावार्थ :– जब योगी को आत्मा और देहादि पर पदार्थों के भेदविज्ञान से व आत्मा के अनुभव से आनन्द का स्वाद आता है तब कठिन घोर तप करते हुए भी कोई खेद विदित नही होता है ।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जनः ॥३५॥

भावार्थ :– जिस योगी का मनरूपी जल रागद्वेपादि की तरगो से चचल नही है वही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर सकता है, और कोई आत्मा का अनुभव नही कर सकता है ।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

भावार्थ :– जो योगी लोक व्यवहार मे सोता है वही आत्मा के अनुभव मे जागता है परन्तु जो इस लोक व्यवहार मे जागता है वह आत्मा के मनन मे सोता रहता है ।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

भावार्थ :– शरीरादि को बाहरी पदार्थ देखकर जो भीतर मे अपने आत्मा को देखता है और उसके स्वरूप को भली प्रकार समझकर आत्मा के अनुभव का अभ्यास करता है वही निर्वाण को पाता है ।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥

भावार्थ :– जिस पदार्थ को बुद्धि से निश्चय कर लिया जाता है उसी पदार्थ मे प्राणी की श्रद्धा हो जाती है । तथा जिस किसी मे श्रद्धा हो जाती है उसी मे ही यह चित्त लय हो जाता है । श्रद्धा ही ध्यान का बीज है ।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥९७॥

भावार्थ :– यदि आत्मा अपने से भिन्न सिद्ध परमात्मा को लक्ष्य मे लेकर ध्यान करे तो वह भी दृढ अभ्यास से आत्मानुभव प्राप्त करके परमात्मा के समान परमात्मा हो जायेगा । जैसे बत्ती अपने से भिन्न दीपक की सेवा करके स्वय दीपक हो जाती है ।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथातरुः ॥९८ ॥

भावार्थ – अथवा यह आत्मा अपने ही आत्मा की आराधना करके भी परमात्मा हो जाता है। जैसे वृक्ष स्वय लडकर आप ही अग्निरूप हो जाते है। आत्मा का अनुभव सिद्ध भगवान के ध्यान द्वारा व अपने आत्मा के ध्यान द्वारा दोनो से प्राप्त हो सकता है।

(१५) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते है –

एकाकित्वप्रतिज्ञा. सकलमपि समुत्सृज्य सर्वं सहत्वात्
भ्रान्त्याऽचिन्त्या सहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्य्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धा
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहा गुह्यगेहे नृसिंहाः ॥२५८॥

भावार्थ :– मानवो मे सिंह के समान साधु, जिनकी प्रतिज्ञा एकाकी रहने की है, जिन्होने सर्व परिग्रह त्याग दिया है व जो परीषहो को सहने वाले है, जिनकी महिमा चिन्तवन मे नही आ सकती, जो शरीर की सहायता लेते हुए लज्जा को प्राप्त है, जिसको अब तक भ्राति से सहाई जाना था परन्तु जो आत्मा के स्वभाव से विपरीत है, जो अपने आत्मा के कार्य मे आप उद्यमवत है जो पर्यंकासन से तिष्ठे है तथा जिनके यह भावना है कि पुनः शरीर प्राप्त न हो, जिन्होने मोह को दूर कर दिया है तथा जो पर्वत की भयानक गुफा आदि गुप्त स्थान मे तिष्ठते है, ऐसे साधु आत्मा के स्वभाव का ध्यान करते हैं।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम्।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या निवृत्तिमभ्यस्तु मोक्षकांक्षी ॥२३५॥

भावार्थ :– यह सर्व जगत मोक्षमार्ग की अपेक्षा भोगने योग्य नही है, ससार की प्रवृत्ति की अपेक्षा भोग्य है। परमार्थ की अपेक्षा इस जगत को अभोग्य और भोग्य जानकर भी ससार के त्याग का अभ्यास करो, तब इस जगत को अभोग्य ही जानो क्योकि इस ससार के भोगो मे लिप्त होने से ससार होगा व वैराग्य भाव से मोक्ष होगा।

तावद्दुःखाग्नितप्तात्माऽयःपिण्ड इव सीदसि।
निर्वासिनिर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

भावार्थ :– हे भव्य ! तू लोहे के गर्म पिण्ड की तरह ससार के दुःखो की अग्नि से सतापित होकर उसी समय तक कष्ट पा रहा है जब तक तू निर्वाण

के आनन्दरूपी समुद्र मे अपने को नही डुबाता है । तात्पर्य यह है कि आत्म ध्यान से सर्व सताप मिट जाता है ।

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥

भावार्थ :- जो साधु यम नियम मे तत्पर है, जिनका अतरग व वहिरग शात है, परसे ममता रहित है, समाधिभाव को प्राप्त हुए है, सब जीवो मे जो दयालु है, शास्त्रोक्त अल्प मर्यादित आहार के जो करने वाले है, निन्द्रा को जिन्होने जीता है, आत्म स्वभाव का सार जिन्होने निश्चय कर लिया है वे ही ध्यान के बल से सर्व दु.खो के जाल को जला देते है ।

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः
स्वहितनिहितचित्ताः शातसर्वप्रचाराः ।
स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ॥२२६॥

भावार्थ :- जिन्होने सर्व शास्त्रो का रहस्य जाना है, जो सर्व पापो से दूर है, जिन्होने आत्मकल्याण मे अपना मन लगाया हे व जिन्होने सर्व इन्द्रियो के विषयो को शमन कर दिया है, जिनकी वाणी स्वपर कल्याणकारिणी है, जो सर्व सकल्प से रहित है, ऐसे विरक्त साधु सिद्ध सुख के पात्र क्यो न होगे ? अर्थात् अवश्य होगे ।

हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे
वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।
श्रयति गुणगुणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कम्
समदमयमशेषैस्तान् विजेतु यतस्व ॥२१३॥

भावार्थ :- हे भव्य ! जब तक तेरे निर्मल व अगाध हृदयरूपी सरोवर मे कषारूपी जलचरो का समूह वसता है तब तक गुणो का समूह नि शक होकर तेरे भीतर प्रवेश नही कर सकता है, इसलिये तू समताभाव, इन्द्रिय सयम व अहिंसादि महाव्रतो के द्वारा उन कषायो के जीतने का यतन कर ।

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ॥१७७॥

भावार्थ :– आत्मज्ञानी मुनि वार वार आत्मज्ञान की भावना करता हुआ तथा जगत के पदार्थो को जैसे है वैसे जानता हुआ उन सबसे रागद्वेष छोड के आत्मा का ध्यान करता है ।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युति ।
तस्मादच्युतिमाकाक्षन् भावयेज् ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

भावार्थ :– आत्मा ज्ञानस्वभावी है । उसी ज्ञान स्वभाव की प्राप्ति ही अविनाशी मुक्ति है, इसलिये जो निर्वाण को चाहता है उसे आत्मज्ञान की भावना करनी चाहिये ।

ज्ञानं यत्र पुर सरं सहचरी लज्जा तप संबलम्
चारित्रं शिविका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः ।
पंथाश्च प्रगुण शमाम्बुबहुलः छाया दया भावना
यान तन्मुनिमापयेदभिमत स्थान विना विप्लवं ॥१२५॥

भावार्थ :– जिसके सम्यग्ज्ञान तो आगे आगे चलने वाला है, लज्जा साथ चलने वाली सखी है, सम्यक् चारित्र पालकी है, बीच मे ठहरने के स्थान स्वर्ग हैं, आत्मीक गुण रक्षक है, शातिमयी जल से पूर्ण मार्ग है, दया की जहा छाया है, आत्मभावना यही गमन है, ऐसा समाज जहा प्राप्त हो वह समाज विना किसी उपद्रव के मुनि को अपने अभीष्ट स्थान मोक्ष ले जाता है ।

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान् ।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूर परमं किमप्यसो ॥१०७॥

भावार्थ :– हे साधु ! तू दया, सयम, त्याग व आत्मध्यान सहित मोक्ष मार्ग मे सीधा कपट रहित प्रयत्नशील होकर गमन कर, यह मार्ग तुझे अवश्य वचन अगोचर, विकल्पो से अतीत उत्कृष्ट मोक्षपद मे ले जायेगा ।

(१६) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार मे कहते हैं –

जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारण तं च ।
त णाऊण विसुद्धं झायह होऊण णिग्गथो ॥६॥

भावार्थ :– जो निर्विकल्प आत्म तत्व है वही सार है, वही मोक्ष का कारण है उसी को जानकर और निर्ग्रन्थ होकर उसी निर्मल तत्व का ध्यान कर ।

रायादिया विभावा बहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं ।
एयग्गमणो झायहि णिरंजणं णिययअप्पाणं ।।१८।।

भावार्थ – रागादि विभावो को तथा बाहरी व भीतरी सर्व मन, वचन, काय के विकल्पो को छोडकर और एकाग्र मन होकर तू अपने निरजन शुद्ध आत्मा का ध्यान कर ।

जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण ।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरझाणजोएण ।।२४।।
झाणेण कुणउ भेयं पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं ।
घेत्तव्वो णियअप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो ।।२५।।
मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो ।
तारिसओ देहत्थो परमो बंभो मुणेयव्वो ।।२६।।

भावार्थ :– जैसे कोई अपनी तर्क बुद्धि से पानी और दूध के मिले होने पर भी पानी और दूध को अलग अलग जानता है वैसे ही ज्ञानी उत्तम व सूक्ष्म भेद विज्ञान के बल से आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है । ध्यान के बल से जीव से पुद्गल और कर्मों का भेद करके अपने आत्मा को ग्रहण करना चाहिये जो निश्चय से सिद्ध स्वरूप परम ब्रह्म है । जैसे कर्म मल रहित, ज्ञानमयी सिद्ध भगवान सिद्ध गति मे है वैसा ही परम ब्रह्म इस शरीर मे विराजित है ऐसा अनुभव करना चाहिये ।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं ।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ।।४०।।
सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं ।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ।।४१।।

भावार्थ :– जिसके मनरूपी जल को रागादि विभाव चचल नही करते हैं वही अपने आत्मा के तत्व का अनुभव कर सकता है उससे विपरीत हो तो कोई स्वात्मानुभव नही कर सकता है । जब सरोवर का पानी स्थिर होता है

तव उसके भीतर पडा हुआ रतन जैसे साफ साफ दिख जाता है वैसे निर्मल मनरूपी जल के स्थिर होने पर आत्मा का दर्शन हो जाता है ।

दंसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणियं ।
जो वेयइ अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥४५॥

भावार्थ :– जो कोई शुद्ध भाव मे स्थिर, चेतन स्वरूप अपने आत्मा का अनुभव करता है उसी योगी के निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र कहे गये है ।

सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो ।
जो अप्पाणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हु ॥६१॥

भावार्थ – सर्व सकल्प विकल्पो के रुक जाने पर योगी के भीतर एक ऐसा शाश्वत शुद्ध भाव प्रगट हो जाता है जो आत्मा का स्वभाव है तथा वही मोक्ष का मार्ग है ।

(१७) श्री आचार्य योगीन्दुदेव योगसार मे कहते है :–

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु समणेण ।
सो झाहतह परमपउ लब्भइ इक्कखणेण ॥१६॥

भावार्थ :– श्री जिन परमात्मा का स्मरण करो, उनका ही चिन्तवन करो, उन ही का शुद्ध मन होकर ध्यान करो, उसी के ध्यान करने से एक क्षण मे परम पद जो मोक्ष है उसका लाभ होगा ।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजुत्तु ।
तउ लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥

भावार्थ :– जो कोई व्रत व सयम के साथ निर्मल आत्मा की भावना करता है वह शीघ्र ही सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

जे परभाव चएवि मुणी अप्पा अप्पु मुणंति ।
केवलणाणसरूव लियइ ते संसारु मुचंति ॥६२॥

भावार्थ :– जो मुनि रागादि पर भावो को छोडकर आत्मा के द्वारा आत्मा का अनुभव करते है वे केवलज्ञान स्वरूप को पाकर ससार से मुक्त हो जाते हैं ।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कया वि ।
तह कम्मेण ण लिप्पियइ जइ रइ अप्पसहावि ॥६१॥

भावार्थ :— जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी मे नही डूबता है वैसे जो कोई आत्मा के स्वभाव मे रमण करता है वह कर्मों से नही बँधता है।

(१८) श्री नागसेनाचार्य तत्वानुशासन मे कहते है —

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः ।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥
यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥

भावार्थ — निश्चयनय से जो भिक्षु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रय सहित होकर न कुछ ग्रहण करता है, न कुछ त्यागता है, आप आपमे एकाग्र हो जाता है यही मोक्षमार्ग है। जो कोई वीतरागी आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा मे देखता है, जानता है वही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप होता हुआ निश्चय मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र का वचन है, क्योकि व्यवहार और निश्चय दोनो ही प्रकार का मोक्षमार्ग ध्यान मे प्राप्त होता है। इसलिये बुद्धिमान लोग आलस्य को त्यागकर सदा ही आत्मध्यान का अभ्यास करो।

स्वात्मान स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ॥७४॥

भावार्थ :— क्योकि ध्याता आत्मा, अपने आत्मा को अपने आत्मा मे अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिए अपने आत्मा मे से ध्याता है। अतएव निश्चय से छह कारकमयी यह आत्मा ही ध्यान है।

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥७५॥

भावार्थ :— असगपना, कषायो का निरोध, व्रत धारना तथा मन और इन्द्रियो की विजय, ये चार बातें ध्यान की उत्पत्ति मे सामग्री हैं।

संचितयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ॥७६॥

भावार्थ :— जो साधु इन्द्रियो के पदार्थों की ओर से ध्यान हटाकर भावनाओ का चितवन करता हुआ नित्य स्वाध्याय मे लगा रहता है वही मन को जीत लेता है ।

स्वाध्यायः परमस्तावज्जयः पंचनमस्कृतेः ।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ।।८०।।

भावार्थ :— उत्तम स्वाध्याय पाच परमेष्ठी के नमस्कार मत्र का जप है अथवा एकाग्र मन से जिनेन्द्र कथित शास्त्रो का पढना है ।

स्वाध्यायात्ध्यानमध्यस्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।।८१।।

भावार्थ :— स्वाध्याय करते करते ध्यान मे आना चाहिये । ध्यान मे मन न लगे तब स्वाध्याय करना चाहिये । ध्यान और स्वाध्याय की प्राप्ति से ही परमात्मा का स्वभाव प्रकाशमान होता है ।

विधासुः स्वं परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थिति ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ।।१४३।।

भावार्थ :— ध्याता आत्मा और पर का यथार्थ स्वरूप जान करके श्रद्धान मे लावे फिर पर को अकार्यकारी समझकर छोड दे, अपने को एक ही देखें व जानें ।

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकंपते ।
तथास्वरूपनिष्ठोऽयं योगीनैकाग्र्यमुज्झति ।।१७१।।

भावार्थ :— जैसे पवनरहित स्थान मे रक्खा हुआ दीपक निश्चल रहता है तैसे अपने आत्मा के स्वरूप मे लीन योगी एकाग्रता को नही त्यागता है ।

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान् ।
निरस्ताहममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ।।१७८।।

भावार्थ :— जो अहकार व ममकार भाव को त्यागकर एकाग्र मन से आत्मा का अनुभव करता है, आगामी कर्मों का सवर करता है और पूर्व सचित कर्म मल का क्षय करता है ।

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयता याति सोपाधिः स्फटिको यथा ।।१९१।।

भावार्थ :— आत्मज्ञानी जिस भाव से जिस स्वरूप का ध्यान करता है उसी भाव से उसी तरह तन्मय हो जाता है। जैसे स्फटिकमणि के साथ जिस प्रकार के रग की उपाधि होती है उसी से वह तन्मय हो जाती है।

(१९) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धच् पाय मे कहते है –

विपरीताभिनिवेश निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलन स एव पुरुषार्थसिद्ध् यु पायोऽयम् ॥१५॥

भावार्थ :— राग द्वेष मोहरूप विपरीत अभिप्राय को दूर कर तथा भली प्रकार अपने आत्मिक तत्व का निश्चय करके जो अपने आत्मा मे स्थिर होकर उससे चलायमान न होना सो ही मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपारज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्र कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

भावार्थ :— अपने आत्मा का दृढ निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान है, अपने आत्मा मे स्थिति सो चारित्र है, इनसे बध कैसे हो सकता है।

(२०) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार मे कहते है :–

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ॥८॥

भावार्थ :— जो अपने आत्मा के स्वभाव को श्रद्धान करता है, जानता है व अनुभव करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्र रूप आत्मा ही कहा गया है।

(२१) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश मे कहते हैं :–

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं।
क्वचिदपि च न विद्मोयातिनिक्षेपचक्रं।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९-१॥

भावार्थ :— जब सर्व तेजो को मन्द करने वाले आत्मा की ज्योति का अनुभव जागृत होता है तब नयो की या अपेक्षावादो की लक्ष्मी उदय नही होती है। प्रमाण के विकल्प भी अस्त हो जाते है, निक्षेपचक्र कहा गायब हो जाता

है, नही जाना जाता है, अधिक क्या कहें सिवाय आत्मानन्द के कुछ और दूसरा झलकता ही नही ।

मूर्तं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२-१॥

भावार्थ :– जब कोई भेदज्ञानी महात्मा अपने आत्मा से भूत, भावी व वर्तमान कर्मबन्ध व रागादि भावबन्ध को भिन्न करके व बलपूर्वक मोह को दूर करके भीतर देखता है तब उसको साक्षात् अपना आत्म-देव अनुभव मे आ जाता है जो प्रगट है, निश्चित है, नित्य ही कर्मकलक से शून्य है, अविनाशी है तथा जिसकी महिमा आत्मानुभव के द्वारा ही विदित होती है ।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०-१॥

भावार्थ – सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनो रत्नो की अपेक्षा तीन-पना होने पर भी जो आत्मज्योति अपने एक स्वभाव से निश्चल है, शुद्ध रूप प्रकाशमान है, अनन्त चैतन्य के चिन्ह को रखती है उसे हम निरन्तर अनुभव करते हैं क्योकि शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति जो हमारा स्वभाव है वह इस स्वानुभव के बिना हो नही सकती है ।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२-१॥

भावार्थ :– हे जगत के प्राणियो ! अनादिकाल से साथ आये हुए इस मोह-शत्रु को अब तो छोड और आत्मा के रसिक महात्माओ को जो रसीला है, ऐसे प्रकाशित आत्मा के शुद्ध ज्ञान का स्वाद लो क्योकि यह आत्मा कभी भी कही भी अनात्मा के साथ एक भाव को नही प्राप्त हो सकता है ।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली स-
न्ननुभय भवमूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तम् ।
पृथगथ विलसतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोह ॥२३-१॥

भावार्थ :— अरे भाई ! किसी तरह हो, मर करके भी आत्मिक तत्व का प्रेमी हो और दो घडी के लिये शरीरादि सर्व मूर्तिक पदार्थो का तू निकट-वर्ती पडौसी बन जाय उनको अपने से भिन्न जान और आत्मा का अनुभव कर। तो तू अपने को प्रकाशमान देखता हुआ मूर्तिक पदार्थ के साथ एकता के मोह को शीघ्र ही त्याग देगा।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्ननाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धि. ॥२-२॥

भावार्थ :— अरे भाई ! वृथा अन्य कोलाहल से विरक्त हो और स्वय ही निश्चिन्त होकर छ मास तक तो एक आत्मतत्व को मनन कर तो तेरे हृदयरूपी सरोवर मे पुद्गल से भिन्न तेजधारी आत्माराम की क्या प्राप्ति न होगी ? अवश्य होगी।

निजमहिमरताना भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषा शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थिताना
भवति सति च तस्मिन्नक्षय कर्ममोक्षः ॥४-६॥

भावार्थ — जो भेद विज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा की महिमा मे रत हो जाते है उनको शुद्ध आत्मतत्व का लाभ अवश्य होता है। सर्व अन्य पदार्थों से सदा दूरवर्ती रहने वाले महात्माओ को ही स्वानुभव होने पर सर्व कर्मों से मुक्ति प्राप्त होती है जिसका कभी क्षय नही है।

आससारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेत. पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातु·
शुद्धः शुद्ध· स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥६-७॥

भावार्थ :– हे अन्ध पुरुषो ! अनादि ससार से लेकर प्रत्येक शरीर मे ये रागी प्राणी उन्मत होते हुए जिस पद मे सो रहे है वह तेरा पद नही है, नही है, ऐसा भली प्रकार समझ ले इधर आ, इधर आ, तेरा पद यह है जहा चैतन्य धातुमय आत्मा द्रव्यकर्म व भावकर्म दोनो से शुद्ध अपने आत्मिक रस से पूर्ण सदा ही विराजमान रहता है ।

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥६-६॥

भावार्थ :– दृढ चित्त से चारित्र को पालने वाले मोक्षार्थी महात्माओ को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिये कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योति हूँ और जितने नाना प्रकार के रागादि भाव झलकते है, उन जैसा मैं नही हूँ क्योकि वे सर्व ही परद्रव्य है ।

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहित विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमयाऽवलम्बे ॥३६-१०॥

भावार्थ :– मैं शुद्ध निश्चय नय के द्वारा तीन काल सम्बन्धी सर्व ही कर्मों को दूर करके मोह रहित होता हुआ निर्विकार चैतन्य मात्र आत्मा का ही आलम्बन लेता हूँ ।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिश ध्यायेच्च त चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदय विदति ॥४७-१०॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप एक यही मोक्ष का मार्ग है । जो कोई रात दिन उसी मे ठहरता है, उसी का मनन करता है, उसी का अनु-भव करता है, उसी मे ही निरन्तर विहार करता है, अन्य द्रव्यो को स्पर्श भी नही करता है, वही नित्य उदय रूप शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवश्य अवश्य प्राप्त कर लेता है ।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धाः मूढास्त्वमूमनुपलभ्यपरिभ्रमन्ति ॥२०-११॥

भावार्थ :— जो महात्मा किसी भी तरह मोह को दूर करके इस निश्चल ज्ञान मात्र आत्मिक भाव की भूमि का आश्रय लेते है वे मोक्ष के साधन को पाकर सिद्ध हो जाते हैं। अज्ञानी इस आतम भूमि को न पाकर ससार मे भ्रमण करते रहते है ।

(२२) अमितिगति आचार्य सामायिकपाठ मे कहते है :—

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था, भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं, स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ॥२४॥

भावार्थ :— मेरे आत्मा से वाहर जितने पदार्थ है वे मेरे कोई नही है और न मै कभी उनका हूँ । ऐसा निश्चय करके सर्व वाहरी पदार्थो से मोह छोडकर हे भव्य ! तू सदा अपने ही आत्मा मे लीन हो, इसी से मुक्ति का लाभ होगा ।

आत्मानमात्मन्यवलोकयमानस्त्वं दर्शनज्ञानमयो विशुद्धः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र, स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ॥२५॥

भावार्थ :— हे भद्र ! तू अपने आत्मा मे ही आत्मा को देखता हुआ दर्शन ज्ञानमयी विशुद्ध एकाग्र चित्त हो जा, क्योंकि जो साधु निज आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे स्थित होता है वही आत्म समाधि को पाता है ।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं संसारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२६॥

भावार्थ :— ससार वन मे भटकाने वाले सर्व ही रागादि विकल्प जालो को दूर करके यदि तू सर्व से भिन्न ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करे तो तू अवश्य परमातम तत्व मे लीनता को प्राप्त कर लेगा ।

(२३) श्री अमितिगति आचार्य तत्वभावना मे कहते है —

येषा काननमालयं शशधरो दीपस्तमश्छेदक ।
भैक्ष्य भोजनमुत्तमं वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम् ॥

संतोषामृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते ।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दु रापं परैः ॥२४॥

भावार्थ :– जिन महात्माओ का घर वन है, अन्धकार नाशक दीपक चन्द्रमा है, उत्तम भोजन भिक्षा है, शय्या पृथ्वी है, दश दिशाएँ वस्त्र है, सतोषरूपी अमृत के पान से जिनका शरीर पुष्ट है वे ही धन्य पुरुष कर्मों का क्षय करके दु ख रहित मोक्ष के स्थान को पाते हैं, जो दीनो से प्राप्त नही किया जा सकता ।

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः ।
बाह्याभ्यंतरसंगमाशविमुखाः कृत्वात्मवश्यं मन. ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यासते ।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधिं बुधाः ॥३६॥

भावार्थ :– जिन महात्माओ ने इन्द्रिय विषय और कषाय रूपी वैरियो के विजय का अभ्यास किया है, जो लौकिक व्यवहार से अलग हैं, जिन्होने बाहरी भीतरी परिग्रह को त्याग दिया है वे ही ज्ञानी अपने मन को वश करके ससार शरीर भोगो से उत्तम वैराग्य को रखते हुए आत्म समाधि को प्राप्त करके शरीर रहित हो मोक्ष को प्राप्त करते है ।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः ॥
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! मैं शूर हूँ, मैं बुद्धिमान हूँ, मैं चतुर हूँ, मै सबसे अधिक धनवान हूँ, मैं प्रतिष्ठित हूँ, मैं गुणवान हूँ, मैं समर्थ हूँ, मैं सब मानवों मे मुख्य हूँ । इस तरह की पाप बधकारी कल्पना को सर्वथा दूर करके तू निर्मल आत्मिक स्वभाव का ध्यान कर जिससे निर्वाण की लक्ष्मी प्राप्त हो ।

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरंतरम् ।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयः शुद्धेन कर्मेंधनम् ॥
लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा द्विलोकार्चिता. ।
पथानं कथयंति सिद्धिवसतेस्ते संतु नः सिद्धये ॥६४॥

भावार्थ :– जो मुनि शरीर और आतमा के भेद को जिसका पाना दुर्लभ है, पाकर के और शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को जला देते हैं वे लोकालोक को देखने वाले केवलज्ञान नेत्रधारी इस लोक परलोक से पूज्य होकर हमारी शुद्धि के लिए मोक्षनगर जाने का मार्ग बताते है ।

(२४) श्री पद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृत मे कहते है –

वचनविरचितंवोत्पद्यते भेदबुद्धिर्दृगवगमचरित्राण्यात्मनः स्व स्वरूपम् ।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभाव व्रजति विषयभाव योगिना योगदृष्टेः ॥७६॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भेदरूप मोक्षमार्ग की बुद्धि वचनो से रची हुई हे । वास्तव मे यह रत्नत्रय आतमा का अपना स्वभाव है । योगी ध्यान दृष्टि के द्वारा इसी चेतनामय स्वभाव का ही अनुभव करते हे ।

(२५) श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्तति मे कहते हैं –

दर्शन निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमितियोगः शिवाश्रयः ॥१४॥

भावार्थ – शुद्धात्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा मे स्थिति सम्यक्चारित्र है, तीनो की एकता ही मोक्ष का मार्ग है ।

एकमेव हि चैतन्य शुद्धनिश्चयतोऽथवा ।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि ॥१५॥

भावार्थ :– अथवा शुद्ध निश्चयनय से एक चैतन्य ही मोक्षमार्ग है । अखड वस्तु आतमा मे भेदो के उठाने की जरूरत नही है ।

साम्यमेकं पर कार्यं साम्यं तत्व पर स्मृतम् ।
साम्य सद्वोंपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥६६॥

भावार्थ :– उत्तम समताभाव एक करना चाहिए, समता का तत्व उत्कृष्ट है । समताभाव ही सर्व उपदेशो मे सार उपदेश मुक्ति के लिए कहा गया है ।

साम्य सद्बोधनिर्माण शाश्वदानदमदिरम् ।
साम्यं शुद्धात्मनोरूप द्वार मोक्षैकसद्मन. ॥६७॥

भावार्थ :– समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचने वाला है, यह अविनाशी आनन्द का मन्दिर है। समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है। यही मोक्षमहल की सीढी है।

साम्य निश्शेषशास्त्राणा सारमाहुर्विपश्चित·।
साम्य कर्ममहादावदाहे दावानलायते ॥६८॥

भावार्थ :– समताभाव सर्व शास्त्रो का सार है ऐसा विद्वानो ने कहा हे। समताभाव ही कर्मरूपी महावृक्ष के जलाने को दावानल के समान है। यह समताभाव आत्मध्यान से ही जागृत होता है।

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः।
उपादेय परज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥७५॥

भावार्थ :– रागादि उपजाने वाले कर्म तथा रागादिभाव उनके कार्य ये सव ही ज्ञानी द्वारा त्यागने योग्य है। मात्र एक उपयोग लक्षणरूप आत्मा की परमज्योति ही ग्रहण करने योग्य है।

(२६) श्री पद्मनदि मुनि सद्बोधचद्रोदय मे कहते है :–

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चित योऽन्यदेशनिहित समीक्षते।
वस्तु मुष्टिविधृत प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥६॥

भावार्थ :– आत्मतत्व निश्चय से आत्मा मे ही है। जो कोई उस तत्व को अन्य स्थान मे खोजता है वह ऐसा मूढ है जो अपनी मुट्ठी मे धरी वस्तु को वन मे ढूढता है।

सविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारणं भवेत्।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ॥२०॥

भावार्थ :– शुद्ध परमात्मा की भावना शुद्ध पद का कारण है। अशुद्ध आत्मा की भावना अशुद्ध पद का कारण है। जैसे सुवर्ण से सुवर्ण के पात्र वनते है और लोहे से लोहे के पात्र वनते है।

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः।
नान्यवल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ॥२५॥

भावार्थ :- सर्व रागादि की उपाधि से रहित जो एक ज्ञानरूप तत्व है सो ही हमारा है और जरासा भी कोई हमारा तत्व नही है ऐसा योगी का निश्चय मोक्ष का कारण है।

निश्चयावगमनस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि ।
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ।।३०।।

भावार्थ :– परमात्मा के स्वरूप मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र इन तीनो रत्नो का सचय है । इसलिए योगियो की दृष्टि का विषय एक निज आत्मा ही है ।

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः ।
योगिनोऽणुसदृशं विभाव्यते यत्र मग्नमखिलं चराचरम् ।।३३।।

भावार्थ :– योगी के आत्मध्यान रूपी चन्द्रमा के उदय से निर्मल ज्ञानरूपी समुद्र बढ जाता है । उस समुद्र मे यह चर अचररूप सर्व जगत् डूब करके एक अणुमात्र दिखलाई पडता है । शुद्ध ज्ञान मे ऐसी शक्ति है जो ऐसे अनन्त लोक हो तो भी दिख जावे ।

जल्पितेन बहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिद्धये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितम् ।।४१।।

भावार्थ :– बहुत अधिक कहने से क्या ? ध्यान की सिद्धि के लिए बुद्धिमान को उचित है कि सर्व कर्मगत रागादि की उपाधि से रहित एक समताभाव को अगीकार करे ।

(२७) श्री पद्मनदि मुनि निश्चयपचाशत् में कहते हैं :–

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपम् ।
तत्तत्र तत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः ।।१३।।

भावार्थ :– सम्यक् सुख ज्ञान दर्शन ये तीनों ही अखण्ड परमात्मा का स्वभाव है । इसलिए जो कोई परमात्मा में लीन है वह सच्चे सुख व ज्ञान व दर्शन को पाकर कृतकृत्य हो जाता हैं ।

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ।।१६।।

भावार्थ :– यदि सम्यक् आत्मज्ञान न हो तो यह मानव कदापि मोक्ष को नही प्राप्त कर सकता है । चाहे वह हिंसा से रहित एकाकी सर्व उपद्रव को सहता हुआ वन मे वृक्ष के समान खडा रहे ।

(२८) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय में कहते हैं :—

संगाविरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकांक्षणतत्पराः ॥१६६॥
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्रं करुणापराः ॥१६७॥

भावार्थ :— जो परिग्रह आदि से रहित है, धीर है, रागादिमल से रहित है, शात है, इन्द्रिय विजयी है, तपस्वी है, मुक्ति प्राप्ति की भावना रखते है, मन, वचन, काय तीनो योगो को वश मे रखने वाले है, चारित्रवान है, दयावान है, वे ही ध्यानी उत्तम पात्र मुनि हैं ।

आर्त्तरौद्रपरित्यागाद धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ॥२२६॥

भावार्थ :— आर्त व रौद्रध्यान को त्यागकर जो धर्मध्यान और शुक्लध्यान का आश्रय लेता है वही जीव अनतसुखमयी अविनाशी निर्वाण को प्राप्त करता है ।

आत्मा वै सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थित ।
यदासौ प्रशमो नास्ति ततस्तीर्थंनिरर्थकम् ॥३११॥

शीलव्रतजले स्नातुं शुद्धिरस्य शरीरिणः ।
न तु स्नातस्य तीर्थेषु सर्वेष्वपि महीतले ॥३१२॥

रागादिवर्जितं स्नानं ये कुर्वंति दयापराः ।
तेषां निर्मलता योगैर्न च स्नातस्य वारिणा ॥३१३॥

आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा ।
येन निर्मलतां याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ॥३१४॥

भावार्थ — जब यह आत्मा शांतभाव मे तिष्ठता है तब यही महान तीर्थ है । यदि आत्मा में शाति नही है तो तीर्थयात्रा निरर्थक है । शील व व्रतरूपी जल मे स्नान करने से आत्मा की शुद्धि होती है किन्तु पृथ्वीभर की नदियो मे स्नान करने से नही हो सकती है । जो कोई दयावान रागद्वेषादि भावो को छोडकर आत्मा के वीतरागभाव मे स्नान करते हैं उन्हीं को ध्यान से निर्मलता प्राप्त होती है मात्र जल के स्नान से पवित्रता नही आती है । आत्म-

ज्ञानरूपी जल से आत्मा को नित्य स्नान कराना चाहिये, जिससे जन्म जन्म के पाप धुल जाते है ।

(२९) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है –

मोहवह्निमपाकर्त्तु स्वीकर्त्तु संयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यानं समत्वमवलम्ब्यताम् ॥१-२४॥

भावार्थ – हे आत्मन् ! मोहरूपी अग्नि को बुझाने के लिये समयरूपी लक्ष्मी को स्वीकार करने के लिये तथा रागरूपी वृक्षो के समूह को काटने के लिये समताभाव को धारण करो ।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ॥३-२४॥

भावार्थ – हे आत्मन् ! तू कामभोगो से विरक्त हो, शरीर मे राग को छोड और समभाव को भज क्योकि केवल ज्ञानरूपी लक्ष्मी का कुल ग्रह समभाव है । समभाव से ही अरहत पद होता है ।

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥५-२४॥

भावार्थ – संयमी समताभावरूपी सूर्य की किरणो से रागादि अन्धकार के समूह को जब नष्ट कर देता है तब वह अपने आत्मा मे ही परमात्मा के स्वरूप को देख लेता है ।

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥६-२४॥

भावार्थ – भेद विज्ञानी महात्मा समताभाव की सीमा को प्राप्त करके और अपने आत्मा मे आत्मा का निश्चय करके जीव और कर्मों को जो अनादि से मिले है । पृथक् कर देता है ।

भावयस्व तथात्मानं समत्वेनातिनिर्भरम् ।
न यथा द्वेषरागाभ्यां गृह्णात्यर्थकदम्बकम् ॥८-२४॥

भावार्थ – हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा की समताभाव के साथ अति गाढ इस तरह भावना कर कि जिससे पदार्थ के समूह को रागद्वेष से देखना बन्द हो जावे ।

आशाः सद्यो विपद्यन्ते यान्त्यविद्या. क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥११-२४॥

भावार्थ :— जो महात्मा समभाव की भावना करता है उसकी आशाए शीघ्र नाश हो जाती है, अज्ञान क्षण भर मे क्षय हो जाता है, चित्त रूपी सर्प भी मर जाता है ।

साम्यमेव परं ध्यानं प्रणीतं विश्वदर्शिभिः ।
तस्यैव व्यक्तये नूनं मन्येऽयं शास्त्रविस्तरः ॥१३-२४॥

भावार्थ – सर्वज्ञो ने समता भाव को ही उत्तम ध्यान कहा है, उसी को प्रगटता के लिये सर्व शास्त्रो का विस्तार है, ऐसा मैं मानता हूँ ।

तनुत्रयविनिर्मुक्तं दोषत्रयविवर्जितम् ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मानं तदा साम्ये स्थितिर्भवेत् ॥१६-२४॥

भावार्थ :— जब योगी अपने आत्मा को औदारिक, तैजस, कार्माण इन तीन शरीरो से रहित व राग द्वेप, मोह इन तीन दोषो से रहित आत्मा ही के द्वारा जानता है, तब ही समभाव मे स्थिति होती है ।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणम् ।
निश्चिनोति यदात्मानं तदा साम्य प्रसूयते ॥१७-२४॥

भावार्थ – जिस समय यह आत्मा अपने को सर्व परद्रव्यो की पर्यायो से व परद्रव्यो से विलक्षण निश्चय करता है उसी समय समता भाव पैदा होता है ।

सौधोत्सङ्गे श्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा
पल्यंके कण्टकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
शीर्णाङ्गे दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्तं विकल्पै-
र्नालीढं सोऽयमेकः कलयति कुशल साम्यलीलाविलासं ॥२९-२४॥

भावार्थ – जिस महात्मा का चित्त महलो को या श्मशान को देखकर, स्तुति व निन्दा किये जाने पर, कीचड व केशर से छिडके जाने पर, पल्यक शय्या व काटो पर लिटाए जाने पर, पाषाण और चन्द्रकातमणि के निकट आने पर, चर्म व चीन के रेशमी वस्त्रो के दिये जाने पर, क्षीण शरीर व सुन्दर स्त्री

के देखने पर अपूर्व शान्तभाव के प्रताप से रागद्वेष विकल्पों को स्पर्श नहीं करता है वही चतुर मुनि समता भाव के आनन्द को अनुभव करता है ।

यस्य ध्यानं सुनिष्कम्पं समत्वं तस्य निश्चलम् ।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योन्यं स्याद्विभेवत. ॥२-२५॥

भावार्थ :– जिसके ध्यान निश्चल है उसी के समभाव निश्चल है । ये दोनो परस्पर आधार है । ध्यान का आधार समभाव है, समभाव का आधार ध्यान है ।

साम्यमेव न सद्ध्यानात् स्थिरी भवति केवलम् ।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ॥३-२५॥

भावार्थ :– प्रशसनीय आत्म ध्यान से केवल समता भाव ही नही स्थिर होता है किन्तु यह शरीर रूपी यन्त्र का स्वामी जीव जो कर्मों के समूह मे मलीन है सो शुद्ध हो जाता है ।

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये ।
शश्वत्ध्यानाम्बुधेर्धीरैरवगाहः प्रशस्यते ॥६-२५॥

भावार्थ :– ससार रूपी अग्नि से उत्पन्न हुए वडे आताप की शांति के लिये धीर वीर पुरुषो को ध्यान रूपी समुद्र का स्नान ही श्रेष्ठ है ।

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशयः ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ॥३-२७॥

भावार्थ :– धर्म ध्यान का ध्याता वही होता है जो सम्यक्ज्ञान और वैराग्य से पूर्ण हो, इन्द्रिय व मन को वश मे रखने वाला हो, जिसका अभिप्राय स्थिर हो, मोक्ष का इच्छुक हो, उद्यमी हो तथा शात भाव धारी हो तथा धीर हो ।

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यपि भूतले ।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥३४-२७॥

भावार्थ :– जो जो स्थान ध्यान मे विघ्न कारक हो उन सबको स्वप्न मे भी सेवन न करे । मुनियो को एकात ध्यान योग्य स्थान मे ही करना चाहिये ।

यत्र रागादयो दोषा अजं यान्ति लाघवम् ।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यान काले विशेषतः ॥८-२८॥

भावार्थ -- जहा बैठने से रागादि दोष शीघ्र घटते चले जावे वहाँ ही साधु को बैठना ठीक है । ध्यान के समय मे इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये ।

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले ।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९-२८॥

भावार्थ -- धीर पुरुष ध्यान की सिद्धि के लिये काठ के तखते पर, शिला पर, भूमि पर, व बालू रेत मे भली प्रकार आसन लगावे ।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा ।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०-२८॥

भावार्थ -- ध्यान के योग्य ये आसन हैं (१) पर्यंकासन (पद्मासन), अर्द्धपर्यंकासन (अर्द्ध पद्मासन), वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग ।

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम् ।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मन. ॥२०-२८॥

भावार्थ -- ध्यान की सिद्धि के लिये स्थान और आसन का विधान है। इनमे से एक भी न हो तो मुनि का चित्त क्षोभ रहित न हो ।

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३-२८॥

भावार्थ -- ध्यानी मुनि जो ध्यान के समय प्रसन्न मन होकर साक्षात् पूर्व दिशा में मुख करके अथवा उत्तर दिशा में भी मुख करके ध्यान करे तो प्रशसनीय है ।

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०-२८॥

भावार्थ -- इन्द्रियों को जीतने वाला महात्मा योगी आसन को भी वश मे करे । जिसका आसन ध्यान मे स्थिर होता है वह कुछ भी खेद नही पाता है ।

नेत्रद्वन्द्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीयम् ॥१३-३०॥

भावार्थ :— शुद्ध मतिधारी आचार्यों ने दश स्थान ध्यान के समय चित्त को रोकने के लिये कहे है — (१) नेत्रयुगल, (२) कर्णयुगल, (३) नाक का अग्र भाग, (४) ललाट, (५) मुख, (६) नाभि, (७) मस्तक, (८) हृदय, (९) तालु, (१०) दोनो भौहो का मध्य भाग । इनमें से किसी एक स्थान में मन को विषयो से रहित करके ठहराना उचित है । उन्ही में कही पर ॐ या ह्रीं मन्त्र को स्थापित कर ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है ।

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८ ३१॥

भावार्थ :— जहाँ आत्मा परमात्मा मे एकतानता से लीन हो जावे वही समरसीभाव है, वही एकीकरण है, वही आत्मध्यान है ।

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।
क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ॥३२ ३२॥

भावार्थ — ध्याता विचारे कि मैं अपने को ज्ञान ज्योतिमय देखता हू। इसी से मेरे रागादिक क्षय हो गए है । इस कारण न कोई मेरा शत्रु है न कोई मेरा मित्र है ।

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मा ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥४१ ३२॥

भावार्थ — यह आत्मा आत्मा मे ही आत्मा के द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है इससे छोडकर अन्य स्थान मे आत्मा के जानने का जो खेद है सो निष्फल है ।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥४२-३२॥

भावार्थ — वही मैं परमात्मा हू, वही मैं परमात्मा हू, इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासना को दृढ करता हुआ आत्मा मे स्थिरता को पाता है, आत्मध्यान जग उठता है ।

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥८५-३२॥

भावार्थ :— शरीर से आत्मा भिन्न है ऐसा सुनता हुआ भी तथा कहता हुआ भी जब तक दोनों भेद का अभ्यास पक्का नही होता है तब तक देह से ममत्व नही छूटता है ।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥९९-३२॥

भावार्थ :— हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही मे आप ही से ऐसा जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, वचनो से कहने योग्य नही हूँ, अमूर्तिक हूँ, मन की कल्पना से रहित हूँ तथा चिदानन्दमयी हूँ ।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥३१-३७॥

भावार्थ — इस तरह पिंडस्थ ध्यान मे जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि ध्यान से साध्य जो मोक्ष का सुख उसको शीघ्र ही पाता है ।

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यान सिद्धिध्रुवं मुने ।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्तस्येह देहिनः ॥११४-३८॥

भावार्थ :— जो मुनि वीतराग हैं उनके ध्यान की सिद्धि अवश्य होती है परन्तु रागी के लिए ध्यान करना दु ख रूप ही है ।

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयतां गतः ॥३२-३९॥

भावार्थ :— जो सर्वज्ञ देव की शरण रखकर अन्य की शरण न रखता हुआ उसी के स्वरूप मे मन को लीन कर देता है वह ध्यानी मुनि उसी मे तन्मयता को पाकर उसी स्वरूप हो जाता है ।

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपतां गतः ।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३-३९॥

भावार्थ :— जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपने को देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो सर्वज्ञ देव हैं उसी स्वरूपपने को मैं प्राप्त हुआ हूँ । इस कारण वही सर्व का देखने वाला मैं हूँ । अन्य मैं नही हू ऐसा मानता है ।

त्रैलोक्यानंदबीजं जननजलनिधेर्यानपात्रं पवित्रम्
लोकालोकप्रदीपं स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठम्
देवं विश्वैकनाथं शिवमजमनघं वीतरागं भजस्व ।।४६-३९।।

भावार्थ :— हे मुने ! तू वीतरागदेव का ध्यान कर । जो देव तीन लोक को आनन्द के कारण है, ससार समुद्र से पार करने को जहाज हैं, पवित्र है, लोकालोक प्रकाशक हैं, करोडो चन्द्रमा के प्रभा से भी अधिक प्रभावान हैं, किसी मुख्य कोटि मे सर्व जगत का उल्लघन करके प्रतिष्ठा प्राप्त हैं, जगत के एक नाथ है, आनन्द स्वरूप है, अजन्मा व पापरहित है ।

इति विगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं
विदितसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ।।३१-४०।।

भावार्थ :— हे मुनि ! इस प्रकार विकल्परहित, रागादि दोष रहित, सर्वज्ञायक ज्ञाता, सर्वप्रपच से शून्य, आनन्दरूप, जन्ममरण रहित, कर्म रहित जगत के एक अद्वितीय स्वामी परमपुरुष परमात्मा को भाव को शुद्ध करके भजन कर ।

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
धर्म्मध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखाम्भोरुहम् ।।२-४२।।

भावार्थ :— हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा के अर्थ का ही आश्रय कर, मोहरूपी वन को छोड, भेद विज्ञान को मित्र बना, वैराग्य को भज, निश्चय से शरीर और आत्मा के भेद की भावना कर । इस तरह धर्म ध्यानरूपी अमृत के समुद्र के मध्य मे अवगाहन करके अनन्तसुख से पूर्ण मुक्ति के मुखकमल को देख ।

(३१) भट्टारक श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञान तरगिणी मे कहते है —

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि क्व यांति सगाश्चिदचित्स्वरूपाः ।
क्व यांति रागादय एव शुद्धचिद्रूपकोऽहं स्मरणे न विद्मः ।।८-२।।

भावार्थ :– मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ ऐसा स्मरण करते ही न जाने कहा शुभ व अशुभ कार्य चले जाते है, न जाने कहा चेतन व अचेतन परिग्रह चले जाते हैं तथा न जाने कहा रागादि विला जाते है।

मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृत चिंतामणिः केवलं
साम्यं तीर्थंकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेंद्रो महान्।
भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधीवृताप्तगोमानवा–
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः ।।६-२।।

भावार्थ :– जैसे पर्वतो मे गेरु श्रेष्ठ है, वृक्षो मे कल्पवृक्ष बडा है, धातुओ मे सुवर्ण उत्तम है, पीने योग्य पदार्थों में अमृत सुन्दर है, रत्नो मे उत्तम चिन्तामणि रत्न है, ज्ञानो मे श्रेष्ठ केवलज्ञान है, चारित्रो मे श्रेष्ठ समताभाव है, आत्माओ मे तीर्थंकर बडे हैं, गायो मे प्रशसनीय कामधेनु है, मानवो मे महान चक्रवर्ती है तथा देवो मे इन्द्र महान व उत्तम है उसी तरह सर्व ध्यान मे शुद्ध चिद्रूप का ध्यान सर्वोत्तम है।

तं चिद्रूपं निजात्मान स्मर शुद्धं प्रतिक्षणं।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ।।१३-२।।

भावार्थ :– हे आत्मन्! तू चैतन्यस्वरूप शुद्ध अपने आत्मा का प्रतिक्षण स्मरण कर जिसके स्मरण मात्र से शीघ्र ही कर्म क्षय हो जाते है।

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ।।५-३।।

भावार्थ :– ज्ञानी अन्य सर्व इच्छाओ को त्यागकर, परिग्रह से अलग होकर शुद्ध चैतन्यरूप के ध्यान के लिये एकान्त स्थान पर्वत की गुफाओ मे वास करते हैं।

कर्मांगाखिलसंगे निर्ममतामातरं विना।
शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ।।११-३।।

भावार्थ :– सर्व कर्मों से, शरीर से व सर्वपरिग्रह से निर्ममतारूपी माता के बिना शुद्ध चैतन्यरूप सत्य ध्यानरूपी पुत्र की उत्पत्ति नही हो सकती है।

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपकंविना।
तस्मादन्यत्र मे चिंता वृथा तत्र लयं भजे ।।१०-४।।

भावार्थ :– शुद्ध चैतन्य स्वरूप के सिवाय न तो और मैं कुछ हूं न कुछ मेरा है । इसलिये दूसरे की चिंता करना वृथा है, ऐसा जानकर मैं एक शुद्ध चिद्रूप मे ही लय होता हू ।

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ।।१०-६।।

भावार्थ :– अपने शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप को जानकर उसी मे तिष्ठो और निराकुल रहो । दूसरे भले बुरे किसी पदार्थ मे रागद्वेषादि भाव न करना उचित है ।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ।।११-६।।

भावार्थ :– मै चैतन्यरूप हूँ इसलिये मै उसी को देखता हूँ और सुखी होता हूँ । उसी से ससार का नाश और मुक्ति का लाभ होता है, यही जैनागम का सार है ।

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत् ।
पिबति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ।।४-८।।

भावार्थ – जिस तरह प्यास के दुख को दूर करने के लिये बुद्धिमान् सैवाल को हटाकर जल को पीता है उसी तरह ज्ञानी सर्व सकल्प विकल्पो को छोडकर एक निर्मल आत्मध्यान रूपी अमृत का ही पान करते है ।

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः ।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ।।५-८।।

भावार्थ :– आत्मध्यान से बढकर कही कभी सुख नही है, न आत्मध्यान से बढकर कही कभी कोई तप है, न आत्मध्यान से बढकर कही कभी कोई मोक्ष-मार्ग है ।

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने ।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ।।१७-८।।

भावार्थ :– यह भेद विज्ञान शुद्ध चिद्रूप के दर्शन के लिये तथा अनादि काल के महा मिथ्यात्वरूपी अ धकार के छेदने के लिये दीपक है ।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं ।
तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ।।२१-६।।

भावार्थ :– शुद्ध चिद्रूप के ध्यान के सिवाय जितने कार्य है वे सब मोह से होते हैं। उस मोह से कर्म बन्ध होता है, बध से दुख होता है, इससे जीव का वैरी मोह ही है।

निर्ममत्व परं तत्वं ध्यानं चापि व्रत सुखं।
शीलं खरोधन तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ॥१४-१०॥

भावार्थ :– सबसे ममता का त्याग ही परम तत्व है, ध्यान है, व्रत है व परमसुख है, शील है, व इन्द्रिय निरोध है। इसलिये निर्ममत्व भाव को सदा विचार करे।

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिर्न जायते।
यर्थाद्धिस्तपसः पुत्री पितुर्वृष्टिर्बलाहकात् ॥३-१२॥

भावार्थ :– जिस तरह तप के बिना शुद्धि नही, पिता के बिना पुत्री नही होती, मेघ बिना वृष्टि नही होती वैसे रत्नत्रय के बिना चैतन्य स्वरूप को प्राप्ति नही होती है।

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनं।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वजिनेश्वरैः ॥४-१२॥

भावार्थ :– जहा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप अपने ही आत्मा की प्रवृत्ति एक साथ होती है इसी को जिनेन्द्रो ने रत्नत्रय धर्म कहा है।

यथा बलाहकवृष्टेर्जायते हरितांकुराः।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥१०-१४॥

भावार्थ – जैसे मेघो की वृष्टि से हरे अंकुर फूटते है वैसे शुद्ध चैतन्य-रूप के चिंतवन से मोक्षदायक धर्म की वृद्धि होती है।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्वज्ञान सर्वचिंताविमुक्तिः।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥८-१६॥

भावार्थ :– इन नीचे लिखे कारणो से मुनियो को ध्यान की सिद्धि मुक्ति के लिये होती है। ये ही मोक्ष के कारण हैं (१) परिग्रह त्यागकर असंगभाव, (२) निर्जन एकात स्थान, (३) तत्वज्ञान, (४) सर्व चिंता से छुट्टी, (५) बाधारहितपना, (६) तथा मन, वचन, काय योगो को वश करना।

(३२) बनारसीदासजी बनारसीविलास मे कहते है :–

[सवैया इकतीसा]

पूरब करम दहै, सरवज्ञ पद लहै,
गहे पुण्यपथ फिर पाप मैं न आवना।
करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै;
लागै दानशील तप सु फल सुहावना ।।
पावै भवसिंधु तट खोले मोक्षद्वार पट,
शर्म साध धर्म की धरा मैं करै धावना।
एते सब काज करै अलख को अंग धरै,
चेरी चिदानन्द की अकेली एक भावना ।।८६।।

प्रशम के पोषवे को अमृत की धारासम,
ज्ञान वन सीचवे को नदी नीर भरी है।
चचल करण मृग बाधवे को बागुरासी;
कामदावानल नासवेको मेघ झरी है ।।
प्रबल कषायगिरि भजवेको वज्र गदा,
भौ समुद्र तारवेको पौढी महा तरी है।
मोक्षपन्थ गहवेको वेशरी विलायतकी,
ऐसी शुद्ध भावना अखड धार ढरी है ।।८७।।

[कवित्त]

आलस त्याग जाग नर चेतन, बल सँभार मत करहु बिलम्ब।
इहा न सुख लवलेश जगतमहिं, निंब विरपमें लगै न अम्ब ।।
तातै तू अन्तर विपक्ष हर, कर विलक्ष निज अक्षकदम्ब।
गह गुन ज्ञान बैठ चारितरथ, देहु मोष मग सम्मुख बंब ।।३।।

[सवैया तेईसा]

धीरज तात क्षमा जननी, परमारथ मीत महारुचि मासी।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा, मति पुत्रवधू समता अतिभासी ।।

उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र शुभोदय दासी ।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग, यो मुनि को कहिये गृहवासी ।।७।।

(३३) प बनारसीदासजी नाटक समयसार मे कहते है :—

[सवैया इकतीसा]

जैसे रवि मडल के उदै महि मडल मे,
आतम अटल तम पटल विलातु है ।
तैसो परमातम को अनुभौ रहत जोलो,
तोलो कहू दुविधा न कहू पक्षपात है ।।
नय को न लेस परमाण को न परवेस,
निक्षेप के वस को विध्वस होत जातु है ।
जे जे वस्तु साधक है तेऊ तहा बाधक है,
बाकी राग द्वेष की दशा की कोन बातु है ।।१०।।

[कवित्त]

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु मोहकी जेल ।
समकित रूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को खेल ।।
पुद्गल पिड भाव रागादि, इनसो नही तिहारो मेल ।
ये जड प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ।।१२।।

[सवैया तेईसा]

शुद्ध नयातम आतम की, अनुभूति विज्ञान विभूति है सोई ।
वस्तु विचारत एक पदारथ, नाम के भेद कहावत दोई ।।
यो सरवग सदा लखि आपुहि, आतम ध्यान करे जब कोई ।
मेटि अशुद्ध विभाव दशा तब, सिद्ध स्वरूप की प्रापति होई ।।१४।।

[सवैया इकतीसा]

बनारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
केहू भाति कैसे हू के ऐसो काज कीजिये ।
एकहू मुहूरत मिथ्यात्व को विध्वस होई,
ज्ञान को जगाय अस हस खोज लीजिये ।।

वाही को विचार वाको ध्यान यह कौतूहल,
यो ही भर जन्म परम रस पीजिये।
तजिये भववास को विलास सविकार रूप,
अन्त कर मोह को अनन्त काल जीजिये ।।२४।।

भैया जगवासी तू उदासी व्हैके जगत सो,
एक छह महीना उपदेश मेरो मानरे।
और सकलप विकलप के विकार तजि,
बैठि के एकत मन एक ठौर आन रे ।।
तेरो घट सरिता मे तूं ही व्है कमल वाको,
तू ही मधुकर व्है सुवास पहिचान रे।
प्रापति न व्है है कछू ऐसो तूं विचारत हैं,
सही व्है है प्रापति सरूप योही जान रे ।।३।।

भेदज्ञान आरासो दुफारा करे ज्ञानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचे।
अनुभौ अभ्यास लहे परम धरम गहे,
करम भरम को खजानो खोलि खरचे ।।
योही मोक्ष मग धावे केवल निकट आवे,
पूरण समाधि लहे परम को परचे।
भयो निरदोर याहि करनो न कछु और,
ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचे ।।२।।

जामे लोक वेद नाहि थापना उछेद नाहि,
पाप पुन्य खेद नाहि क्रिया नाहि करनी।
जामें राग द्वेष नाहि जामें बध मोक्ष नाहि,
जामे प्रभुदास न आकाश नाहि धरनी ।।
जामे कुल रीति नाहि, जामे हार जीत नाहि,
जामे गुरु शिष्य नाहि विषयनाहि भरनी।
आश्रम वरण नाँहि काहुका सरण नाहि,
ऐसी शुद्ध सत्ता की समाधि भूमि बरनी ।।२४।।

[सवैया तेईसा]

जो कबहूँ यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात्व मिटावे ।
सम्यक् धार प्रवाह वहे गुण, ज्ञान उदै सुख ऊरध धावै ।।
तो अभिअन्तर दर्वित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे ।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण व्है परब्रह्म कहावे ।।४।।
भेदि मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेद विज्ञान कला जिनि पाई ।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसों जु पराई ।।
उद्धत रीत बसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई ।
ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई ।।५।।

[सवैया बत्तीसा]

जिन्हके सुदृष्टि मे अनिष्ट इष्ट दोउ सम,
जिन्ह को आचार सुविचार शुभ ध्यान है ।
स्वारथ को त्यागि जे लगे हैं परमारथ को,
जिन्ह के बनिज में नफा न हान है ।।
जिन्ह के समझ मे शरीर ऐसो मानियत,
धानकी सो छीलक कृपाणको सो म्यान है ।
पारखी पदारथ के साखी भ्रम भारथ के,
तेई साधु तिनही का यथारथ ज्ञान है ।।४५।।

[सवैया तेईसा]

काज बिना न करै जिय उद्यमं, लाज बिना रणमाहि न जूझे ।
डील बिना न सधे परमारथ, सील विना सतसो न अरूझे ।।
नेम बिना न लहे निहचे पद, प्रेम बिना रस रीति न बूझे ।
ध्यान बिना न थमै मनकी गति, ज्ञान बिना शिवपथ न सूझे ।।२३।।
ज्ञान उदै जिह के घट अन्तर, ज्योति जगी मति होत न मैली ।
वाहिज दृष्टि मिटी जिन्ह के हिय, आतम ध्यानकला विधि फैली ।।
जे जड चेतन भिन्न लखें, सुविवेक लिये परखें गुण थैली ।
ते जग मे परमारथ जानि, गहे रुचि मानि अध्यातम सैली ।।२४।।

[सवैया इकतीसा]

आचारज कहे जिन वचन को विस्तार,
अगम अपार है कहेगे हम कितनो।
वहुत बोलवेसों न मकसूद चुप्प भलो,
बोलिये सो वचन प्रयोजन है जितनो ।।
नाना रूप जल्पनसो नाना विकलप उठे,
तातै जेतो कारिज कथन भलो तितनो।
शुद्ध परमातमा को अनुभौ अभ्यास कीजे,
येही मोक्ष पथ परमारथ है इतनो ।।१२४।।

जे जीव दरवरूप तथा परयायरूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है।
जे अशुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषैसो विमुख ह्वै विरागता चहत है ।।
जे जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिको,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करत है।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अवाधक महत है ।।३५।।

(३४) प. द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते है :–

[सवैया तेईसा]

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत है जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयौ दुखदाता ।।
सो जड़रूप स्वरूप नही मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता।
नास करौ पल मे सबकौ अब, जाय बसौ सिवखेत विख्याता ।।६५।।

सिद्ध हुए अब होई जु होइगे, ते सब ही अनुभौ गुनसेती।
ता विन एक न जीव लहै सिव, घोर करौ किरिया बहु केती ।।
ज्यो तुषमांहि नही कनलाभ, किये नित उद्यम की विधि जेती।
यौ लखि आदरिये निजभाव, विभाव विनास कला सुभ एती ।।६६।।

[सवैया इकतीसा]

जगत के निवासी जगही मे रति मानत हैं,
मोख के निवासी मोखही मे ठहराये हैं ।
जग के निवासी काल पाय मोख पावत हैं,
मोखके निवासी कभी जग मे न आये है ।।
एतौ जगवासी दुखवासी सुखरासी नाँहि,
वे तो सुखरासी जिनवानी मे बताये है ।
तातै जगतवासतै उदास होइ चिदानद,
रत्नत्रयपथ चलै तेई सुखी गाये है ।।७३।।
याही जगमाँहि चिदानद आप डोलत है,
भरम भाव धरै हरै आतमसकतकौं ।
अप्टकर्मरूप जे जे पुद्गल के परिनाम,
तिनकौ सरूप मानि मानत सुमत कौ ।।
जाहीसमै मिथ्या मोह अन्धकार नासि गयौ,
भयौ परगास भान चेतन के ततकौ ।
ताहीसमै जानौ आप आप पर पररूप,
भानि भव-भाँवरि निवास मोख गतकौ ।।७४।।
रागदोष मोहभाव जीवकौ सुभावनाहि,
जीवकौ सुभाव शुद्ध चेतन बखानियै ।
दर्व कर्मरूप ते तौ भिन्न ही विराजत है,
तिनकौ मिलाप कहो कैसे करि मानियै ।।
ऐसो भेद ज्ञान जाके हिरदै प्रगट भयौ,
अमल अवाधित अखण्ड परमानियै ।
सोई सु विचच्छन मुकत भयौ तिहुँकाल,
जानी निज चाल पर चाल भूलि भानियै ।।७५।।

[अशोक छन्द]

रागभाव टारिके सु दोपकौ विडारिकै,
सु मोहभाव गारिकै निहारि चेतनामई ।

कर्म को प्रहारिकैं सु भर्मभाव डारिकैं,
सुचर्म दृष्टि दारिकैं विचार सुद्धता लई ।।
ज्ञानभाव धारिकैं सु दृष्टि को पसारिकैं,
लखौ सरूप तारिकैं, अपार मुद्धता खई ।
मत्तभाव मारिकैं सु मारभाव छारिकैं,
सु मोखको निहारिकैं विहारकौं दिदा दई ।।७६।।

सुद्ध आतमा निहारि राग दोप मोह टारि,
क्रोध मान वक गारि लोभ भाव भानुरे ।
पापपुण्यको विडारि सुद्ध भावको सँभारि,
भर्मभावको विसारि पर्मभाव आनुरे ।।
चर्मदृष्टि ताहि जारि सुद्धदृष्टिको पसारि,
देहनेहको निवारि सेतध्यान ठानुरे ।
जागि जागि सैन छार भव्य मोखको विहार,
एक बार के कहे हजार बार जानुरे ।।८२।।

[छप्पय]

जपत सुद्धपद एक, एक नहिं लखत जीव तन ।
तनक परिग्रह नाहिं, नाहिं जहँ राग दोप मन ।।
मन वच तन थिर भयौ, भयौ वैराग अखंडित ।
खडित आस्रवद्वार, द्वारसवर प्रभु मडित ।।
मडित समाधिसुख सहित जब, जब कपाय अरिगन खपत ।
खप तनममत्त निरमत्त नित, नित तिनके गुण भवि जपत ।।६१।।

[सवैया तेईसा]

जिनके घट मे प्रगटयौ परमारथ, रागविरोध हिये न विथारै ।
करकै अनुभौ निज आतम कौ, विषया सुखसौ हित मूल निवारै ।।
हरिकै ममता धरिकै समता, अपनौ बल फोरि जु कर्म विडारै ।
जिनकी यह है करतूति सुजान, सुआप तिरै पर जीवन तारै ।।६२।।

[सवैया इकतीसा]

मिथ्याभाव मिथ्या लखौ ग्यानभाव ग्यान लखौ,
कामभोग भावनसौ काम जोरजारिकै ।
परकौ मिलाप तजौ आपनपौ आप भजौ,
पापपुन्य भेद छेद एकता **बिचारिकै** ॥
आतम अकाज करै आतम सुकाज करे,
पावै भवपार मोक्ष एतौ भेद धारिकै ।
यातै हूँ कहत हेर चेतन चेतौ सवेर,
मेरे मीत हो निचीत एतौ काम सारिकै ॥६४॥

[छप्पय]

मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं रागी मानै ।
मिथ्यादृष्टी जीव, आपकौं दोषी जानै ॥
मिथ्यादृष्टी जीव, आपको रोगी देखै ।
मिथ्यादृष्टी जीव, आपको भोगी पेखै ॥
जो मिथ्यादृष्टी जीव सो सुद्धातम नाही लहै ।
सोई ज्ञाता जो आपको, जैसाका तैसा गहै ॥१०६॥

[सवैया इकतीसा]

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निजभाव दूजो पर उतपात है ।
तातैं एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ,
जातै सिवपद लहौ यही ठीक बात है ॥
भावकौ दुखायो जीव भावहीसौ सुखी होय,
भावहीकौं फेरि फेरे मोखपुर जात है ।
यह तौ नीको प्रसग लोक कहैं सरवग,
आगहीकौ दाधौ अग आग ही सिरात है ॥१०७॥
बार बार कहैं पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तूतौ सोयौ मोह झगमैं ।

आतमासेती विमुख गहै राग दोषरूप,
पचइन्द्रीविषैसुखलीन पगपगमैं ।।
पावत अनेक कष्ट होत नाहि अष्ट नष्ट,
महापद भिष्ट भयौ भमै सिष्टमगमैं ।।
जागि जगवासी तू उदासी ह्वै के विपयसो,
लागि सुद्ध अनुभौ ज्यौं आवै नाहिं जगमैं ।।११७।।

(३५) प० भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास मे कहते है :-

[सवैया इकतीसा]

कर्म को करैया सो तौ जानै नाहिं कैसे कर्म,
भरम मे अनादिही को करमैं करतु है ।
कर्म को जनैया भैया सो तौ कर्म करै नाहिं,
धर्ममाहि तिहूँ काल धरमे धरतु है ।
दुहूँनकी जाति पाति लच्छन स्वभाव भिन्न,
कबहूँ न एकमेक होइ विचरतु है ।
जा दिनाते ऐसी दृष्टि अन्तर दिखाई दई,
ता दिनाते आपु लखि आपु ही तरतु है ।।२२।।

[सवैया तेइसा]

जबतै अपनो जिउ आतु लख्यो, तबतै जु मिटी दुविधा मनकी ।
यो सीतल चित्त भयो तब ही सब, छाड दई ममता तनकी ।
चितामणि जब प्रगट्यो घरमे, तब कौन जु चाहि करै धनकी ।
जो सिद्धमें आपुमे फेर न जानै सो, क्यौं परवाह करै जनकी ।।३५।।

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानन्द शुद्ध विराजै ।
अन्तरदृष्टि खुलै जब ही तब, आपुही मे अपनो पद छाजै ।।
सेवक साहिब कोउ नही जग, काहे को खेद करै किहूँ काजै ।
अन्य सहाय न कोउ तिहारे जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै ।।३६।।

जबलो रागद्वेष नहि जीतय, तबलो मुकति न पावै कोइ ।
जबलो क्रोध मान मन धारत, तबलो सुगति कहाते होइ ॥
जबलो माया लोभ बसे उर, तबलो सुख सुपनै नहि कोइ ।
ए अरि जीत भयो जो निर्मल, शिवसपति विलसतु है सोइ ॥४०॥

[सवैया इकतीसा]

पचनसो भिन्न रहै कचन ज्यो काई तजे,
रच न मलीन होय जाकी गति न्यारी है ।
कचन के कुल ज्यो स्वभाव कीच छुए नाहि,
वसै जलमाँहि पै न ऊर्धता विसारी है ॥
अजन के अश जाके वश मे न कहूँ दीखै,
शुद्धता स्वभाव सिद्धरूप सुखकारी है ।
ज्ञान को समूह ज्ञान ध्यान मे विराजि रह्यो,
ज्ञानदृष्टि देखो 'भैया' ऐसो ब्रह्मचारी है ॥५५॥
चिदानद 'भैया' विराजत है घटमाहि,
ताके रूप लखिवेको उपाय कछू करिये ।
अष्ट कर्म जालकी प्रकृति एक चार आठ,
तामे कछू तेरी नाहि अपनी न धरिये ॥
पूरब के बध तेरे तेई आइ उदै होहि,
निज गुणशकतिसो तिन्है त्याग तरिये ।
सिद्ध सम चेतन स्वभाव मे विराजत है,
वाको ध्यान धरु और काहूसो न डरिये ॥५६॥
एक सीख मेरी मानि आप ही तू पहिचानि,
ज्ञान दृग चर्ण आन वास वाके थरको ।
अनत बलधारी है जु हलको न भारी है,
महाब्रह्मचारी है जु साथी नाहि जरको ॥
आप महा तेजवत गुणको न ओर अत,
जाकी महिमा अनत दूजो नाहि वरको ।
चेतना के रस भरे चेतन प्रदेश धरे,
चेतना के चिन्ह करे सिद्ध पटतरको ॥५५॥

[रेखता]

अबं भरम के त्योरसो देख क्या भूलता,
देखि तु आप मे जिन आपने बताया है ।
अन्तर की दृष्टि खोलि चिदानद पाइयेगा,
बाहिर की दृष्टि सौं पौद्‌गलीक छाया है ।।
इन्द्री मन के भाव सब जुदे करि देखि तू,
आगे जिन ढूढा तिन इसी भाति पाया है ।
वे ऐब साहिब विराजता है दिलबीच,
सच्चा जिसका दिल है तिसी के दिल आया है ।।६०।।

[सवैया इकतीसा]

देव एक देहरे मे सुन्दर सुरूप वन्यो,
ज्ञानको विलास जाको सिद्ध सम देखिये ।
सिद्धकीसी रीति लिये काहूसो न प्रीत किये,
पूरब के वध तेई आइ उदै पेखिये ।।
वर्ण गंध रस फास जामे कछु नाहि भैया,
सदा को अबन्ध याहि ऐसो करि लेखिये ।
अजरा अमर ऐसो चिदानद जीव नाव,
अहो मन मूढ ताहि मर्ण क्यो विशेखिये ।।६३।।

निशदिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवै नाहि फेरिकै ।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिकै ।।
ब्रह्म को विलास करो, आतमनिवास करो,
देव सब दास करो महामोह जेरिकै ।
अनुभौ अभ्यास करो थिरता मे वास करो,
मोक्षसुख रास करो कहूँ तोहि टेरिकै ।।६४।।

सातवां अध्याय

सम्यग्दर्शन और उसका महात्म्य

यह बात कही जा चुकी है कि यह ससार असार है, देह अपवित्र और क्षणिक है। इन्द्रियो के भोग अतृप्तिकारक तथा नाशवत है। सहज सुख आत्मा का स्वभाव है, तथा इस सहज सुख का साधन एक आत्मध्यान है। इसको रत्नत्रय धर्म भी कहते है। इसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसी का विशेष वर्णन उपयोगी जानकर किया जाता है, क्योंकि आत्मज्ञान का मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है, सम्यग्दर्शन के बिना सर्व साधन मिथ्या है। जैसे वृक्ष मूल बिना नही होता, नीव बिना मकान नही बनता, एक के अक बिना शून्य का कोई मूल्य नही होता वैसे सम्यक्त के बिना किसी भी धर्म क्रिया को यथार्थ नही कहा जा सकता है।

सम्यग्दर्शन वास्तव मे आत्मा का एक गुण है, यह आत्मा मे सदा काल ही रहता है। ससारी आत्मा के साथ कर्मों का सयोग भी प्रवाह की अपेक्षा अनादि काल से है। इन्ही कर्मों मे एक मोहनीय कर्म है। उसके दो भेद है :—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद है -- मिथ्यात्व कर्म, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म और सम्यक्त मोहनीय कर्म। जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन गुण का विपरीत परिणमन हो, मिथ्यादर्शन रूप हो, जिससे आत्मा व अनात्मा का भेद विज्ञान न उत्पन्न हो सके सो मिथ्यात्व कर्म है। जिसके उदय से सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन के मिले हुए मिश्रित परिणाम हो उस कर्म को सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन मलीन रहे, कुछ दोष या मल या अतीचार लगे उसको सम्यक्त मोहनीय कहते हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म मे चार अनन्तानुबन्धी कषाय कर्म हैं जिनके उदय से दीर्घ काल स्थायी कठिनता से मिटने वाली कषाय होती है। जैसे पत्थर की लकीरे कठिनता से मिटती है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को जिसको अब तक सम्यक्त नही हुआ है, मिथ्यात्व कर्म और चार अनन्तानुबन्धी कषायो ने सम्यग्दर्शन गुण को ढक रखा है। जब तक यह उदय से न हटे तब तक सम्यग्दर्शन गुण प्रगट नही हो सकता है। इन कर्मों के आक्रमण को हटाने के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन का सेवन जरूरी है। जैसे औषधि खाने से रोग जाता है वैसे व्यवहार सम्यग्दर्शन के सेवन से निश्चय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है व मिथ्यात्व रोग जाता है।

जैसे रोगी को इस बात के जानने की जरूरत है कि मैं मूल मे कैसा हूँ, रोग किस कारण से हुआ है व रोग के दूर करने का क्या उपाय है। इसी तरह इस ससारी जीव को इस बात के जानने की जरूरत है कि वह मूल मे कैसा है, क्यो यह अशुद्ध हो रहा है व इसके शुद्ध होने का क्या उपाय है। जैसे नौका मे पानी आ रहा हो तब इस बात के जानने की जरूरत है कि क्यो नौका मे पानी भर रहा है व किस तरह इस नौका को छिद्र रहित व पानी स रहित किया जावे, जिससे यह समुद्र को पार कर सके, इसी तरह इस ससारी जीव को इस बात के जानने की जरूरत है कि उसके पुण्य पाप कर्म का बध कैसे होता है। नये बध को रोकने का व पुरातनबन्ध के काटने का क्या उपाय है, जिससे यह कर्म रहित हो जावे।

जैसे मैला कपडा उस समय तक शुद्ध नही किया जा सकता जिस समय तक यह ज्ञान न हो कि यह कपड़ा किस कारण से मैला है व इस मैल के धोने के लिए किस मसाले की जरूरत है। उसी तरह यह अशुद्ध आत्मा उस समय तक शुद्ध नही हो सकता जब तब इसको अशुद्ध होने के कारण का व शुद्ध होने के उपाय का ज्ञान न हो। इसी प्रयोजनभूत बात को या तत्व को समझाने के लिए जैनाचार्यो ने सात तत्व बताये हैं व इनके श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। वे सात तत्व इस प्रकार है :—

(१) जीव तत्व :— चेतना लक्षण जीव है, ससारावस्था मे अशुद्ध है।

(२) **अजीव तत्व** :— जीव को विकार का कारण पुद्दल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये पाच चेतना रहित अजीव द्रव्य इस जगत मे है।

(३) **आश्रव तत्व** — कर्मों के आने के कारण को व कर्मों के आने को आश्रव कहते है।

(४) **बंध तत्व** :— कर्मों के आत्मा के साथ बधने के कारण को व कर्मों के बध को बध कहते हैं।

(५) **संवर तत्व** :— कर्मों के आने के रोकने के कारण को व कर्मो के रुक जाने को सवर कहते है।

(६) **निर्जरा तत्व** :— कर्मों के झडने के कारण को व कर्मों के झडने को निर्जरा कहते है।

(७) **मोक्ष तत्व** :— सर्व कर्मों से छूट जाने के कारण को व कर्मों से पृथक् हो जाने को मोक्ष कहते है।

यह विश्व जीव और अजीव अर्थात् छ: द्रव्यो का :—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनका समुदाय है। पुद्गलो मे सूक्ष्म जाति की पुद्गल कर्म वर्गणा है या कर्म स्कन्ध है। उन्ही के सयोग से आत्मा अशुद्ध होता है। आश्रव व बध तत्व अशुद्धता के कारण को बताते है। सवर अशुद्धता के रोकने का व निर्जरा अशुद्धता के दूर होने का उपाय बताते हैं, मोक्ष बन्ध रहित व शुद्ध अवस्था बताता है। ये सात तत्व बडे उपयोगी है, इनको ठीक ठीक जाने बिना आत्मा के कर्म की बीमारी मिट नही सकती है। इन्ही का सच्चा श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, इन्ही के मनन से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। इसलिये ये निश्चय सम्यक्त के होने मे बाहरी निमित्त कारण हैं। अन्तरग निमित्त कारण अनन्तानुबन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना या दबना है।

जीव और अजीव तत्व

जीव और अजीव तत्वो मे गर्भित छः द्रव्य सत्‌रूप हैं, सदा से हैं व सदा से रहेगे, इनको किसी ने न बनाया है, न इनका कभी नाश होगा। सो यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। हमारी इन्द्रियो के द्वारा प्रगट जानने योग्य "पुद्गल

द्रव्य" है। इसकी परीक्षा की जायगी तो सिद्ध होगा कि यह सत् है, अविनाशी है, कभी नाश नही हो सकता है। एक कागज को लिया जाय, यह पुद्गल स्कध है। इसको जला दिया जाय राख हो जायगा, राख को कही डाल दिया जाय दूसरी राख मे मिल जायगी। इस राख को कोई शून्य नही कर मकता है। एक सुवर्ण की अंगूठी को लिया जाय, इसको तोडकर वाली बनाई जाय, बाली तोडकर कठी बनाई जाय, कठी तोडकर नथ बनाई जावे, नथ तोडकर कडा बनाया जावे। कितनी भी दशा पलटाई जावे तो भी सुवर्ण पुद्गल का कभी नाश नही होगा। मिट्टी का एक घडा है, घडे को तोडा जावे वडे ठीकरे वन जायेंगे, ठीकरो को तोडेगे छोटे टुकडे हो जायेंगे। उनको 'ोस डालेगे राख हो जायगी। राख को डाल देंगे राख मे मिल जायगी।

मिट्टी की कितनी भी अवस्थाए पलटे मिट्टी पुद्गल स्कध का नाश नही होगा। जगत मे पुद्गलो को एकत्र कर मकान बनाते है। जब मकान को तोडते हैं तब पुद्गल ईट, चूना, लकडी ' लोहा अलग होता है। यह देखने मे आयेगा व प्रत्यक्ष अनुभव मे आयेगा कि जगत मे जितने भी दृश्य पदार्थ है वे पुद्गलो के मेल से बने है। जब वे बिगडते है तव पुद्गल के स्कध बिखर जाते है। एक परमाणु का भी लोप नही हो जाता है। मकान, बर्तन, कपडा, कुर्सी, मेज, कलम, दवात, कागज, पुस्तक, चौकी, पलग, पालकी, गाडी, मोटर, रेलगाडी, पखा, दरी, लालटेन, जजीर, आभूपरण आदि पुद्गल की रचना है, ये टूटते है तो अन्य दशा मे हो जाते है। हमारा यह शरीर भी पुद्गल है, पुद्गल के स्कधो के मेल से बना है। जब मृतक हो जाता है तब पुद्गल के स्कध शिथिल पड जाते हैं, बिखर जाते है जलाए जाने पर कुछ पवन मे उड जाते है। कुछ पडे रह जाते हैं। पुद्गलो मे यह देखने मे आता है कि वे अवस्थाओ को पलटते हुए भी मूल मे बने रहते है। इसीलिये "सत्का" लक्षरण यह है कि जिसमे "उत्पाद व्यय ध्रौव्य" ये तीन स्वभाव एक ही समय मे पाए जावे। हर एक पदार्थ की अवस्था समय २ पलटती है। स्थूल बुद्धि मे देर से पलटी मालूम होती है।

एक नया मकान बनाया गया है वह उसी क्षरण से पुराना पडता जाता है। जव वर्ष दो वर्ष बीत जाते है तब स्थूल बुद्धि को 'पुराना मालूम पडता

है। वास्तव मे उसका पलटना हर समय ही हो रहा है। एक मिठाई ताजी बनी है, एक दिन पीछे वासी खाए जाने पर स्वाद ताजी की अपेक्षा बदला हुआ मालूम होता है। यह एक दम नही बदला, बनने के समय से ही वदलता हुआ चला आ रहा है एक बालक जन्मते समय छोटा होता है। चार वर्ष पीछे बडा हो जाता है वह एक दम से बडा नही हुआ। उसकी दशा का पलटना बराबर होता रहा है। वह बालक हर समय बढता चला आ रहा है पुरानी अवस्था का नाश होकर नई अवस्था के जन्म को ही पलटना या परिवर्तन कहते हैं। श्वेत कपडे को जिस समय रग मे भिजोया उसी समय श्वेतपना पलटकर रगीनपना हुआ है। श्वेतपने का व्यय व रगीनपने का उत्पाद हुआ है। चने के दाने को हथेली मे मसला जाता है तव चने की दशा नाश होकर चूरे की दशा वन जाती है। क्योकि अवस्था की पलटन होते हुए भी जिसकी अवस्था पलटती है वह वना रहता है। इसीलिये उत्पाद व्यय ध्रौव्य सत् का लक्षण किया गया है।

पर्याय पलटने की अपेक्षा उत्पाद व्ययपना व मूल द्रव्य के बने रहने की अपेक्षा ध्रुवपना सिद्ध है। इसीलिये द्रव्य को नित्य अनित्यरूप उभयरूप कहते हैं। द्रव्य स्वभाव से नित्य है, दशा पलटने की अपेक्षा अनित्य है। यदि द्रव्य मे उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना न हो या नित्य अनित्यपना न हो तो कोई द्रव्य कुछ भी काम नही दे सकता। यदि कोई द्रव्य सर्वथा नित्य ही हो तो वह जैसा का तैसा वना रहेगा। यदि सर्वथा अनित्य हो तो क्षण भर मे नाश हो जायगा। जब वह ठहरेगा ही नही तव उससे कुछ काम नही निकलेगा। यदि सूवर्ण एकसा ही वना रहे, उससे कडे, वाली, कठी, अगूठी न बने तो वह व्यर्थ ही ठहरे उसे कोई भी न खरीदे। यदि सुवर्ण अनित्य हो, ठहरे ही नही तो भी उसे कोई नही खरीदे। उसमे बने रहने की तथा बदलने की शक्ति एक ही साथ है अथवा वह एक ही समय नित्य व अनित्य उभयरूप है, तब ही वह कार्यकारी हो सकता है।

यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना सत्का लक्षण सर्वही द्रव्यो मे पाया जाता है। जीवो मे भी है। कोई क्रोधी हो रहा है, जब क्रोध का नाश होता तब क्षमा या शान्तभाव का जन्म होता है तथा आत्मा ध्रौव्यरूप है ही। किसी

आत्मा को गणित में जोड निकालने का ज्ञान नही था। अर्थात् जोड़ के कायदे का अज्ञान था, जब जोड़ निकालने के कायदे का ज्ञान हुआ तब अज्ञान का नाश हुआ और ज्ञान का जन्म हुआ, इस अवस्था को पलटते हुए भी आत्मा वही बना रहा। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मा मे भी सिद्ध है। एक आत्म ध्यान मे मग्न है, जिस क्षण ध्यान हटा तब ध्यान की दशा का नाश हुआ और "ध्यान" रहित निर्विकल्प दशा का जन्म हुआ और जीव वही बना है। अशुद्ध जीवो मे तथा पुद्‌गलो मे अवस्थाओ का पलटना अनुभव मे आता है। इससे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण की सिद्धि होती है परन्तु शुद्ध जीवो मे व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल में किस तरह इस लक्षण की सिद्धि की जावे। वस्तु का स्वभाव जब अशुद्ध जीव व पुद्‌गल मे सिद्ध हो गया है तब वही स्वभाव उनमे भी जानना चाहिये। शुद्ध द्रव्यो मे किसी परद्रव्य का ऐसा निमित्त नही है जो द्रव्य को मलीन कर सके। इसलिये उनमे विभाव या अशुद्ध पर्याये नही होती है। शुद्ध सदृश पर्याए स्वाभाविक होती है, जैसे-निर्मल जल मे तरगे निर्मल ही होगी वैसे शुद्ध द्रव्यो मे पर्याये निर्मल ही होगी।

द्रव्यों के छ सामान्य गुण – सर्व छहो द्रव्यो में छ गुण सामान्य हैं। सब मे पाए जाते है :–

(१) **अस्तित्व गुण** – जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश न हो उसे अस्तित्वगुण कहते है। (२) **वस्तुत्व गुण** – जिस शक्ति के निमित्त से वस्तु कुछ कार्य करे व्यर्थ न हो उसे वस्तुत्व गुण कहते है। जैसे पुद्‌गल मे शरीरादि बनाने की अर्थ क्रिया है। (३) **द्रव्यत्व गुण** – जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ध्रुव रहते हुए भी पलटता रहे। उसमे पर्याये होती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते है, जैसे पुद्‌गल मिट्टी से घडा बनना। (४) **प्रमेयत्व गुण** – जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी के ज्ञान का विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। (५) **अगुरुलघुत्व गुण** – जिस शक्ति के निमित्त से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य-रूप न हो, एक गुण दूसरे गुणरूप न हो व एक द्रव्य मे जितने गुण हो उतने ही रहे, न कोई कम हो न कोई अधिक हो, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। (६) **प्रदेशत्व गुण** – जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार अवश्य हो उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं। आकार बिना कोई वस्तु नही हो सकती

है । आकाश मे जो वस्तु रहती है वह जितना क्षेत्र घेरती है वही उसका आकार है । छहो द्रव्यो मे अपना अपना आकार है, पुद्गल मूर्तिक है, उसका आकार भी मूर्तिक है । स्पर्श, रस, गध वर्णमय है । शेष पाच द्रव्य अमूर्तिक हैं उनका आकार भी अमूर्तिक है ।

छ द्रव्यों के विशेष गुण :– जो गुण उस एक द्रव्य ही मे पाए जावे, अन्य द्रव्य मे न पाए जावें उनको विशेष गुण कहते हैं । **जीव के विशेष गुण हैं** – ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्चारित्र आदि । **पुद्गल के विशेष गुण हैं** – स्पर्श, रस, गध, वर्ण । **धर्मद्रव्य का विशेष गुण** – गमन करते हुए जीव पुद्गलो को उदासीन रूप से गमन मे सहकारी होना है । **अधर्मद्रव्य का विशेष गुण** :– ठहरते हुए जीव पुद्गलो को ठहरने मे उदासीनपने सहाय करना है । **आकाश द्रव्य का विशेष गुण** – सर्व द्रव्यो को अवकाश या जगह देना है । **काल द्रव्य का विशष गुण** – सर्व द्रव्यो की अवस्था पलटने मे सहकारी होना है ।

छ द्रव्यों के आकार – जीव का मूल आकार लोकाकाश प्रमाण असख्यातप्रदेशी है । आकाश एक अखड द्रव्य अनत है । उसके मध्य मे जहा जीवादि द्रव्य पाए जाते हैं उस भाग को लोकाकाश कहते है । इसको यदि प्रदेशरूपी गज से मापा जावे तो यह लोक असख्यातप्रदेशी है । इतना ही बडा मूल में जीव है । एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को रोकता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं । तथापि यह जीव जिस शरीर मे रहता है उतने बडे शरीर को माप कर रहता है । नाम कर्म के उदय से इसमें सकोच विस्तार शक्ति काम करती है, जिससे शरीर प्रमाण सकुचित व विस्तृत हो जाता है । पुद्गल स्कध अनेक आकार के गोल, चौखूटे, तिखूटे, बडे छोटे बनते है । एक परमाणु का एक प्रदेश मात्र आकार है । धर्म व अधर्म द्रव्य दोनो लोकाकाश प्रमाण व्यापक है । आकाश का अनन्त आकार है । कालाणु असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो मे एक एक अलग अलग है कभी मिलते नही है, इसलिये एक प्रदेश मात्र हर एक कालाण का आकार है ।

छः द्रव्यों की संख्या – धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य हैं, कालाणु असख्यात हैं, जीव अनत हैं, पुद्गल अनन्तान्त है ।

पाच अस्तिकाय :– जो द्रव्य एक से अधिक प्रदेश रखते हैं वे अस्ति-काय कहलाते हैं। कालका एक ही प्रदेश होता है। काल को छोड़कर शेष पाच द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश अस्तिकाय है।

जीव द्रव्य के नौ विशषण – (१) जीनेवाला है, (२) उपयोगवान है, (३) अमूर्तिक है, (४) कर्ता है, (५) भोक्ता है, (६) शरीर प्रमाण आकारधारी है, (७) ससारी है, (८) सिद्ध भी हो जाता है, (९) स्वभाव से अग्नि की शिखा के समान ऊपर जानेवाला है। इनका विशेष नीचे इस प्रकार है –

इनका कथन करते हुए निश्चयनय तथा व्यवहारनय को ध्यान मे रखना चाहिये। जिस अपेक्षा से वस्तु का मूल निज स्वभाव जाना जावे वह निश्चय-नय है। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध स्वभाव को व अशुद्ध निश्चयनय अशुद्ध स्व-भाव को बतानेवाला है। व्यवहारनय वह है जो परपदार्थ को किसी में आरोपण करके उसको पररूप कहे, जैसे जीव को गोरा कहना। गोरा तो शरीर है। यहा शरीर का आरोप जीव मे करके सयोग को बताने वाला व्यवहारनय है। कभी व कही अशुद्ध निश्चयनय को भी व्यवहारनय कह देते है। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध मूल स्वभाव को ही बताता है।

(१) जीवत्व – निश्चयनय से जीव के अमिट प्राण, सुख, सत्ता, चैतन्य बोध है। अर्थात् स्वाभाविक आनन्द, सत्पना, स्वानुभूति तथा ज्ञान हैं। व्यवहारनय से जीवों के दश प्राण होते है जिनके द्वारा एक शरीर मे प्राणी जीवित रहता है व जिनके बिगडने से वह शरीर को छोड देता है। वे प्राण है पाच स्पर्शनादि इन्द्रिया-मनबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास।

(१) एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के चार प्राण होते हे – स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास (२) लट आदि द्वेन्द्रियो के छ प्राण होते हैं रसना इन्द्रिय और वचनबल अधिक हो जाता है। (३) चीटी आदि तेंद्रियो के नाक अधिक होती है, सात प्राणं होते है। (४) मक्खी आदि चौइन्द्रिय के आँख अधिक करके आठ प्राण होते है। (५) मन रहित पचेन्द्रिय समुद्र के कोई सर्पादि के कर्ण सहित नौ प्राण होते है। (६) मन सहित पचे-

द्रियो के देव नारकी, मानव, गाय, भैंसादि पशु, मछली, मयूरादि के दशो प्राण होते है ।

(२) उपयोगवान :– जिसके द्वारा जाना जाय उसे उपयोग कहते हैं । उसके आठ भेद हैं – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवल ज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, और कुअवधिज्ञान । ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं । दर्शनोपयोग के चार भेद हैं – चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन । ये बारह उपयोग व्यवहारनय से भेदरूप कहे जाते है । इनका विशेष स्वरूप आगे कहेगे । इन्ही से ससारी जीवो की पहचान होती है । आत्मा अमूर्तिक पदार्थ है ।

शरीर मे है कि नही इसका ज्ञान इसी बात को देखकर किया जाता है कि कोई प्राणी स्पर्श का ज्ञान रखता है या नही, रसको रसना से, गध को नाक से, वर्ण को आँख से, शब्द को कर्ण से जानता है कि नही या मन से विचार करता है या नही । मृतक शरीर मे इन बारह उपयोगो मे से कोई भी उपयोग नही पाया जाता है । क्योकि वहाँ उपयोग का धारी आत्मा नही रहा है । निश्चयनय से वास्तव मे न ज्ञानोपयोग के आठ भेद है न दर्शनोपयोग के चार भेद है । ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग एक एक ही है, आत्मा के सहज स्वाभाविक गुण हैं । कर्म के सबध से बारह भेद हो जाते है, इसलिये निश्चय से आत्मा के उपयोग शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन है ।

(३) अमूर्तिक :– जीव मे निश्चयनय से असल मे न कोई स्पर्श रूखा, चिकना, हलका, भारी, ठडा, गरम, नरम, कठोर है, न कोई रस खट्टा, मीठा, चरपरा, तीखा, कसायला है, न कोई गध सुगध या दुर्गंध है, न कोई वर्ण सफेद, लाल, पीला, नीला, काला है । इसलिये मूर्तिक पुद्गल से भिन्न अमूर्तिक चिदाकार है । व्यवहारनय से इस जीव को मूर्तिक कहते हैं क्योकि ससारी जीव के साथ मूर्तिक कर्म पुद्गलो का मेल दूध और जल के समान एक क्षेत्रावगाहरूप है । कोई भी प्रदेश जीव का शुद्ध नही है, सर्वांग पुद्गल से एकमेक है, इसलिये इसे मूर्तिक कहते हैं । जैसे दूध से मिले जल को दूध, रग से मिले पानी को रग कहते हैं ।

(४) **कर्त्ता** है – यह आत्मा निश्चयनय से अपने ही ज्ञानदर्शनादि गुणो के परिणाम को ही करता है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावो का ही कर्त्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भावकर्मो का कर्त्ता कहा जाता है।

शुद्ध निश्चयनय से या स्वभाव से यह आत्मा रागादि भावो का करने वाला नही है। क्योकि ये इसके स्वाभाविक भाव नही है ये औपाधिक भाव हैं, जब कर्मो का उदय होता है, मोहनीय कर्म का विपाक होता है तव क्रोध के उदय से क्रोधभाव, मान के उदय से मानभाव, माया के उदय से मायाभाव, लोभ के उदय से लोभभाव, काम या वेद के उदय से कामभाव, उसी तरह हो जाता है जिस तरह स्फटिकमणि के नीचे लाल, पीला, काला डाक लगाने से स्फटिक लाल, पीला, काला झलकता है। उस समय स्फटिक का स्वच्छ सफेद रग ढक जाता है। आत्मा स्वभाव से इन विभावो का कर्त्ता नही है, ये नैमित्तिक भाव है – होते है, मिटते हैं, फिर होते है, क्योकि ये सयोग से होते है। इसलिये इनको आत्मा के भाव अशुद्ध निश्चय से कहे जाते है या यह कहा जाता है कि आत्मा अशुद्ध निश्चय से इनका कर्त्ता है। इन भावो के होने से आत्मा का भाव अपवित्र, आकुलित दु खमय हो जाता है। आत्मा का पवित्र, निराकुल, सुखमय स्वभाव विपरीत हो जाता है। इसलिये इनका होना इष्ट नही है। इनका न होना ही आत्मा का हित है। जैसे मिट्टी स्वय मैली, विरस स्वभावी है इसलिये इस मिट्टी के सयोग से पानी भी मैला व विरस स्वभाव हो जाता है, वैसे मोहनीय कर्म का रस या अनुभाग मलीन, कलुषरूप, व आकुलता रूप है इसलिये उसके सयोग से आत्मा का उपयोग भी मलीन व कलुषित व आकुलित हो जाता है।

इन भावो का निमित्त पाकर कर्म वर्गणारूप सूक्ष्म पुद्गल जो लोक मे सर्वत्र भरे हैं, खिचकर स्वय आकर बंध जाते है। ज्ञानावरणादि रूप होकर कर्म नाम पाते हैं, जैसे गर्मी का निमित्त पाकर पानी स्वय भापरूप वदल जाता है वैसे कर्मवर्गणा स्वय पुण्य या पाप कर्मरूप बँध जाती है। यह बध भी पूर्व विद्यमान कार्माण शरीर से होता है। वास्तव मे आत्मा से नही होता है। आत्मा उस कर्म के शरीर के साथ उसी तरह रहता है जैसे आकाश मे धुआ या रज फैल जाय तव आकाश के साथ मात्र सयोग होता है। या एक क्षेत्रवगाहरूप

सबध होता है। आत्मा ने कर्म नही बाधे है, वे स्वय बधे हैं। आत्मा का अशुद्ध भाव केवल निमित्त है तो भी व्यवहार नय से आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्त्ता या बाधने वाला कहते हैं। उसी तरह जैसे कुम्हार को घडे का बनाने वाला, सुनार को कडे का बनाने वाला, स्त्री को रसोई बनाने वाली, लेखक को पत्र लिखने वाला, दरजी को कपडा सीने वाला, कारीगर को मकान बनाने वाला कहते है। निश्चय से घडे को बनाने वाली मिट्टी है, कडे को बनाने वाला सोना है, रसोई को बनाने वाली अन्न पानी आदि सामग्री है, पत्र को लिखने वाली स्याही है, कपडे को सीने वाला तागा है – कुम्हारादि केवल निमित्त मात्र है।

जो वस्तु स्वय कार्यरूप होती है उसी को उसका कर्त्ता कहते है। कर्त्ता कर्म एक ही वस्तु होते है। दूध ही मलाई रूप परिणमा है इससे मलाई का कर्त्ता दूध है। सुवर्ण ही कडेरूप परिणमा है इससे कडे का कर्त्ता सुवर्ण है। मिट्टी ही घडेरूप परिणमी है इसस घडे की कर्त्ता मिट्टी है। कर्त्ता के गुण स्वभाव उससे बने हुए कार्य मे पाए जाते है। जैसी मिट्टी वैसा घडा, जैसा सोना वैसा कडा, जैसा दूध वैसी मलाई, जैसा तागा वैसा उसका बना कपडा। निमित्त कर्त्ता किन्ही कार्यों के अचेतन ही होते है, किन्ही कार्यों के चेतन व अचेतन दोनो होते हैं। गर्मी से पानी भाप रूप हो जाता है, भाप से मेघ बनते हैं, मेघ स्वय पानी रूप हो जाते हैं, उन सब कार्यों मे निमित्त कर्त्ता अचेतन ही है। हवा श्वास रूप हो जाती है, इसमे निमित्तकर्त्ता चेतन का योग और उपयोग है। या कर्मवर्गणा कर्मरूप हो जाती है उनमे निमित्तकर्त्ता चेतन का योग और उपयोग है। मिट्टी का घडा बनता है उसमे निमित्तकर्त्ता कुम्हार का योग उपयोग है तथा चाक आदि अचेतन भी है। रसोई बनती है, निमित्त कर्त्ता स्त्री के योग उपयोग है तथा चूल्हा, वर्तन आदि अचेतन भी है। जहा चेतन निमित्तकर्त्ता घट, पट, बर्तन भोजनादि बनाने मे होता है वहा व्यवहारनय से उसको घट, पट, बर्तन व भोजनादि का कर्त्ता कह देते है।

यदि निश्चय से विचार किया जावे तो शुद्धात्मा किसी भी कार्य का निमित्तकर्त्ता भी नही है। जब तक ससारी आत्मा के साथ कर्मों का सयोग है व कर्मों का उदय हो रहा है तव तक आत्मा के मन, वचन, काय योग चलते

रहते है व ज्ञानोपयोग अशुद्ध होता है। राग द्वेष सहित या कषाय सहित होता है। ये ही योग और उपयोग निमित्तकर्त्ता हैं। इन्ही से कर्म बधते है, इन्ही से घटादि बनते है। कुम्हार ने घड़ा बनाया, घट बनाने मे मनका सकल्प किया, शरीर को हिलाया व राग सहित उपयोग किया। कुम्हार के योग उपयोग ही घटके निमित्तकर्त्ता है, आत्मा नही। स्त्री के मन ने रसोई बनाने का सकल्प किया, वचन से किसी को कुछ रखने उठाने को कहा, काय से रक्खा उठाया, राग सहित ज्ञान भाव किया। योग व उपयोग ही रसोई के निमित्तकर्त्ता है, स्त्री का शुद्ध आत्मा नही। योग और उपयोग आत्मा के विभाव है इसलिये अशुद्ध निश्चय से उनका कर्त्ता आत्मा को कहते है।

शुद्ध निश्चय से आत्मा मन वचन काय योग का तथा अशुद्ध उपयोग का कर्त्ता नही है। यद्यपि योग शक्ति – कर्म आकर्षण शक्ति आत्मा की है परन्तु वह कर्मों के उदय से ही मन वचन काय द्वारा काम करती है। कर्म का उदय न हो तो कुछ भी हलनचलन काम न हो। अशुद्ध सराग उपयोग भी कषाय के उदय से होता है, आत्मा का स्वाभाविक उपयोग नही। निश्चयनय से आत्मा मे न योग का कार्य है न रागद्वेष रूप उपयोग का कार्य है। इसलिये शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा केवल अपने शुद्ध भावो का ही कर्त्ता है। पर-भावो का न उपादान या मूल कर्त्ता है न निमित्तकर्त्ता है। स्वभाव के परिणमन से जो परिणाम या कर्म हो उस परिणाम या कर्म का उपादानकर्त्ता उसको कहा जाता है। ज्ञान स्वरूपी आत्मा है इसलिये शुद्ध ज्ञानोपयोग का ही वह उपादान कर्त्ता है अज्ञानी जीव भूल से आत्मा को रागादि का कर्त्ता व अच्छे बुरे कामो का कर्त्ता व घटपट आदि का कर्त्ता मानकर अहकार करके दु:खी होता है। "मैं कर्त्ता मैं कर्त्ता" इस बुद्धि से जो अपने स्वाभाविक कर्म नही है उनको अपना ही कर्म मानकर राग द्वेष करके कष्ट पाता है।

ज्ञानी जीव केवल शुद्धज्ञान परिणति का ही अपने को कर्त्ता मानता है। इसलिये सर्व ही पर भावो का व पर कार्यों का मैं कर्त्ता हूँ, इस अहकार को नही करता है। यदि शुभ राग होता है तो उसे भी मद कषाय का उदय जानता है। यदि अशुभ राग होता है तो उसे भी तीव्र कषाय का उदय जानता है।

अपना स्वभाव नही जानता है, विभाव जानता है। विभाव को रोग विकार व उपाधि मानता है व ऐसी भावना रखता है कि ये विभाव न हो तो ठीक है। वीतराग भाव मे ही परिणमन हो तो ठीक है जैसे बालक खेलने का ही प्रेमी है, उसे माता पिता व गुरु के डर से पढने का काम करना पडता है। वह पढता है परन्तु उधर प्रेमी नही है, प्रेमी खेल का ही है। इसी तरह ज्ञानी जीव वीतराग आत्मिक शुद्ध भाव का प्रेमी है। पूर्वबद्ध कर्म के उदय से जो भाव होता है तदनुकूल मन, वचन, काय वर्तते है। इनको वह पसद नही करता है। कर्म का विकार या नाटक समझता है भीतर से वैरागी है। जैसे बालक पढने से वैरागी है। ज्ञानी आत्मा बिना आसक्ति के परोपकार करता हुआ अपने को कर्त्ता नही मानता है – मन, वचन, काय का कार्य मात्र जानता है। यदि वह गृहस्थ है, कुटुम्ब को पालता है तथापि वह पालने का अहकार नही करता है। ज्ञानी सर्व विभावो को कर्म कृत जानकर उनसे अलिप्त रहता है। ज्ञानी एक अपने ही आत्मिक वीतराग भावो का ही अपने को कर्त्ता मानता है।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है। जो कोई ज्ञानी आत्मा को परभावो का अकर्ता समझेगा वही एक दिन साक्षात् अकर्त्ता हो जायेगा। उसके योग उपयोग की चचलता जब मिट जायेगी तब वह सिद्ध परमात्मा हो जायेगा। इस तत्व का यह मतलब लेना योग्य नही है कि ज्ञानी सराग कार्यों को उत्तम प्रकार से नही करता है, बिगाड रूप से करता होगा, सो नही है।

ज्ञानी मन, वचन, काय से सर्व कार्य यथायोग्य ठीक ठीक करता हुआ भी "मैं कर्त्ता" इस मिथ्या अहं बुद्धि को नही करता है। इस सर्व लौकिक प्रपच को कर्म का विकार जानता है, अपना स्वभाव नही मानता है। कदाचित् अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी कुटुम्ब का पालन, जप, तप, पूजा, पाठ, विषय भोग आदि मन, वचन, काय के शुभ अशुभ कार्य उत्तम प्रकार से करता है – प्रमाद व आलस्य से नही करता है, तो भी मैं कर्त्ता हूँ इस मिथ्यात्व से अलग रहता है। जैसे नाटक मे पात्र नाटक खेलते हुए भी उस नाटक के खेल को खेल ही समझते है, उस खेल मे किये हुए कार्यो को अपने मूल स्वभाव मे नही लगाते है। नाटक का पात्र खेल दिखलाते वक्त ही अपने को राजा कहता है। उस समय भी वह अपनी असल प्रकृति को नही भूलता है व खेल के पीछे तो अपने

असल रूप ही वर्तन करता है। ब्राह्मण का पुत्र अपने को ब्राह्मण मानते हुए भी खेल में राजा का पार्ट बडी ही उत्तमता से दिखाता है तथापि मैं राजा हो गया ऐसा नही मानता हे। ससार को नाटक समभकर व्यवहार करना ज्ञानी का स्वभाव है।

ससार को अपना ही कार्य समभना, व्यवहार करना अज्ञानी का स्वभाव है। इसलिए अज्ञानी ससार का कर्त्ता हे, ज्ञानी ससार का कर्त्ता नही। अज्ञानी ससार मे भ्रमेगा, ज्ञानी ससार से शीघ्र ही छूट जायेगा। वह श्रद्धा मे व ज्ञान मे ससार कार्य को आत्मा का कर्तव्य नही मानता है। कषाय के उदयवश लाचारी का कार्य जानता हे।

(५) भोक्ता है – जिस तरह निश्चयनय से यह जीव अपने स्वाभाविक भावो का कर्त्ता है उसी तरह यह अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द या सहज सुख का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से "मैं सुखी, मैं दु:खी" इस राग द्वेष रूप विभाव का भोक्ता है, व्यवहार नय से पुण्य पाप कर्मों के फल को भोगता है। मैं सुखी मैं दु खी यह भाव मोहनीय कर्म के उदय से होते है। रति कषाय के उदय से सांसारिक सुख मे प्रीति भाव व अरति कषाय के उदय से सासारिक दु ख मे अप्रीति भाव होता है। यह अशुद्ध भाव कर्म जनित है इसलिए स्वभाव नही विभाव है। आत्मा मे कर्म सयोग से यह भाव होता हे तब आत्मानन्द के सुखानुभव का भाव छिप जाता है इसलिए ऐसा कहा जाता है कि अशुद्ध निश्चय नय से यह सुख दु ख का भोक्ता है। भोजन, वस्त्र, गाना, बजाना, सुगध, पलग आदि बाहरी वस्तुओ का भोग तथा साता वेदनीय असाता वेदनीय कर्म का भोग वास्तव मे पुद्गल के द्वारा पुद्गल का होता है।

जीव मात्र उनमे राग भाव करता है इससे भोक्ता कहलाता है, यहा भी मन, वचन, काय द्वारा योग तथा अशुद्ध उपयोग ही पर पदार्थ के भोग मे निमित्त है। जैसे एक लड्डू खाया गया। लड्डू पुद्गल को मुख रूपी पुद्दल ने चबाकर खाया। जिह्वा के पुद्गलो द्वारा रस का ज्ञान हुआ। लड्डू का भोग शरीर रूपी पुद्गल ने किया। उदर मे पवन द्वारा पहुँचा। जीव ने अपने अशुद्ध भाव इन्द्रिय रूपी उपयोग से जाना तथा खाने की क्रिया मे योग को काम मे लिया।

यदि वैराग्य से जाने तो खाने का सुख न माने। जब वह राग सहित खाता है तब सुख मान लेता है। इसलिए लड्डू का भोग इस जीव ने किया यह मात्र व्यवहार नय का वचन है। जीव ने केवल मात्र खाने के भाव किये व योगो का व्यवहार किया, योग शक्ति को प्रेरित किया। इस तरह सुन्दर वस्त्रो ने शरीर को शोभित किया, आत्मा को नही, तब यह जीव अपने राग भाव से मै सुखी हुआ ऐसा मान लेता है। एक उदासमुखी पति के परदेश गमन से दु खी स्त्री को सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाए जावें, शरीर तो शोभित हो जायेगा परन्तु वह राग रहित है, उसका रागभाव उन वस्त्राभूषणो मे नही है इसलिये उसे उस सुख का अनुभव नही होगा। इसलिये यह बात ज्ञानियो ने स्वानुभव से कही है कि ससार के पदार्थो मे सुख व दु ख मोह राग द्वेष से होता है। पदार्थ तो अपने स्वभाव मे होते है।

एक जगह पानी बरस रहा है, किसान उस वर्षा को देखकर सुखी हो रहा है। उसी समय मार्ग मे बिना छतरी के चलने वाला एक सुन्दर वस्त्र पहने हुए मानव दु.खी हो रहा है। नगर मे रोगो की वृद्धि पर रोगी दुःखी होते है, अज्ञानी लोभी वैद्य डाक्टर सुखी होते है। एक ही रसोई मे जीमने वाले दो पुरुष है। जिसको इच्छानुकूल रसोई मिली है वह सुखी हो रहा है, जिसकी इच्छा के विरुद्ध है वह दु खी हो रहा है। जैसे पुद्गल का कर्ता पुद्गल है वैसे पुद्गल का उपभोग कर्ता पुद्गल है। निमित्त कारण जीव के योग और उपयोग है। शरीर मे सर्दी लगी, सर्दी का उपभोग पुद्गल को हुआ, पुद्गल की दशा पलटी। जीव का शरीर से ममत्व है, राग है, उसने सर्दी की वेदना का दु ख मान लिया। जब गर्म कपडा शरीर पर डाला गया, शरीर ने गर्म कपडे का उपयोग किया, शरीर की दशा पलटी, रागी जीव ने सुख मान लिया। स्त्री का उपभोग पुरुष का अग, पुरुष का उपभोग स्त्री का अग करता है, पुद्गल ही पुद्गल की दशा को पलटता है।

राग भाव से रागी स्त्री पुरुष सुख मान लेते है। जितना अधिक राग उतना अधिक सुख व उतना ही अधिक दु ख होता है। एक मानव का पुत्र पर बहुत अधिक राग है, वह पुत्र को देखकर अधिक सुख मानता है। उसी पुत्र

का वियोग हो जाता है तब उतना ही अधिक दु ख मानता है। जो ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि मैं वास्तव मे शुद्ध आत्मा का द्रव्य हूँ, मेरा निज सुख मेरा स्वभाव है। मैं उसी ही सच्चे सुख को सुख समझता हूँ, उसी का भोग मुझे हितकारी है, वह ससार से वैरागी होता हुआ जितना अ श कषाय का उदय है उतना अश बाहरी पदार्थों के सयोग वियोग मे सुख दु ख मानेगा, जो अज्ञानी की अपेक्षा कोटि गुणा कम होगा। भोजन को भली प्रकार रसना इन्द्रिय से खाते हुए भी रस के स्वाद को तो जानेगा व तृप्ति भी मानेगा परन्तु रसना इन्द्रिय जनित सुख को अल्प राग के कारण अल्प ही मानेगा। इसी तरह इच्छित पदार्थ खाने मे न मिलने पर अल्प राग के कारण अल्प दु ख ही मानेगा। वस्तु स्वभाव यह है कि जीव स्वभाव से सहज सुख का ही भोक्ता है।

विभाव भावो के कारण जो कषाय के उदय से होते है, यह अपनी अधिक या कम कषाय के प्रमाण मे अपने को सुख या दु ख का भोक्ता मान लेता है। मै भोक्ता हूँ यह वचन शुद्ध निश्चय नय से असत्य है। कषाय के उदय से राग भाव भोक्ता है। आत्मा भोक्ता नही है। आत्मा राग भाव का भोक्ता अशुद्ध निश्चय से कहलाता है यह मानना सम्यग्ज्ञान है। पर वस्तु का व कर्मों का भोक्ता कहना बिलकुल व्यवहार नय से है। जैसे घट पटादि का कर्त्ता कहना व्यवहार नय से है।

कर्मों का उदय जब आता है तब कर्म का अनुभाग या रस प्रगट होता है। यही कर्म का उपभोग है। उसी कर्म के उदय को अपना मानकर जीव अपने को सुखी दु खी मान लेता है। साता वेदनीय का उदय होने पर साताकारी पदार्थ का सम्बन्ध होता है। रति नौ कषाय से यह रागी जीव साता का अनुभव करता है। अर्थात् राग सहित ज्ञानोपयोग सुख मान लेता है। असाता वेदनीय के उदय से असाताकारी सम्बन्ध होता है। जैसे शरीर मे चोट लग जाती है उसी समय अरति कषाय के उदय सहित जीव द्वेष भाव के कारण अपने को दु खी मान लेता है। वास्तव मे कर्म पुद्गल है तब कर्म का उदय व रस या विपाक भी पुद्गल है। घातीय कर्मों का उदय जीव के गुणो के साथ विकारक होकर झलकता है, अघातीय कर्मो का रस जीव से भिन्न शरीरादि पर पदार्थों पर होता है।

जैसे ज्ञानावरण के विपाक से ज्ञान का कम होना, दर्शनावरण के उदय से दर्शन का कम होना, मोहनीय के उदय से विपरीत श्रद्धान होना व क्रोधादि कषाय का होना, अन्तराय के उदय से आत्मबल का कम होना, आयु के उदय से शरीर का बना रहना, नाम के उदय से शरीर की रचना होना, गोत्र कर्म के उदय से ऊँची या नीची लोकमान्य व लोकनिन्द्य दशा होना। वेदनीय के उदय से साताकारी व असाताकारी पदार्थों का सयोग होना। जीव अपने स्वभाव से अपने सहज सुख का ही भोक्ता है। पर का भोक्ता अशुद्धनय या व्यवहार नय से ही कहा जाता है।

(६) शरीर प्रमाण आकारधारी है :– निश्चयनय से जीव का आकार लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी है उससे कभी कम या अधिक नही होता है। जीव अमूर्तिक पदार्थ है इससे इसके न तो टुकडे हो सकते है और न यह किन्ही से जुड करके बडा हो सकता है। जीव मे कर्म को आकर्षण करने वाली योग शक्ति है वैसे इसमे सकोच विस्ताररूप होने की शक्ति भी होती है। जैसे योग-शक्ति शरीर नामकर्म के उदय से काम करती है वैसे सकोच विस्तार शक्ति भी शरीर नामकर्म के उदय से काम करती है। जब तक नाम कर्म का उदय रहता है तब तक ही आत्मा के प्रदेश सकुचित होते हैं व फैलते हैं। जब नाम कर्म नाश हो जाता है तब आत्मा अन्तिम शरीर मे जैसा होता है वैसा ही रह जाता है। उसका सकोच विस्तार होना बन्द हो जाता है।

एक जीव जब मरता है तब तुर्त ही दूसरे उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है, बीच मे जाते हुए एक समय, दो समय या तीन समय लगते है तब तक पूर्व शरीर के समान आत्मा का आकार बना रहता है। जब उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है, तब वहा जैसा पुद्गल ग्रहण करता है उसके समान आकार छोटा या वडा हो जाता है। जैसे जैसे शरीर बढता है वैसे वैसे आकार फैलता जाता है। शरीर मे ही आत्मा फैला है बाहर नही है, इस बात का अनुभव विचारवान को हो सकता है। हमे दुःख या सुख का अनुभव शरीर भर मे होता है, शरीर से बाहर नही। यदि किसी मानव के शरीर मे आग लग जावे व शरीर से बाहर भी आग हो तो उस मानव को शरीर की आग की वेदना

का दु ख होगा, शरीर के वाहर की आग की वेदना न होगी। यदि आत्मा शरीर के किसी स्थान पर होता, सर्व स्थान पर व्यापक न होता तो जिस स्थान पर जीव होता वही पर सुखदु ख का अनुभव होता – सर्वांग नही होता। परन्तु होता सर्वांग है इसलिये जीव शरीर प्रमाण आकारधारी है। किसी भी इन्द्रिय द्वारा मनोज्ञ पदार्थ का राग सहित भोग किया जाता है तो सर्वांग सुख का अनुभव होता है। शरीर प्रमाण रहते हुए भी नीचे लिखे सात प्रकार के कारण है जिनके होने पर आत्मा फैलकर शरीर मे वाहर जाता है फिर शरीर प्रमाण हो जाता है इस अवस्था को समुद्घात कहते है :

(१) वेदना – शरीर मे दु ख के निमित्त से प्रदेश कुछ वाहर निकलते है।

(२) कषाय – क्रोधादि कपाय के निमित्त से प्रदेश वाहर निकलते है।

(३) मारणातिक – मरण के कुछ देर पहले किसी जीव के प्रदेश फैलकर जहा पर जन्म लेना हो वहाँ तक जाते है, स्पर्शकर लौट आते है, फिर मरण होता है।

(४) वैक्रियिक :– वैक्रियिक शरीरधारी अपने शरीर से दूसरा शरीर वनाते है, उसमे आत्मा फैलाकर उससे काम लेते है।

(५) तैजस (१) शुभ तैजस – किसी तपस्वी मुनि को कही पर दुर्भिक्ष या रोग सचार देखकर दया आजावे तव उसके दाहिने स्कध से तैजस शरीर के साथ आत्मा फैलकर निकलता है। इससे कष्ट दूर हो जाता है।

(२) अशुभ तैजस – किसी तपस्वी को उपसर्ग पडने पर क्रोध आजाव तव उसके वाए स्कध से अशुभ तैजस शरीर के साथ आत्मा फैलता है और वह शरीर कोप के पात्र को भस्म कर देता है तथा वह तपस्वी भी भस्म होता है।

(६) आहारक :– किसी ऋद्धिधारी मुनि के सशय होने पर उनके मस्तक से आहारक शरीर वहुत सुन्दर पुरुपाकार निकलता है, उसी के साथ आत्मा फैलकर जहा केवली या श्रुत केवली होते है वहा तक जाता है, दर्शन करके लौट आता है, मुनि का सशय मिट जाता है।

(७) केवल :– किसी अरहत केवली की आयु अल्प होती है और अन्य कर्मों की स्थिति अधिक होती है, तब आयु के बराबर सब कर्मों की स्थिति करने के लिये आत्मा के प्रदेश लोक व्यापी हो जाते है।

(८) **संसारी है** – सामान्य से ससारी जीवो के दो भेद है – **स्थावर, त्रस।** एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति काय के धारी प्राणियो को स्थावर कहते है तथा द्वेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यंत प्राणियो को त्रस कहते है। विशेष मे चौदह भेद प्रसिद्ध है जिनको "जीव समास" कहते है। जीवो के समान जातीय समूह को समास कहते है।

चौदह जीव समास .– १ एकेन्द्रिय सूक्ष्म (ऐसे प्राणी जो लोकभर मे हैं किसी को बाधक नही, न किसी से बाधा पाते स्वय मरते हैं), २ एकेन्द्रिय बादर (जो बाधा पाते है व बाधक है), ३ द्वेद्रिय, ४ तेंद्रिय, ५ चौन्द्रिय ६ पचेन्द्रिय असैनी (विना मनके), ७ पचेन्द्रिय सैनी। ये सात समूह या समास पर्याप्त तथा अपर्याप्त दो प्रकार के होते है। इस तरह चौदह जीव समास हैं।

पर्याप्त अपर्याप्त – जब यह जीव किसी योनि मे पहुँचता है तब वहा जिन पुद्गलो को ग्रहण करता है उनमे आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छवास, भाषा, मन बनने की शक्ति अतर्मुहूर्त मे (४८ मिनिट के भीतर भीतर) हो जाती है उसको पर्याप्त कहते है। जिसके शक्ति की पूर्णता होगी अवश्य परन्तु जब तक शरीर बनने की शक्ति नही पूर्ण हुई तब तक उसको "निर्वृत्यपर्याप्त" कहते है। जो छहो मे से कोई पर्याप्ति पूर्ण नही कर सकते और एक श्वास (नाडी फडकन) के अठारहवें भाग मे मर जाते है उनको "लब्ध्यपर्याप्त" कहते हैं। छ पर्याप्तियो मे से एकन्द्रियो के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास चार होती है, द्वेन्द्रिय से असैनी पचेंद्रिय तक के भाषा सहित पाच होती है, सैनी पचेन्द्रिय के सब छहो होती है। पुद्गलो को खल (मोटा भाग) व रस रूप करने की शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते है।

ससारी जीवो की ऐसी अवस्थाएँ जहा उनको ढूढने से मिल सके, चौदह होती है जिनको मार्गणा कहते है।

चौदह मार्गणाएं – गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, सैनी, आहार। इनके विशेष भेद इस भाति है :–

(१) **गति चार** :– नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

(२) **इन्द्रिय पांच** :– स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र।

(३) **काय छः** – पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रस काय।

(४) **योग तीन** – मन, वचन, काय अथवा पन्द्रह योग – सत्य मन असत्य मन, उभय मन, अनुभय मन, सत्य वचन, असत्य वचन, उभय वचन, अनुभय वचन, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्माण। जिस विचार या वचन को सत्य या असत्य कुछ भी न कह सक उसको अनुभय कहते हैं। मनुष्य तिर्यंचो के स्थूल शरीर को औदारिक कहते है। इनके अपर्याप्त अवस्था मे औदारिक मिश्र योग कहते है, पर्याप्त अवस्था मे औदारिक योग होता है। देव व नारकिया के स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते है। इनके अपर्याप्त अवस्था मे वैक्रियिक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था मे वैक्रियिक योग होता है। आहारक समुद्घात मे जो आहारक शरीर बनता है उसकी अपर्याप्त अवस्था मे आहारक मिश्रयोग होता है, पर्याप्त अवस्था मे आहारक योग होता है। एक शरीर को छोडकर दूसरे शरीर को प्राप्त होने तक मध्य की विग्रह गति मे कार्माणयोग होता है। जिसके निमित्त से आत्मा के प्रदेश सकम्प हो और कर्मों को खीचा जा सके उसको योग कहते है। पन्द्रह प्रकार के ऐसे योग होते हैं। एक समय मे एक योग होता है।

(५) **वेद तीन** – स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद – जिससे क्रम से पुरुष-भोग, स्त्रीभोग व उभयभोग की इच्छा हो।

(६) **कषाय चार** – क्रोध, मान, माया, लोभ।

(७) **ज्ञान आठ** – मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय, केवल व कुमति, कुश्रुति, कुअवधि।

(८) **संयम सात** -- सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म-सापराय, यथाख्यात, देश सयम, असयम। सयम का न होना असयम है। श्रावक के व्रतो को पालना देशसयम है। शेष पाचो सयम मुनि के होते है। समताभाव रखना सामायिक है। समता के छेद होने पर फिर समता मे आना छेदोपस्थापना है। विशेष हिसा का त्याग जिसमे हो सो परिहारविशुद्धि है। सूक्ष्म लोभ के उदय मात्र मे जो हो सो सूक्ष्मसापराय है। सर्व कषाय के उदय न होने पर जो हो सो यथाख्यातसयम है।

(९) **दर्शन चार** – चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।

(१०) **लेश्या छ** :– कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल । कषायो के उदय से और मन, वचन, काय योगो के चलन से जो भाव शुभ व अशुभ होते है उनको बताने वाली छ लेश्याएँ है पहली तीन अशुभ है, शेष शुभ है। बहुत ही खोटे भाव अशुभतम कृष्णलेश्या है, अशुभतर नील है, अशुभ कापोत है, कुछ शुभ भाव पीतलेश्या है, शुभतर पद्म है, शुभतम शुक्ल है ।

(११) **भव्य दो** – जिनको सम्यक्त होने की योग्यता है वे भव्य, जिनको योग्यता नही है वे अभव्य है ।

(१२) **सम्यक्त छः** – उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, मिथ्यात्व सासादन, मिश्र । इनका स्वरूप गुणस्थान के शीर्षक मे देखे ।

(१३) **संज्ञी दो** – मन सहित सैनी, मनरहित असैनी ।

(१४) **आहार दो** – आहार अनाहार । जो स्थूल शरीर के बनने योग्य पुद्गल को ग्रहण करना वह आहार है । न ग्रहण करना अनाहार है ।

सामान्य दृष्टि से ये चौदह मार्गणाए एक साथ हरएक प्राणी मे पाई जाती है । जैसे दृष्टान्त मक्खी व मनुष्य का लेवे तो इस भाति मिलेगी ।

	मक्खी के	मानव के
१	तिर्यंच गति	मनुष्य गति
२	इन्द्रिय चार	इन्द्रिय पाच
३	त्रस काय	त्रस काय
४	वचन या काय	मन, वचन या काय
५	नपुसक वेद	स्त्री, पुरुष या नपुसक
६	कषाय चारो	कषाय चारो
७	कुमति, कुश्रुत	आठो ही ज्ञान हो सकते हैं
८	असयम	सातो ही सयम हो सकते है
९	चक्षु व अचक्षु दर्शन	चारो ही दर्शन हो सकते हैं
१०	कृष्ण नील, कापोत लेश्या	छहो लेश्याए हो सकती है
११	भव्य या अभव्य कोई	भव्य या अभव्य कोई
१२	मिथ्यात्व	छहो सम्यक्त हो सकते है
१३	असैनी	सैनी
१४	आहार व अनाहार	आहार व अनाहार

चौदह गुण स्थान -- ससार में उलझे हुए प्राणी जिस मार्ग पर चलते हुए शुद्ध हो जाते है उस मार्ग की चौदह सीढिया है। इन सीढियो को पार करके गह जीव सिद्ध परमात्मा हो जाता है। ये चौदह क्लास या दरजे है। भावो की अपेक्षा एक दूसरे से ऊचे ऊचे है। मोहनीय कर्म तथा मन, वचन, काय योगो के निमित्त से ये गुण स्थान वने है। आत्मा मे निश्चयनय से नही है। अशुद्ध निश्चयनय से या व्यवहारनय से ये गुणस्थान आतमा के कहे जाते है। मोहनीय कर्म के मूल दो भेद है -- एक दर्शन मोहनीय, दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हे -- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति मिथ्यात्व इनका कथन पहले किया जा चुका है। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद है :--

चार ४ अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ :-- दीर्घकाल स्थायी कठिनता से मिटने वाले, जिनके उदय से सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण चारित्र नही प्रगट होता है। उनके हटने से प्रगट होता है।

चार ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय :-- कुछ काल स्थायी क्रोधादि, जिनके उदय से एक देश श्रावक का चारित्र ग्रहण नही किया जाता।

चार ४ प्रत्याख्यानावरण कषाय :-- जिन क्रोधादि के उदय से मुनि का सयम ग्रहण नही किया जाता।

चार ४ संज्वलन कोधादि तथा नो नोकषाय :-- (कुछ कषाय) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पु वेद, नपु सकवेद। इनके उदय से पूर्ण चारित्र यथाख्यात नही होता।

चौदह गुणस्थानों के नाम हैं -- (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) मिश्र (४) अविरत सम्यक्त (५) देश विरत (६) प्रमत्त विरत (७) अप्रमत्त विरत (८) अपूर्व करण (९) अनिवृत्ति करण (१०) सूक्ष्म सापराय (११) उपशात मोह (१२) क्षीण मोह (१३) सयोग केवली जिन (१४) अयोग केवली जिन।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान :-- जब तक अनन्तानुवन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उदय वना रहता है, मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। इस श्रेणी

मे जीव ससार मे लिप्त, इन्द्रियो के दास, बहिरात्मा आत्मा की श्रद्धा रहित, अहकार ममकार मे फसे रहते है। शरीर को ही आत्मा मानते है। प्राय ससारी जीव इसी श्रेणी मे है।

इस श्रेणी से जीव तत्वज्ञान प्राप्त कर जब सम्यग्दृष्टि होता है, तब अनन्तानुबधी चार कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म का उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। यह उपशम अर्थात् उदय को दबा देना एक अन्तर्मुहूर्त से अधिक के लिए नही होता है। उपशम सम्यक्त के होने पर मिथ्यात्व कर्म के पुद्गल तीन विभागो मे हो जाते है -- मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त मोहनीय अतर्मुहूर्त के होते होते कुछ काल शेष रहते हुए यदि एकदम से अनन्तानुबधी कषाय का उदय आ जाता है और मिथ्यात्व का उदय नही होता है तो यह जीव उपशम सम्यक्त मे प्राप्त अविरत सम्यक्त गुणस्थान से गिरकर दूसरे सासादन गुणस्थान मे आ जाता है, वहा कुछ काल ठहरकर फिर मिथ्यात्व मे पहले गुणस्थान मे आ जाता है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व का उदय आया तो चौथे से एकदम पहले गुणस्थान मे आ जाता है। यदि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय आ गया तो चौथे से तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आ जाता है। यदि उपशम सम्यक्ती के सम्यक्त मोहनीय का उदय आ गया तो उपशम सम्यक्त से क्षयोपशम या वेदक सम्यक्ती हो जाता है। गुणस्थान चौथा ही रहता है।

(२) सासादन गुणस्थान -- चौथे से गिरकर होता है, फिर मिथ्यात्व मे नियम से गिर पडता है। यहा चारित्र की शिथिलता के भाव होते है।

(३) मिश्र गुणस्थान :-- चौथे से गिरकर या पहले से भी चढकर होता है। यहा सम्यक्त और मिथ्यात्व के मिश्र परिणाम दूध और गुड के मिश्र परिणाम के समान होते है। सत्य असत्य श्रद्धान मिला हुआ होता है। अतर्मुहूर्त रहता है फिर पहले मे आता है या चौथे मे चढ जाता है।

(४) अविरत सम्यक्त :-- इस गुणस्थान मे उपशम सम्यक्ती अतर्मुहूर्त ठहरता है। क्षयोपशम सम्यक्ती अधिक भी ठहरता है। जो अनन्तानुबधी कषाय व दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो का क्षय कर डालता है वह क्षयिक सम्यक्ती होता है। क्षायिक सम्यक्त कभी नही छूटता है। क्षयोपशम सम्यक्त मे सम्यक्त

मोहनीय के उदय से मलीनता होती है। इस श्रेणी मे यह जीव महात्मा या अतरात्मा हो जाता है। आत्मा को आत्मा रूप जानता है, ससार को कर्म का नाटक समझता है। अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी हो जाता है, गृहस्थी मे रहता हुआ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्या कर्म से आजीविका करता है, राज्य प्रबन्ध करता है, अन्यायी शत्रु को दमनार्थ युद्ध भी करता है। यह व्रतो को नियम से नही पालता है इसलिए इसको अविरत कहते है। तथापि इसके चार लक्षण होते है :- (१) प्रशम - शात भाव (२) सवेग धर्मानुराग - ससार से वैराग, (३) अनुकम्पा - दया, (४) आस्तिक्य - आत्मा व परलोक मे विश्वास। इस श्रेणी वाले के छहो लेश्याए हो सकती है। सर्व ही सैनी पचेन्द्रिय तिर्यंच, मनुष्य, देव, नारकी इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते है। यही दर्जा मोक्षमार्ग का प्रवेशद्वार है। यह प्रवेशिका की कक्षा है। इस गुणस्थान का काल क्षायिक व क्षयोपशम की अपेक्षा बहुत है।

(५) देश विरत :- जब सम्यक्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नही होता है और प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम या मन्द उदय होता है तो श्रावक के व्रतो को पालता है। एक देश हिंसा असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रह से विरक्त रहता है। पाच अणुव्रत, तथा सात शीलो को पालता हुआ साधुपद ही की भावना भाता है। इस चारित्र का वर्णन आगे करेगे। इस गुणस्थान मे रहता हुआ श्रावक गृही कार्य को करता है व धीरे धीरे चारित्र की उन्नति करता हुआ साधुपद मे पहुँचता है। इसका काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त व अधिक से अधिक जीवन पर्यंत है। इस श्रेणी को पचेन्द्रि सैनी पशु तथा मनुष्य धार सकते है। छठे से लेकर सब गुणस्थान मनुष्य ही के होते है।

(६) प्रमत्त विरत - जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है तब अहिंसादि पाच महाव्रतो को पालता हुआ महाव्रती महात्मा हो जाता है। यह हिंसादि का पूर्ण त्यागी है इससे महाव्रती है तथापि इस गुणस्थान मे आहार, विहार, उपदेशादि होता है। इससे पूर्ण आत्मस्थ नही है अतएव कुछ प्रमाद है इसी से इसको प्रमत्त विरत कहते है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है।

(७) **अप्रमत्त विरत** -- जब महाव्रती ध्यानस्थ हो जाता है, प्रमाद बिलकुल नही होता है तब इस श्रेणी मे होता है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है। महाव्रती पुनः पुनः इन छठे सातवें गुणस्थानो मे आता जाता रहता है।

आठवें गुणस्थान से दो श्रेणिया है -- **एक उपशम श्रेणी, दूसरी क्षपक श्रेणी।** जहा कषायो को उपशम किया जावे, क्षय न किया जावे वह उपशम श्रेणी है। जहा कषायो का क्षय किया जावे वह क्षपक श्रेणी है। उपशम श्रेणी मे आठवा, नौमा, दशमा व ग्यारवा गुणस्थान तक होता है, फिर नियम से धीरे धीरे गिरकर सातवे मे आ जाता है। क्षपक श्रेणी के भी चार गुणस्थान है :- आठवा, नौमा, दशमा व बारहवां। क्षपकवाला ११वें को स्पर्श नही करता है, बारहवें से तेरहवें मे जाता है।

(८) **अपूर्व करण** -- यहा ध्यानी महाव्रती महात्मा के अपूर्व उत्तम भाव होते है, शुक्ल ध्यान होता है, अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नही है।

(९) **अनिवृत्तिकरण** :- यहा ध्यानी महात्मा के बहुत निर्मल भाव होते हैं, शुक्ल ध्यान होता है। ध्यान के प्रताप से सिवाय सूक्ष्म लोभ के सर्व कषायो को उपशम या क्षय कर डालता है, काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है।

(१०) **सूक्ष्म सांपराय** :- यहा ध्यानी महात्मा के एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय रहता है, उसका समय भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है।

(११) **उपशांत मोह** :- जब मोह कर्म बिलकुल दब जाता है तब यह कक्षा अतर्मुहूर्त के लिए होती है। यथाख्यात चारित्र व आदर्श वीतरागता प्रगट हो जाती है।

(१२) **क्षीणमोह** :- मोह का बिलकुल क्षय क्षपक श्रेणीद्वारा चढते हुए दसवें गुणस्थान में हो जाता है तब सीधे यहां आकर अंतर्मूहूर्त ध्यान मे ठहरता है। शुक्ल ध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अतरायकर्मों का नाश कर देता है और तब केवलज्ञान का प्रकाश होते ही अरहत परमात्मा कहलाता है। गुणस्थान तेरहवा हो जाता है।

(१३) **सयोगकेवली जिन** -- अरहत परमात्मा चार घातीयकर्मों के क्षय होने पर अनतज्ञान, अनतदर्शन, अनतवीर्य, अनन्तदान, अनन्तलाभ, अनन्त-

भोग, अनन्तउपभोग, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र इन नौ केवललब्धियो से विभूषित हो जन्मपर्यन्त इस पद मे रहते हुए, धर्मोपदेश देते हुए विहार करते हैं, इन्द्रादि भक्तजन बहुत ही भक्ति करते है ।

(१४) **अयोगकेवली जिन :--** अरहत की आयु मे जब इतनी देर ही रह जाती है जितनी देर अ, इ, उ, ऋ, लृ ये पाच लघु अक्षर उच्चारण किये जॉय तब यह गुणस्थान होता है । आयु के अत मे शेष अघातीय कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय का भी नाश हो जाता है और यह आत्मा सर्व कर्मरहित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता है । जैसे भुना चना फिर नही उगता वैसे ही सिद्ध फिर ससारी नही होते है । चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, ये सब व्यवहार या अशुद्धनय से ससारी जीवो मे होते है । जीव-समास एक काल मे एक जीव के एक ही होगा, विग्रहगति का समय अपर्याप्त मे गर्भित है । मार्गणाए चौदह ही एक साथ होती है जैसा दिखाया जा चुका है । गुणस्थान एक जीव के एक समय मे एक ही होगा ।

(८) **सिद्ध :–** सर्व कर्म रहित सिद्ध परमात्मा ज्ञानानन्द मे मगन रहते हुए आठ कर्मों के नाश से आठ गुण सहित शोभायमान रहते हैं । वे आठ गुण हैं ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व । अर्थात् सिद्धो में अतीन्द्रियपना है, इन्द्रियो से ग्रहण योग्य नही है । जहा एक सिद्ध विराजित हैं वहा अन्य अनेक सिद्ध अवगाह पा सकते है, उनमे कोई नीच ऊँचपना नही है, उनको कोई बाधा नही दे सकता है । वे लोक के अग्रभाग मे लोक शिखर पर सिद्धक्षेत्र मे तिष्ठते है ।

(९) **ऊर्द्ध्वगमन स्वभाव :–** सर्व कर्मों से रहित होने पर सिद्ध का आत्मा स्वभाव से ऊपर जाता है । जहा तक धर्मद्रव्य है वहाँ तक जाकर अन्त मे ठहर जाता है । अन्य ससारी कर्मबद्ध आत्माए एक शरीर को छोडकर जब दूसरे शरीर मे जाते है तब चार विदिशाओ को छोडकर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे इन छः दिशाओ द्वारा सीधा मोड़ा लेकर जाते है, कोनो मे टेढा नही जाते है ।

जीवो की सत्ता सबकी भिन्न भिन्न रहती है। कोई की सत्ता किसी से मिल नही सकती है। जीव की अवस्था के तीन नाम प्रसिद्ध है – **बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा**। पहले तीन गुणस्थान वाले जीव बहिरात्मा है। अविरत सम्यक्त चौथे से लेकर क्षीणमोह बारहवे गुणस्थान तक जीव अन्तरात्मा कहलाता है। तेरहवे व चौदहवे गुणस्थान वाले सकल या सशरीर परमात्मा कहलाते है। सिद्ध शरीर या कल रहित निकल परमात्मा कहलाते है। तत्वज्ञानी को उचित है कि बहिरात्मापना छोड़कर अन्तरात्मा हो जावे और परमात्मा पद प्राप्ति का साधन करे। यही एक मानव का उच्च ध्येय होना चाहिये। यह जीव अपने ही पुरुषार्थ से मुक्त होता है। किसी की प्रार्थना करने से मुक्ति का लाभ नही होता है।

अजीव में :– पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल गर्भित है। स्पर्श, रस, गध, वर्णमय पुद्गल के दो भेद होते हैं – परमाणु और स्कध। अविभागी पुद्गल के खड को परमाणु कहते है। दो व अनेक परमाणुओ के मिलने पर जो वर्गणा बनती है उनको स्कध कहते है। स्कधो के बहुत से भेद है। उनके छ मूल भेद जानने योग्य हैं।

छः स्कंध भेद – स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म सूक्ष्म। जो स्कध कठोर हो, खड होने पर बिना दूसरी वस्तु के सयोग के न मिल सकें उनको स्थूल स्थूल कहते है जैसे लकडी, कागज, वस्त्र आदि। जो स्कध बहने वाले हो, अलग किये जाने पर फिर स्वय मिल जावे जैसे पानी, शरबत, दूध आदि उनको स्थूल कहते है। जो स्कध देखने मे स्थूल दिखें परन्तु हाथो से ग्रहण न हो सकें उनको स्थूल सूक्ष्म कहते है। जैसे धूप, प्रकाश, छाया। जो स्कध देखने मे स्थूल न आवे परन्तु अन्य चार इन्द्रियों से ग्रहण हो उनको सूक्ष्म स्थूल कहते हैं, जैसे हवा, शब्द, गध रस। जो स्कध बहुत से परमाणुओ के स्कध हो परन्तु किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण मे न आवे उन्हे सूक्ष्मस्कध कहते हैं जैसे भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि। जो स्कध सर्व से सूक्ष्म हो जैसे दो परमाणु का स्कध उसे सूक्ष्म सूक्ष्म कहते है।

जीव और पुद्गल का सयोग ही ससारी आत्मा की अवस्थाए है। सर्व पुद्गल का ही पसारा है। यदि पुद्गल को निकाल डाले तो हर एक जीव शुद्ध

दिखेगा इसी से शुद्ध निश्चयनय से सर्व जीव शुद्ध है। ससार मे जीव और पुद्गल अपनी शक्ति से चार काम करते है -- चलना, ठहरना, अवकाश पाना और बदलना। हर एक कार्य उपादान और निमित्त दो कारणो से होता है। जैसे सोने की अगूठी का उपादान कारण सुवर्ण है परन्तु निमित्त कारण सुनार व उसके यत्रादि है। इसी तरह इन चार कामो के उपादान कारण जीव पुद्गल है। तब निमित्त कारण अन्य चार द्रव्य है। गमन मे सहकारा धर्म है, स्थिति मे सहकारी अधर्म है, अवकाश मे सहकारी आकाश है, बदलने मे सहकारी काल द्रव्य है। समय, आवली, पल आदि निश्चय काल की पर्याय है, इसी को व्यवहार काल कहते है। जब एक पुद्गल का परमाणु एक कालाणु पर से उल्लघन कर निकटवर्ती कालाणु पर जाता है तब समय पर्याय पैदा होती है। इन्ही समयो से आवली, घडी आदि काल बनता है। यद्यपि ये छहो द्रव्य एक स्थान पर रहते हैं और एक दूसरे को सहायता देते है तथापि मूल स्वभाव मे भिन्न भिन्न बने रहते है, कभी मिलते नही हैं। न कभी छः के सात होते हैं न पाँच होते हैं।

आश्रव और बंध तत्व

कार्माण शरीर के साथ जीव का प्रवाह की अपेक्षा अनादि तथा कर्म पुद्गल के मिलने व छूटने की अपेक्षा सादि सम्बन्ध है। कार्माण शरीर मे जो कर्म बँधते है उनको बताने वाले आश्रव और बध तत्व हैं। कर्म वर्गणाओ का बध के सन्मुख होने को आश्रव और बँध जाने को बध कहते है। ये दोनो काम साथ साथ होते है। जिन कारणो से आश्रव होता है उन्ही कारणो से बध होता है। जैसे नाव में छिद्र से पानी आकर ठहर जाता है वैसे मन, वचन, काय की प्रवृत्ति द्वारा कर्म आते है और बंधते है। साधारण रूप से योग और कषाय ही आश्रव व बंध के कारण है। मन, वचन, काय के हलन चलन से आत्मा के प्रदेश सकम्प होते है उसी समय आत्मा की योग शक्ति चारो तरफ से कर्म वर्गणाओ को खीच लेती है। योग तीव्र होता है तो अधिक कर्म वर्गणाए आती है, योग मद होता है तो कम आती है। योग के साथ कषाय का उदय होता है इसलिये कभी आठ कर्मों के योग्य कभी सात कर्मो के योग्य वर्गणाए

खिचती है। यदि कषाय का बिलकुल रग न मिला हो तो केवल साता वेदनीय कर्म के योग्य वर्गणाए खिचकर आती है।

बध के चार भेद हैं :– प्रकृति बध, प्रदेश बध, स्थिति बध, अनुभाग बध। योगो से ही प्रकृति और प्रदेश बध होते है। कषायो से स्थिति और अनुभाग बध होते हैं। किस २ प्रकृति योग्य कर्म बधते है व कितने बधते हैं यही प्रकृति और प्रदेश बध का अभिप्राय है। जैसे योगो से आते है वैसे ही योगो से ये दोनो बाते हो जाती है, जैसे ज्ञानावरण के अमुक सख्या के कर्म बधे, दर्शनावरण के अमुक सख्या के कर्म बधे। क्रोधादि कषायो की तीव्रता होती है तो आयु कर्म के सिवाय सातो ही कर्मों की स्थिति अधिक पडती है। कितने काल तक कर्म ठहरेंगे उस मर्यादा को स्थित बध कहते है। यदि कषाय मन्द होती है तो सात कर्मो की स्थिति कम पड़ती है। कषाय अधिक होने पर नर्क आयु की स्थिति अधिक व अन्य तीन आयु कर्म की स्थिति कम पड़ती है। कषाय मद होने पर नर्क आयु की स्थिति कम व अन्य तीन आयु की स्थिति अधिक पडती है। कर्मों का फल तीव्र या मद पडना इसको अनुभाग बध कहते हैं। जब कषाय अधिक होती है तब पाप कर्मों मे अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मो मे अनुभाग कम पडता है। जब कषाय मद होता है तब पुण्य कर्मो मे अनुभाग अधिक व पाप कर्मों मे अनुभाग कम पडता है।

पुण्य पाप कर्म :– आठ कर्मों मे से साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम व उच्च गोत्र पुण्य कर्म है। जबकि असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, तथा ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पाप कर्म है। योग और कषाय सामान्य से आश्रव व बध के कारण है।

आश्रव और बन्ध के विशेष कारणं :– पांच है – मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

(१) **मिथ्यात्व पांच प्रकार** – सच्चा श्रद्धान न होकर जीवादि तत्वो का मिथ्या श्रद्धान होना मिथ्यात्व है। यह पाच प्रकार का है :–

(१) **एकांत** :– आत्मा व पुद्गलादिक द्रव्यो मे अनेक स्वभाव हैं उनमे से एक ही स्वभाव है ऐसा हठ पकडना सो एकात मिथ्यात्व है। जैसे – द्रव्य

चार विकथा × चार कषाय × पाच इन्द्रिय × १ स्नेह × १ निद्रा = ८०

चार विकथा :– स्त्री, भोजन, देश, राजा। राग बढाने वाली स्त्रियो के रूप, सौन्दर्य, हावभाव, विभ्रम, सयोग, वियोग की चर्चा करना स्त्री विकथा है। राग बढाने वाली, भोजनो के सरस नीरस खाने पीने व चबाने आदि की चर्चा करना भोजन विकथा है। देश मे लूटपाट, मारपीट, जुआ, चोरी, व्यभिचार व नगरादि की सुन्दरता सम्बन्धी राग द्वेष बढाने वाली कथा करना, देश विकथा है। राजाओ के रूप की रानियो की विभूति की, सेना की, नौकर चाकर आदि की राग बढाने वाली कथा करना राजा विकथा है।

हरएक प्रमाद भाव मे एक विकथा, एक कषाय, एक इन्द्रिय, एक स्नेह व एक निद्रा के उदय का सम्वन्ध होता है। इसलिए प्रमाद के ८० भेद हो जाते हैं। जैसे – **पुष्प सूँघने की इच्छा होना** एक प्रमाद भाव है। इसमे भोजन कथा (इन्द्रिय भोग सम्वन्धी कथा भोजनकथा मे गर्भित है), लोभ कषाय, घ्राणइन्द्रिय, स्नेह, व निद्रा ये पाच भाव सयुक्त है। किसी ने किसी सुन्दर वस्तु को देखने मे अतराय किया उस पर क्रोध करके कष्ट देने की इच्छा हुई। इस प्रमाद भाव मे भोजनकथा, क्रोधकषाय, चक्षुइन्द्रिय, स्नेह और निद्रा गर्भित है।

(४) **कषाय** – के २५ भेद हैं जो पहले गिना चुके है।

(५) **योग** – के तीन या १५ भेद है जो पहले गिना चुके है।

चौदह गुणस्थानों की अपेक्षा आश्रव बंध के कारण :– मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग पाचो ही कारण है जिनसे कर्म का बध होता है। **सासादन गुणस्थान में :–** मिथ्यात्व नही है शेष सर्व कारण है। **मिश्र गुणस्थान मे** – अनन्तानुबधी चार कषाय भी नही हैं, मिश्रभाव सहित अविरत, प्रमाद कषाय व योग हैं। **अविरत सम्यक्त गुणस्थान में :–** न मिथ्यात्व है, न मिश्रभाव है, न अनन्तानुबन्धी कषाय है। शेष अविरत प्रमाद, कषाय व योग है।

देश विरत गुणस्थान में :– एक देशव्रत होने से अविरत भाव कुछ घटा तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय भी छूट गया। शेष अविरत प्रमाद, कषाय व योग बध के कारण है।

छठे प्रमत्त गुणस्थान में :– महाव्रती होने से अविरत भाव बिलकुल छूट गया तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय भी नही रहा। यहाँ शेष प्रमाद, कषाय व योग हैं।

अप्रमत्त गुणस्थान में :– प्रमाद भाव नही रहा, केवल कषाय व योग है **अपूर्वकरण में** भी कषाय व योग है परन्तु अतिमन्द हैं।

अनिवृत्तिकरण नौमे गुणस्थान में :– हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नौ कषाय नही है। सज्वलन चार कषाय व तीन वेद अति मन्द है। **सूक्ष्मसांपराय में** केवल सूक्ष्म लोभ कषाय और योग है। **उपशांतमोह, क्षीण-मोह तथा संयोग केवली जिन** इन तीन गुणस्थानो मे केवल योग है। चौदहवे मे योग भी नही रहता है। इस तरह बध का कारण भाव घटता जाता है।

कर्मों का फल कैसा होता है :– कर्म का जब बध हो चुकता है। तब कुछ समय उनके पकने में लगता है, उस समय को **आबाधाकाल** कहते है। यदि एक कोडाकोडी सागर की स्थिति पडे तो एक सौ वर्ष पकने मे लगता है इसी हिसाब से कम स्थिति मे कम समय लगता है। किन्ही कर्मों के आबाधा एक पलक मात्र समय ही होती है, बधने के एक आवली के पीछे उदय आने लगते हैं। पकने का समय पूर्ण होने पर जिस कर्म की जितनी स्थिति है उस स्थिति के जितने समय है उतने समयो मे उस किसी कर्म के स्कध बँट जाते हैं। बँट-वारे में पहले पहले समयो मे अधिक कर्म व आगे आगे कम २ कर्म आते हैं। अन्तिम समय में सबसे कम आते हैं। इस बंटवारे के अनुसार जिस समय जितने कर्म आते हैं उतने कर्म अवश्य झड जाते हैं, गिर जाते है। यदि बाहरी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुकूल होता है तो फल प्रगट करके झडते हैं, नही तो बिना फल दिये झड जाते हैं। जैसे किसी ने क्रोध कषाय रूपी कर्म ४८ मिनिट की स्थिति का बाधा और एक मिनिट पकने मे लगा और ४७०० कर्म हैं। तो वे कर्म ४७ मिनिट में बँट जाते हैं। जैसे ५००, ४००, ३००, २००, १०० इत्यादि रूप से तो ये क्रोध कषाय के स्कध इसी हिसाब से झड जायेगे। पहले मिनट मे ५०० फिर ४०० इन्यादि। यदि उतनी देर कोई सामायिक एकान्त मे बैठ-कर कर रहा है तो निमित्त न होने से क्रोध के फल को बिना प्रगट किये हुए ये कर्म गिर जायेगे। यदि किन्ही क्रोध कर्मों का बल तीव्र होगा तो कुछ द्वेष

भाव किसी पर आ जायेगा । यदि मंद होगा तो कुछ भी भावो मे विकार न होगा ।

बँधे हुए कर्मों में परिवर्तन :– एक दफे कर्म का बध हो जाने पर भी उनमे तीन अवस्थाए पीछे से हो सकती है – **संक्रमरण** :– पाप कर्म को पुण्य में व पुण्य को पाप मे बदलना । **उत्कषरण** :– कर्मों की स्थिति व अनुभाग को बढा देना । **अपकर्षरण** – कर्मों की स्थिति व अनुभाग को घटा देना । यदि कोई पाप कर्म कर चुका है और वह उसका प्रतिक्रमरण (पश्चात्ताप) बडे ही शुद्ध भाव से करता है तो पाप कर्म पुण्य में बदल सकता है या पाप कर्म की स्थिति व अनुभाग घट सकता है । यदि किसी ने पुण्य कर्म बांधा है पीछे वह पश्चात्ताप करता है कि मैंने इतनी देर शुभ काम में लगा दी इससे मेरा व्यापार निकल गया तो इन भावों से बँधा हुआ पुण्य कर्म पापकर्म हो सकता है या पुण्य कर्म का अनुभाग घट सकता है व स्थिति बढ सकती है । जैसे औषधि के खाने से भोजन के विकार मिट जाते, कम हो जाते व बल बढ जाता इसी तरह परि-रणामो के द्वारा पिछले पाप व पुण्य कर्म में परिवर्तन हो जाता है । इसलिये बुद्धिमान पुरुष को सदा ही अच्छे निमित्तो मे, सत्सगति में, किसी सच्चे गुरु की शरण में रहकर अपने भावो को उच्च बनाने के लिये ध्यान व स्वाध्याय मे लीन रहना चाहिये । कुसगति से व कुमार्ग से बचना चाहिये ।

भविष्य की आयु कर्म का बंध कैसे होता है :– हम मानवो के लिये यह नियम है कि जितनी भोगने वाली आयु की स्थिति होगी उसके दो तिहाई बीत जाने पर पहली दफे अन्तर्मुहूर्त के लिये आयु बध का समय होता है । फिर दो तिहाई बीतने पर दूसरी दफे, फिर दो तिहाई बीतने पर तीसरी दफे, इस तरह दो तिहाई समय के पीछे आठ दफे ऐसा अवसर आता है । यदि इन में भी नही बधे तो मरने के पहले तो आयु बधती ही है । मध्यम लेश्या के परिरणामो से आयु बँधती है । ऐसे परिरणाम उस आयुबध के काल मे नही हुए तो आयु नही बँधती है । एक दफे बँध जाने पर दूसरी दफे फिर बध काल आने पर पहली बधी आयु की स्थिति कम व अधिक हो सकती है । जैसे किसी मानव की ८१ वर्ष की आयु है तो नीचे प्रमाण ८ दफे आयुबंध काल आयेगा –

(१)	५४ वर्ष बीतने पर	२७ वर्ष रहने पर
(२)	७२ ,, ,,	९ ,, ,,
(३)	७८ ,, ,,	३ ,, ,,
(४)	८० ,, ,,	१ ,, ,,
(५)	८० ,,	८ मास बीतने पर ४ मास शेष रहने पर
(६)	८० ,,	१० मास २० दिन बीतने पर ४० दिन शेष रहने पर
(७)	८० ,,	११ मास १६ दिन १६ घटे बीतने पर १३ दिन ८ घटे रहने पर
(८)	८० ,,	११ मास २५ दिन १४ घन्टे बीतने पर ४ दिन १० घन्टे ४० मिनट रहने पर

संवर और निर्जरा तत्त्व

आत्मा के अशुद्ध होने के कारण आश्रव और बन्ध है, यह कहा जा चुका है। यद्यपि कर्म अपनी स्थिति के भीतर फल देकर व बिना फल दिये झडते हैं तथापि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कभी भी रागद्वेष मोह से खाली नही होता है, इससे हर समय कर्मों का बन्ध करता ही रहता है। अज्ञानी के कर्म की निर्जरा हाथी के स्नान के समान है। जैसे हाथी एक दफे तो सू ड से अपने ऊपर पानी डालता है फिर रज डाल लेता है वैसे अज्ञानी के एक तरफ तो कर्म झडते हैं, दूसरी तरफ कर्म बँधते हैं। अज्ञानी के जो सुख या दु ख होता है या शरीर, स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन, परिवार, परिग्रह का सम्बन्ध होता है उसमे वह आसक्त रहता है, सुख मे बहुत रागी दु ख मे बहुत द्वेषी हो जाता है। इस कारण उसके नवीन कर्मों का बन्ध तीव्र हो जाता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव ससार शरीर व भोगो से वैरागी होता है। वह पुण्य के उदय मे व पाप के उदय मे सम भाव रखता है, आसक्त नही होता है इससे उसके कर्म झडते बहुत हैं। तथा सुख मे अल्प राग व दु ख मे अल्प द्वेष होने के कारण नवीन कर्मों का बन्ध थोड़ा होता है। चौदह गुणस्थानो मे चढते हुए जितना जितना बन्ध का कारण हटता है उतना उतना जो बन्ध पहले होता था उसका सवर हो

जाता है तथा ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जितना जितना आत्म मनन व आत्मानुभव का अभ्यास करता है उसके रत्नत्रयमय भाव के प्रताप से प्रचुर कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों की स्थिति घटती जाती है। पापकर्म का अनुभाग घटता जाता है, पाप कर्म बहुत शीघ्र झड जाते है। पुण्य कर्म में अनुभाग बढ जाता है वे भी फल देकर या फल दिये बिना झड जाते है।

जिन भावो से कर्म बन्धते हैं उनके विरोधी भावो से कर्म रुकते है। आश्रव का विरोधी ही सवर है। मिथ्यात्व के द्वारा आते हुए कर्मों को रोकने के लिये सम्यग्दर्शन का लाभ करना चाहिये। अविरति के द्वारा आने वाले कर्मों को रोकने के लिये अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पाच व्रतो का अभ्यास करना चाहिये। प्रमाद के रोकने के लिये चार विकथा को त्यागकर उपयोगी धार्मिक व परोपकारमय कार्यों मे दत्तचित्त रहना चाहिये। कषायो को हटाने के लिये आत्मानुभव व शास्त्र पठन व मनन, तत्त्वविचार व क्षमाभाव, मार्दवभाव, आर्जवभाव, सन्तोषभाव का अभ्यास करना चाहिये। योगो को जीतने के लिये मन, वचन, काय को थिर करके आत्मध्यान का अभ्यास करना चाहिये, सवर तत्त्व का सामान्य कथन इस प्रकार है – विशेष विचार यह है कि जो अपना सच्चा हित करना चाहता है उसको अपने परिणामो की परीक्षा सदा करना चाहिये। तीन प्रकार के भाव जीवो के होते है – अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग। अशुभोपयोग से पापकर्मों का, शुभोपयोग से पुण्यकर्मों का बन्ध होता है। परन्तु शुद्धोपयोग से कर्मों का क्षय होता है। इसलिये विवेकी को उचित है कि अशुभोपयोग से बचकर शुभोपयोग मे चलने का अभ्यास करे। फिर शुभोपयोग को भी हटाकर शुद्धोपयोग को लाने का प्रयत्न करे। ज्ञानी को भी सदा जागृत और पुरुषार्थी रहना चाहिये। जैसे साहूकार अपने घर मे चोरो का प्रवेश नही चाहता है, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है उसी तरह ज्ञानी को अपने आत्मा की रक्षा बधकारक भावो से करते रहना चाहिये व जिन जिन अशुभभावो की टेव पड गई हो उनको नियम या प्रतिज्ञा के द्वारा दूर करना चाहिये।

जुआ खेलने की, तास खेलने की, चौपड खेलने की, शतरज खेलने की, भाग पीने की, तम्बाकू पीने की, अफीम खाने की, वेश्यानाच देखने की, कम

तौलने नापने की, चोरी के माल खरीदने की, अधिक बोझा लादने की, मिथ्या गवाही देने की, मिथ्या कागज लिखने की, खरी में खोटी मिलाकर खरी कह कर बेचने की, दिन मे सोने की, अनछना पानी पीने की, रात्रि भोजन करने की, वृथा बकवाद करन की, गाली सहित बोलने की, असत्य भाषण की, पर को ठगने की आदि जो जो भूल से भरे हुए अशुभ भाव अपने मे होते हो उनको त्याग करता चला जावे तब उनके त्याग करने से जो पाप का बध होता सो रुक जाता है। प्रतिज्ञा व नियम करना अशुभ भावो से बचने का बडा भारी उपाय है। ज्ञानी भेद विज्ञान से आत्मा को सर्व रागादि परभावों से भिन्न अनुभव करता है। मैं सिद्धसम शुद्ध हूँ उसका यह अनुभव परम उपकारी होता है। इस शुद्ध भावों की तरफ झुके हुए भावो के प्रताप से उसके नवीन कर्मों का सवर व पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है।

सिद्धान्त में सवर के साधन व्रत, समिति, गुप्ति, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, चारित्र तथा तप को बताया गया है और निर्जरा का कारण तप को कहा गया है। इन सबका कुछ वर्णन आगे किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि जितना जितना शुद्ध आत्मिक भाव का मनन या अनुभव बढता जायेगा उतना उतना नवीन कर्मो का सवर व पुरातन कर्म का क्षय होता जायेगा।

मोक्ष तत्व

सातवा तत्त्व मोक्ष है, जब ध्यान के बल से आत्मा सर्व कर्मों से छूट जाता है तब वह अकेला एक आत्म द्रव्य अपनी सत्ता मे रह जाता है इसे ही मोक्ष तत्त्व कहते हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा सिद्धात्मा है वे परम कृतकृत्य परमात्मा रूप से अपने ज्ञानानद का भोग करते रहते है।

व्यवहार नय से जीवादि सात तत्त्व का स्वरूप सक्षेप से कहा गया है जिससे सहज सुख के साधक को इनका ज्ञान हो। रोग का निदान व उपाय विदित हो। निश्चय नय से इन सात तत्त्वो मे केवल दो ही पदार्थ हैं – जीव और अजीव। उनमे से अजीव त्यागने योग्य है। जीव पदार्थ मे अपना एक शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा जानना व श्रद्धान करना निश्चय नय से

सम्यक्त है । जीव और कर्म का सयोग ही ससार है । जीव और कर्म के सयोग से ही आश्रव, बध, सवर, निर्जरा, मोक्ष पाच तत्त्व बने हैं जैसे शक्कर और मावा के सम्बन्ध से पाच प्रकार की मिठाई बनाई जावे तव व्यवहार मे उस मिठाई को पेडा, बरफी, गुलाबजामुन आदि अनेक नाम दिये जाते हैं परन्तु निश्चय से उनमें दो ही पदार्थ हैं – शक्कर और मावा । इसी तरह आश्रवादि पाच तत्त्वो मे जीव और कर्म दो है, उनमे से जीव को भिन्न अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है ।

सात तत्त्वो का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है । इसी तरह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र व सच्चे गुरु का श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है । देव, शास्त्र, गुरु की सहायता से ही पदार्थों का ज्ञान होता है व व्यवहार सम्यक्त का सेवन होता है । ससारी जीवो मे जो दोष पाये जाते हैं वे जिनमे न हो वे ही सच्चे देव हैं । अज्ञान व कषाय ये दोष हैं, जिनमे ये न हों अर्थात् जो सर्वज्ञ और वीतराग हो वही सच्चा देव है । यह लक्षण अरहत और सिद्ध परमात्मा मे मिलता है । पहले कहा जा चुका है कि तेरहवें और चौदहवे गुणस्थानवर्ती को अरहत कहते हैं और सर्व कर्मरहित आत्मा को सिद्ध कहते है । ये ही आदर्श हैं जिनके समान हमको होना है । अतएव इन्ही को पूजनीय देव मानना चाहिये । अरहत द्वारा प्रगट धर्मोपदेश जो जैन आचार्यों के द्वारा ग्रन्थों मे है वह सच्चा शास्त्र है, क्योकि उनका कथन अज्ञान और कपायो को मेटने का उपदेश देता है । उन शास्त्रो मे एकसा कथन है, पूर्वापर विरोध कथन नही है । उन शास्त्रो के अनुसार चलकर जो महाव्रती अज्ञान और कषायो को मेटने का साधन करते हैं वे ही सच्चे गुरु हैं । इस तरह देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा करके व्यवहार सम्यक्ती होना योग्य है ।

व्यवहार सम्यक्त के सेवन से निश्चय सम्यक्त प्राप्त होगा । इसलिये उचित है कि चार काम नित्य प्रति किये जावें (१) देव भक्ति, (२) गुरुसेवा, (३) स्वाध्याय, (४) सामायिक । ये ही चार औषधिया हैं जिनके सेवन करने से अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का बल घटेगा । इसलिए श्री जिनेन्द्रदेव अरहत सिद्ध की स्तुति नित्य करनी चाहिये । भावो के जोडने के लिये

अरहतों की ध्यानमय मूर्ति भी सहायक है। इसलिये मूर्ति के द्वारा ध्यान के भाव का दर्शन करते हुए गुणानुवाद करने से बुद्धि पर शुद्ध भाव रूपी आदर्श की छाप पड़ती है। ससार अवस्था त्यागने योग्य व मोक्षावस्था ग्रहण योग्य भासती जाती है। इसलिए मूर्ति के सयोग से या मूर्ति के सयोग विना जैसा सभव हो अरहत सिद्ध की भक्ति आवश्यक है।

गुरु सेवा भी बहुत जरूरी है। गुरु महाराज की शरण मे बैठने से, उनकी शात मुद्रा देखने से, उनसे धर्मोपदेश लेने से वुद्धि पर भारी असर पडता है। गुरु वास्तव मे अज्ञान के रोग को मेटने के लिए ज्ञानरूपी अजन की सलाई चला देते है जिससे अंतरङ्ग ज्ञान की आँख खुल जाती है। जैसे पुस्तको के होने पर भी स्कूल और कालेजो में मास्टर और प्रोफेसरो की जरूरत पडती है, उनके बिना पुस्तको का मर्म समझ मे नही आता, इसी तरह शास्त्रो के रहते हुए भी गुरु की आवश्यकता है। गुरु, तत्व का स्वरूप ऐसा समझाते है जो शीघ्र समझ मे आ जाता है। इसलिए गुरु महाराज की सगति करके ज्ञान का लाभ करना चाहिये। उनकी सेवा वैय्यावृत्य करके जन्म को सफल मानना चाहिये। सच्चे गुरु तारणतरण होते है। आप भवसागर से तरते हैं और शिष्यो को भी पार लगाते है। यदि गुरु साक्षात् न मिले तो नित्य प्रति उनके गुणो का स्मरण करके उनकी भक्ति करनी चाहिये।

तीसरा नित्य काम यह है कि शास्त्रों को पढना चाहिए। जिनवाणी पढने से ज्ञान की वृद्धि होती है, परिणाम शात होते हैं। बुद्धि पर तत्त्वज्ञान का असर पड़ता है जिससे बड़ा भारी लाभ होता है। शास्त्रो की चर्चा व मनन से कर्म का भार हल्का हो जाता है। जिन शास्त्रो से तत्वो का बोध हो, जिनसे अध्यात्मज्ञान विशेष प्रकट हो, उन शास्त्रो का विशेष अभ्यास करना चाहिये।

चौथा काम यह है कि प्रात काल और सध्याकाल या मध्यान्हकाल तीन दफे, दो दफे या एक दफे एकात मे बैठकर सामायिक करनी चाहिये। जितनी देर सामायिक करे सर्व से राग द्वेष छोडकर निश्चयनय से आत्मा को सिद्धसम शुद्ध विचारना चाहिये, ध्यान का अभ्यास करना चाहिये।

देवपूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय व सामायिक इन चार कामो को नित्य श्रद्धान भाव सहित करते रहने से व इन्द्रियो पर स्वामित्व रखते हुए, नीतिपूर्वक आचार करते हुए, ससार शरीर भोगो से वैराग्य भाव रखते हुए यकायक ऐसा समय आ जाता है कि सामायिक के समय परिणाम उतने निर्मल व आत्मप्रेमी हो जाते हैं कि अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व का उपशम होकर उपशम सम्यक्त का लाभ हो जाता है। अभ्यास करने वाले को णमोकार मन्त्र पर ध्यान रखना चाहिये।

णमो अरहताण – सात अक्षर
णमो सिद्धाण :– पाच अक्षर
णमो आइरियाण .– सात अक्षर   पैंतीस अक्षर
णमो उवज्झायाण :– सात अक्षर
णमो लोए सव्वसाहूण :– नव अक्षर

अर्थ – इस लोक मे सर्व अरहतो को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व सिद्धो को नमस्कार हो, इस लोक मे सर्व आचार्यों को नमस्कार हो, इस लोक मे सर्व उपाध्यायो को नमस्कार हो, इस लोक मे सर्व साधुओ को नमस्कार हो, महाव्रती साधुओ मे जो सघ के गुरु होते हैं उनको आचार्य कहते हैं। जो साधु शास्त्रो का पठन पाठन मुख्यता से कराते हैं उनको उपाध्याय कहते है। शेष साधु सज्ञा मे हैं।

१०८ दफे पैंतीस अक्षरो का णमोकार मन्त्र जपे या नीचे लिखे मन्त्र जपे।

"अर्हंत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम" .– सोलह अक्षरी।
अरहन्त सिद्ध :– छ. अक्षरी।
असिआउसा :– पाच अक्षरी।
अरहत -- चार अक्षरी।
सिद्ध, ओ ह्री, सोह '-- दो अक्षरी।
ॐ – एक अक्षरी।

जिस समय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है मानो सूर्य की किरण का प्रकाश होता है। सर्व अज्ञान व मिथ्यात्व का अन्धेरा व अन्याय चारित्र का

अभिप्राय भाग जाता है । सम्यग्दर्शन के होते ही रत्नत्रय प्रगट होते है । ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है व स्वरूपाचरण चारित्र अनन्तानुबन्धी कषाय के उपशम से प्रगट हो जाता है । सम्यक्त के प्रगट होते समय स्वानुभव दशा होती है, उसी समय अपूर्व अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ होता है । उस सहज सुख का बोध होते ही – भले प्रकार अनुभव होते ही इन्द्रिय सुख तुच्छ है यह प्रतीति दृढ होती है । सम्यक्त होते ही वह ससार की तरफ पीठ दे लेता है और मोक्ष की तरफ मुख कर लेता है ।

अब से सम्यक्ति की सर्व क्रियाए ऐसी होती है जो आत्मोन्नति मे बाधक न हो, वह अपने आत्मा को पूर्ण ब्रह्म, परमात्मा रूप वीतरागी ज्ञाता दृष्टा अनुभव करता है । सर्व मन, वचन, काय की क्रिया को कर्म पुद्‌गल जनित जानता है । यद्यपि वह व्यवहार मे यथा योग्य अपनी पदवी के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुपार्थों की सिद्धि करता है तथापि वह यह जानता है कि यह सब व्यवहार आत्मा का स्वभाव नही कर्म का नाटक है । मन, वचन, काय की गुप्ति न होने से स्वानुभाव मे सदा रमण न होने से करना पडता है । वह सम्यक्ति व्यवहार चारित्र को भी त्यागने योग्य मानता है । यद्यपि उसे मन को रोकने के लिये व्यवहार चारित्र की शरण लेनी पडती है तो भी वह उसे त्यागने योग्य ही समझता है । जैसे ऊपर जाने के लिए सीढी की जरूरत पडती है परन्तु चढने वाला सीढी से काम लेते हुए भी सीढी को त्यागने योग्य ही समझता है । जब पहुँच जाता है सीढी को त्याग देता है ।

सम्यक्ति अपने आत्मा को न बध मे देखता है न उसे मोक्ष होना है ऐसा जानता है । वह आत्मा को आत्म द्रव्य रूप शुद्ध सिद्धसम ही जानता है बध व मोक्ष की सर्व कल्पना मात्र व्यवहार है, कर्म की अपेक्षा से है । आत्मा का स्वभाव बध व मोक्ष के विकल्प से रहित है । निश्चय नय से आत्मा आत्मा-रूप ही है । आत्मा ही सम्यग्दर्शन रूप है । जब निश्चय नय से मनन होने में प्रमाद आता है तब साधक व्यवहार नय से सात तत्त्वो का मनन करता है या देव पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय तथा सामायिक का आरम्भ करता है । इन व्यवहार साधनो को करते हुए भी सम्यक्ति की दृष्टि निश्चय पर रहती है ।

जब निश्चय नय का आलम्बन लेता है, शुद्ध आत्मा का ही मनन करता है। जब मनन करते २ स्वानुभव मे पहुँच जाता है तब निश्चय तथा व्यवहार दोनो का पक्ष छूट जाता है।

सम्यक्ती सदा सुखी रहता है। उसको सहज सुख स्वाधीनता से जब चाहे तब मिल जाता है। सासारिक सुख व दुःख उसके मन को सम्यक्त से नही गिराते है। वह इनको धूप व छाया के समान क्षणभगुर जानकर इनमे ममत्व नही करता है। जीव मात्र के साथ मैत्री भाव रखता हुआ यह सम्यक्ती अपने कुटुम्ब की आत्माओ को भी आत्मा रूप जानकर उनका हित विचारता है। उनके साथ अधमोह नही रखता है, उनको आत्मोन्नति के मार्ग मे लगाता है, उनके शरीर की भली प्रकार रक्षा करता है। दुःखी के दुःख को शक्ति को न छिपाकर दूर करता है, वह करुणा भावना भाता रहता है। दूसरे प्राणियो के दुःखो को देखकर मानो मेरे ही ऊपर ये दुःख है ऐसा जानकर सकम्प हो जाता है और यथाशक्ति दुःखो के दूर करने का प्रयत्न करता है। गुणवानो को देखकर प्रसन्न होता है, उनकी उन्नति चाहता है व आगे उनके समान उन्नति करने की उत्कठा करता है। जिनके साथ अपनी सम्मति किसी तरह नही मिलती है उनके ऊपर द्वेष भाव नही रखता है, किन्तु माध्यस्थ भाव या उपेक्षा-भाव रखता है। जगत मात्र के प्राणियो का हितैषी सम्यक्ती होता है। लाभ मे हर्ष हानि मे शोक नही करता है।

गुणस्थान के अनुसार कषाय के उदय से कुछ हो जावे तो भी वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा बहुत ही अल्प होता है। सम्यक्ती सदा निराकुल रहना चाहता है। वह ऐसा कर्जा नही लेता है जिसे वह सुगमता से चुका न सके। पुत्रादि के विवाह में वह आमदनी को देखकर खर्च करता है। अनावश्यक खर्च को रोकता है। बहुधा सम्यक्ती जीव आमदनी के चार भाग करता है। एक भाग नित्य खर्च मे, एक भाग विशेष खर्च के लिए, एक भाग एकत्र रखने के लिए, एक भाग दान के लिए अलग करता है। यदि दान में चौथाई अलग न कर सके तो मध्यम श्रेणी मे छठा या आठवा भाग तथा जघन्य श्रेणी मे दशवाँ भाग तो निकालता ही है और उसे आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्रदान मे खर्च करता है।

सम्यक्ती विवेकी, विचारवान होता है, किसी पर अन्याय या जुल्म नही करता है। दूसरा कोई अन्याय करे तो उसको समझाता है, यदि वह नही मानता है तो उसको शिक्षा देकर ठीक करता है। विरोधी को युद्ध करके भी सीधे मार्ग पर लाता है। अविरत सम्यक्ती आरम्भी हिंसा का त्यागी नही होता है। यद्यपि सम्यक्ती सकल्पी हिंसा का भी नियम से त्यागी नही होता है तो भी वह दयावान होता हुआ वृथा एक तृण मात्र को भी कष्ट नही देता है।

सम्यक्ती के आठ अंग :— जैसे शरीर के आठ अग होते है -- मस्तक, पेट, पीठ, दो भुजा, दो टागे, एक कमर। यदि इनको अलग अलग कर दिया जावे तो शरीर नही रहता है। इसी तरह सम्यक्ती के आठ अग होते है। यदि ये न हो तो वह सम्यक्ती नही हो सकता है।

(१) **निःशंकित अंग** :-- जिन तत्वो की श्रद्धा करके सम्यक्ती हुआ है उन पर कभी शका नही लाता है। जो जानने योग्य बाते समझ मे नही आई है और जिनागम से जानी जाती हैं उन पर अश्रद्धान नही करता है तथापि वह ज्ञानी से समझने का उद्यम करता है तथा वह नीचे प्रकार कहे गये सात प्रकार के भयो को ऐसा नही करता है जिससे श्रद्धान विचलित हो जावे। चारित्र मोह के उदय से यदि कभी कोई भय होता है तो उसे वस्तु स्वरूप विचारकर आत्मबल को स्फूर्ति से दूर करता है।

(१) **इस लोक का भय** :— मैं यह धर्म कार्य करूगा तो लोग निंदा करेंगे, इसलिये नही करना ऐसा भय सम्यक्ती नही करेगा। वह शास्त्र को कानून मानकर जिससे लाभ हो उस काम को लोगो के भय के कारण छोड नही देगा।

(२) **परलोक का भय** :— यद्यपि सम्यक्ती दुर्गति जाने योग्य काम नही करता है तथापि वह अपने आत्मा के भीतर ऐसी दृढ श्रद्धा रखता है कि उसे यह भय नही होता है कि यदि नर्कादि मे गया तो बडा दुःख उठाऊगा। वह शारीरिक कष्ट से घबडाता नही व वैषयिक सुख का लोलुपी नही होता — अपने कर्मोदय पर सन्तोष रखता हुआ परलोक की चिन्ता से भयभीत नही होता है।

(३) **वेदना भय :--** वह रोगों के न होने का यत्न रखता है। मात्रा-पूर्वक खानपान, नियमित आहार, विहार, निद्रा के साधन करता है तथापि भयातुर नही होता है कि रोग आ जायेगा तो मैं क्या करूंगा। वह समझता है कि यदि असातावेदनीय के तीव्र उदय से रोग आ जायेगा तो कर्म की निर्जरा ही है ऐसा समझकर भय रहित रहता है, रोग होने पर यथार्थ इलाज करता है।

(४) **अनरक्षा भय :--** यदि सम्यक्ती अकेला हो व कही परदेश मे अकेला जावे तो वह यह भय नही करता है कि मेरी रक्षा यहा कैसे होगी, मैं कैसे अपने प्राणो को सम्हाल सकूंगा। वह अपने आत्मा के अमरत्व पर व उसके चिरसुरक्षित गुणरूपी सम्पत्ति पर ही अपना दृढ विश्वास रखता है। अतएव मेरा रक्षक नही है ऐसा भय न करके अरहतादि पाच परमेष्ठियो की शरण को ही वडी रक्षा समझता है।

(५) **अगुप्त भय** -- सम्यक्ती यह भय नही करता है कि यदि मेरा माल व असवाव चोरी चला जायेगा तो क्या होगा ? वह अपने माल की रक्षा का पूर्ण यत्न करके निश्चिन्त हो जाता है और अपने कर्म पर आगे का भाव छोड देता है। वह जानता है कि यदि तीव्र असातावेदनीय का उदय आ जावेगा तो लक्ष्मी को जाने मे देर न लगेगी, पुण्योदय से वनी रहेगी।

(६) **मरण भय** -- सम्यक्ती को मरने का भय नही होता है। वह मरण को कपडे वदलने के समान जानता है। आत्मा का कभी मरण नहीं होता है, मैं अजर अमर हूँ ऐसा दृढ विश्वास उसे मरण भय से दूर रखता है, वह जगत मे वीर योद्धा के समान वर्तन करता है।

(७) **अकस्मात् भय :--** वह अपनी शक्ति के अनुसार रहने व बैठने व आने जाने के साधनो को सम्हाल कर काम मे लेता है। यह भय नही रखता है कि अकस्मात् छत गिर जायेगी तो क्या होगा ? भूकम्प आ जायेगा तो क्या होगा ? इन भयो को नही करता है। प्रयत्न करते हुए भावी को कर्मोदय पर छोड देता है, अकस्मात् का विचार करके भयभीत नही होता है।

(२) **निःकांक्षित अंग :--** सम्यक्ती ससार के इन्द्रियजनित सुखो मे सुख-पने की श्रद्धा नही रखता है। वह ऐसे सुख को पराधीन, दुःख का मूल, आकुलतामय, तृष्णावर्द्धक व पापकर्मबन्धक जानता है।

(३) **निर्विचिकित्सित अंग** :– सम्यक्ती हरएक पदार्थ के स्वरूप को विचार किसी से ग्लानिभाव नही रखता है । दुःखी, दरिद्री, रोगी प्राणियो पर दयाभाव रखकर उनसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करके उनका क्लेश मेटता है । मलीन को देखकर व मल को देखकर ग्लानिभाव नही करता है । मलीन को स्वच्छ रहने का यथाशक्ति साधन कर देता है । मलीन पुद्गलो से स्वास्थ्यलाभ की अपेक्षा बचते हुए भी किसी रोगी के मलमूत्र कफ उठाने मे ग्लानि नही मानता है ।

(४) **अमूढ़दृष्टि अंग** – हरएक धर्म की क्रिया को विचार पूर्वक करता है । जो रत्नत्रय के साधक धर्म के कार्य है उन्ही को करता है । देखा-देखी मिथ्यात्ववर्द्धक व निरर्थक क्रियाओ को धर्म मानके नही पालता है । दूसरो की देखादेखी किसी भी अधर्मक्रिया को धर्म नही मानता है, मूढ बुद्धि को बिलकुल छोड देता है ।

(५) **उपगूहन अंग** :– सम्यक्ती दूसरे के गुणो को देखकर अपने गुणो को बढाता है । परके औगुणो को ग्रहणकर निन्दा नही करता है । धर्मात्माओ से कोई दोष हो जावे तो उसको जिस तरह बने उससे दूर कराता है । परन्तु धर्मात्माओ की निन्दा नही करता है ।

(६) **स्थितिकरण अंग** :– अपने आत्मा को सदा धर्म मे स्थिर करता रहता है तथा दूसरो को भी धर्म मार्ग मे सदा प्रेरणा करता रहता है ।

(७) **वात्सल्यांग** :– धर्म और धर्मात्माओ से गौवत्स के समान प्रेम भाव रखता हुआ सम्यक्ती उनके दुःखो को मेटने का यथाशक्ति उद्यम करता है ।

(८) **प्रभाव ांग** – धर्म की उन्नति करने का सदा ही प्रयत्न करना एक सम्यक्ती का मुख्य कर्तव्य होता है । जिस तरह हो अन्य प्राणी सत्य धर्म से प्रभावित होकर सत्य को धारण करे ऐसा उद्यम करता व कराता रहता है ।

सम्यक्ती मे इन आठ अगो का पालन सहज ही होता है । उसका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है ।

निश्चय नय से सम्यक्ती के आठ अग इस प्रकार है कि वह निज आत्मा मे निःशक व निर्भय होकर ठहरता है, निःशकित अग है । अतीन्द्रिय आनन्द मे मगन रहता है यही निःकाक्षित अग है । आत्म स्वरूप की मगनता मे साम्यभाव

का अवलवन करता है यही निर्विचिकित्सित अ ग है । आत्मा के स्वरूप में मूढता रहित है, यथार्थ आत्मबोध सहित है यही अमूढदृष्टि अग है । आत्मिक स्वभाव की स्थिरता मे लीन है, परभाव को ग्रहण नही करता है यही उपगूहन अग है । आत्मा मे आत्मा के द्वारा स्थिर है यही स्थितिकरण अग है । आत्मानद मे भ्रमरवत् आसक्त है यही वात्सल्य अग है । आत्मिक प्रभाव के विकास मे दत्तचित्त है यही प्रभावना अग है ।

सम्यक्ती के भीतर से आठ लक्षण और भी प्रगट होते है । इन आठ चिन्हो से भी सम्यक्ती जाना जाता है :–

(१) संवेग :– ससार, शरीर भोगो से वैराग्य सहित आत्मिक धर्म व उसके साधनो से सम्यक्ती को बहुत प्रेम होता है वह धर्म के प्रेम मे रगा होता है ।

(२) निर्वेद – ससार असार है, शरीर अपवित्र है, भोग अतृप्तिकारी व विनाशीक है ऐसी भावना सम्यक्ती मे जागृत रहती है ।

(३) निन्दा :– (४) गर्हा – सम्यक्ती अपने मुख से अपनी प्रशसा नही करता है, वह जानता है कि यद्यपि मेरा आत्मा सिद्धसम शुद्ध है तथापि अभी कर्म मल से अशुद्ध हो रहा है । जब तक पूर्ण शुद्ध न हो तब तक मैं निन्दा के योग्य हूँ, ऐसा जानकर अपने मनमे भी अपनी निन्दा करता रहता है तथा दूसरो के सामने भी अपनी निन्दा करता रहता है । यदि कोई उसके धर्माचरण की प्रशसा करे तो वह अपनी कमी को सामने रख देता है । जो कुछ व्यवहार धर्म साधन करता है उसमे अहकार नही करता है ।

(५) उपशम :– सम्यक्ती की आत्मा मे परम शात भाव रहता है, वह भीतर से शीतल रहता है, किसी पर द्वेष नही रखता है । यदि कारणवश कभी क्रोध आता भी है तो भी उसका हेतु अच्छा है और क्रोध को भी शीघ्र दूर कर शात हो जाता है ।

(६) भक्ति :– सम्यक्ती देव, शास्त्र, गुरु का परम भक्त होता है, बडी भक्ति से पूजन पाठ करता है, शास्त्र पढता है, गुरु भक्ति करता है, धर्मात्माओ की यथायोग्य विनय करता है ।

(७) वात्सल्य :- धर्म और धर्मात्माओं मे गौवत्स समान प्रेम रखता है। धर्म के ऊपर व धर्मात्मा के ऊपर कोई आपत्ति आवे तो उसे दूर करने का मन, वचन, काय से व धन से व अधिकार बल से जिस तरह हो प्रयत्न करता है।

(८) अनुकम्पा :- सम्यक्ती बडा ही दयालु होता है। दूसरे प्राणियो पर जो दु.ख पडता है उसे अपना ही दु.ख समझता हे उसको दूर करना कराना अपना धर्म समझता है।

ऐसा सम्यक्ती जीव अपने वर्ताव से जगत भर का प्यारा हो जाता है व सतोपी रहता है। अन्याय से धन कमाना पाप समझता है न्याय पूर्वक जो प्राप्त करता है उसी मे अपना व अपने सम्वन्धियो का निर्वाह करता है, वह कर्ज लेने से बचता है। कर्जदार ऐसा आकुलित रहता है कि वह धर्म कर्म मे वर्तन नही कर सकता है। आमदनी के भीतर २ खर्च करने वाला सदा सुखी रहता है। अविरत सम्यक्तो भी चौथे गुणस्थान मे ऐसे कर्मो का वध नही करता है, जिससे नर्क जा सके व एकेन्द्रियादि तिर्यंच हो सके। देव हो तो उत्तम मनुष्य होने का व मनुष्य हो तो स्वर्गवासी उत्तम देव होने का ही कर्म बांधता है।

आठ कर्म की १४८ प्रकृतियां :- आठ कर्मो के १४८ भेद निम्न प्रकार है :-

ज्ञानावरण के पांच भेद - मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मन पर्ययज्ञानावरण, केवलज्ञानावरण ये पाचो ज्ञानो को क्रम से ढकती हैं।

दर्शनावरण के नौ भेद :- चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रा निद्रा, प्रचला (ऊघना), प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, (नीद मे वीर्य प्रगट होकर स्वप्न मे काम कर लेना)।

वेदनीय के दो भेद :- साता वेदनीय, असाता वेदनीय।

मोहनीय के २८ भेद - दर्शन मोहनीय के तीन भेद व चारित्र मोहनीय के २५ भेद पहले कह चुके है।

आयु के ४ भेद :– नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ।

नाम के ९३ भेद :– गति ४, एकेन्द्रिय आदि ५ जाति, औदारिक वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर ५, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, अगोपाग ३, औदारिकादि वधन ५, औदादिकादि सघात ५, निर्माण (कहा पर व कैसे अगोपाग रचे जावे), सस्थान ६ (समचतुरस्र, सुडौल शरीर, न्यग्रोध परिमडल – ऊपर वडा, नीचे छोटा, स्वाति – ऊपर छोटा, नीचे वडा, वामन वौना, कुब्ज – कुवडा, हु डक -- वेडोल), सहनन ६ (वज्रऋषभ नाराच – वज्र के समान दृढ हड्डी, नसे व कीले हो, वज्र नाराच स -- वज्र के समान हड्डी व कीले हो, नाराच हड्डी के दोनो ओर कीले हो, अर्द्धनाराच एक तरफ कीले हो, कीलित -- हड्डी से हड्डी कीलित हो, असप्राप्तासृपाटिका – मेरु से हड्डी मिली हो । स्पर्श ८, रस ५, गध २, वर्ण ५, आनुपूर्वी ४ (चार गति अपेक्षा - आगे की गति मे जाते हुए पूर्व शरीर के प्रमाण आत्मा का आकार रहे) अगुरु लघु (न शरीर वहुत भारी, न वहुत हल्का), उपघात -- अपने अग से अपना घात), परघात -- अपने से पर का घात), आताप -- (पर को आताप-कारी शरीर), उद्योत -- (पर को प्रकाशकारी), उच्छ्वास, विहायोगति २ (आकाश मे गमन शुभ व अशुभ), प्रत्येक – (एक शरीर का एक स्वामी), साधारण -- (एक शरीर के अनेक स्वामी), त्रस –(द्वेन्द्रियादि) स्थावर, सुभग– (पर को सुहावना शरीर), दुर्भग – (असुहावना), सुस्वर, दुस्वर, शुभ (सुन्दर), अशुभ, सूक्ष्म (पर से वाधा न पावे), वादर, पर्याप्ति (पर्याप्ति पूर्ण करे), अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, आदेय (प्रभाववान), अनादेय, यश कीर्ति, अयश - कीर्ति, तीर्थंकर ।

गोत्रकर्म २ भेद :-- उच्च गोत्र (लोकपूजित), नीच गोत्र ।

अन्तराय ५ भेद :-- दानानराय, लाभातराय, भोगा०, उपभोगा०, वीर्यांतराय ।

इनमे से वध मे १२० गिनी गई है । ५ वंधन, ५ सघात शरीर पाच मे गर्भित है । स्पर्शादि २० की ४ गिनी गई है तथा सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति का वध नही होता है इस तरह २८ घट गई ।

१ मिथ्यात्व गुणस्थान में – १२० मे से ११७ का बध होगा, तीर्थंकर व आहारक व आहारक अ गोपाग का बध नही होता।

२ सासादन में – १०१ का बध होता है, १६ का नही होता। मिथ्यात्व, नपु सकवेद, नरकायु, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, हुडक सस्थान, अस सहनन, एकेन्द्रियादि चार जाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण।

३ मिश्र में – १०१ मे २७ कम ७४ का ही बध होता है।

निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनतानुबधी कषाय चार, स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यचगति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, नीच गोत्र, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोध से वामन चार सस्थान, वज्रनाराच से कीलक सहनन चार, मनुष्यायु, देवायु।

४ अविरत सम्यक्त में – ७४ मे मनुष्यायु, देवायु, तीर्थंकर मिलाकर ७७ का बध होता है। ४३ प्रकृति का बध नही होता है।

इससे सिद्ध है कि सम्यक्त होने पर सिवाय देव व उत्तम मनुष्य के और नही होता है। यदि पहले नर्क, तिर्यंच व मानव आयु बाध ली हो तो उस सम्यक्ती तिर्यंच या मानव को इन तीन गतियो मे जाना पडता है।

चौथे से आगे के सब गुणस्थानो मे सम्यक्त रहता है।

५ देशविरत में :– ७७ मे १० कम ६७ का बध होता है।

अप्रत्याख्यान कषाय चार, मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या०, औदारिक शरीर, औदारिक अगोपांग, वज्रवृषभनाराच स०।

६ प्रमत्तविरत में :– ६७ मे ४ कम ६३ का बध होता है, चार प्रत्याख्यानावरण कषाय घट जाते हैं।

७ अप्रमत्तविरत में – ६३ मे ६ घटकर व दो मिलाकर ५६ का बन्ध होता है, अरति, शोक, असातावेदनीय, अस्थिर, अशुभ, अयश घटती है व आहारक शरीर, आहारक अगोपाग मिल जाती है।

८ अपूर्वकरण में – ५६ मे देवायु घटाकर ५८ का बध होता है।

९ अनिवृत्तिकरण में :– ५८ मे से ३६ घटाकर २२ का बध होता है। निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति,

पचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्माण शरीर २, आहारक २, वैक्रियिक २, समचतुरस्रसस्थान, देवगति, देवगत्या०, स्पर्शादि ४, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय=३६ ।

१० सूक्ष्मसांपराय मे – २२ मे से ५ निकालकर १७ का बध होता है । सज्वलन क्रोधादि चार व पुरुपवेद नही बँधते है ।

११ उपशांत मोह में – १७ मे से १६ कम करके १ सातावेदनीय का बध होता है । ज्ञानावरण ५,+दर्शनावरण ८,+अतराय ५,+उच्च गोत्र,+यश =१६ ।

आगे दो गुणस्थानो मे भी सातावेदनीय का बध होता है ।

इस ऊपर के कथन से सिद्ध है कि सम्यक्ती जैसे जैसे गुणस्थानो मे बढता जाता है वैसे वैसे कम कर्मो का वन्ध करता है । मद कषाय मे बन्ध योग्य कर्मो मे स्थिति थोडी पडती है व पुण्य का अधिक बध होकर उनमे अनुभाग अधिक पडता है ।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है । सम्यक्ती सदा सतोपी रहता है । एक चाडाल भी सम्यक्त के प्रभाव से मरकर स्वर्ग मे उत्तम देव होता है । नारकी भी सम्यक्त के प्रभाव से उत्तम मानव होता है । सम्यक्ती यहा भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहता है । वह तो मोक्ष के परमोत्तम महल का अनुयायी हो गया है । मार्ग मे यदि विश्राम करेगा तो उत्तम देव या उत्तम मनुष्य ही होगा । उभय लोक मे सुखदाई इस सम्यक्त का लाभ करना जरूरी है । जो पुरुषार्थ करगे वे कभी न कभी प्राप्त करेगे । सम्यक्त का पुरुषार्थ सदा ही कल्याणकारी है ।

सम्यग्दर्शन और उसके महात्म्य के सम्बन्ध में जैनाचार्य क्या क्या मनोहर वाक्य कहते है उनका कथन नीचे प्रकार है -- पाठकगण आनन्द लेकर तृप्ति प्राप्त करे ।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते है --

जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता ।

भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसजुत्तो ॥२७॥

भावार्थ :— यह जीव जीने वाला है, चेतनेवाला या अनुभव करनेवाला है, ज्ञान दर्शन उपयोगधारी है, स्वय समर्थ है, कर्त्ता है, भोक्ता है, शरीर मात्र आकारधारी है, अमूर्तिक है, ससार अवस्था मे कर्म सहित है ।

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगता ।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

भावार्थ — जब यह जीव कर्ममल से छूट जाता है तब लोक के अन्त मे जाकर विराजमान हो जाता है । सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होते हुए वे सिद्ध भगवान अनत अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करते है ।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वति ॥१५॥

भावार्थ :— सत् पदार्थ का कभी नाश नही होता है तथा असत् पदार्थ का कभी जन्म नही होता है । हरएक पदार्थ अपने गुणो की अवस्थाओ मे उत्पाद तथा व्यय करते रहते है अर्थात् हरएक द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है ।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहमेहिं वादरेहिं य णंताणतेहिं विविहेहिं ॥६४॥

भावार्थ :— यह लोक सर्व तरफ नाना प्रकार अनतानत सूक्ष्म तथा बादर पुद्गल कार्यों से खूब गाढ रूप से भरा है । इसमे सर्व जगह सूक्ष्म तथा बादर स्कध पाए जाते हैं ।

अत्ताकुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥

भावार्थ :— आत्मा के अपने ही रागादि परिणाम होते है उनका निमित्त पाकर कर्म पुद्गल अपने स्वभाव से ही आकर कर्मरूप होकर आत्मा के प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप होकर ठहर जाते हैं । जीव उनको बाधता नही है, जीव के रागादि भाव भी पूर्वबद्ध कर्म के उदय से ही होते है ।

उदयं जह मच्छाणं गमणाणुग्गहयरं हवदि लोए ।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥

भावार्थ :— जैसे इस लोक मे पानी मछलियो के गमनागमन मे उपकारी है वैसे जीव पुद्गलो के गमनागमन मे धर्मद्रव्य सहकारी है ।

जह हवदि धम्मदव्वं तह त जाणेह दव्वमधमक्खं ।

ठिदिकिरियाजुत्ताण कारणभूद तु पुढवीव ॥८६॥

भावार्थ – धर्म द्रव्य के समान अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलो के ठहरने मे सहकारी है जैसे पृथ्वी प्राणियो के ठहरने मे सहकारी है ।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाणं च ।

ज देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयास ॥६०॥

भावार्थ :– जो सर्व जीवो को, पुद्गलो को व शेष धर्म व अधर्म व काल को स्थान देता है वह आकाश है । जहा आकाश खाली है वह अलोकाकाश है, शेष लोकाकाश है ।

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो ।

उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहतरट्ठाई ॥१०१॥

भावार्थ – सत्तारूप निश्चय काल द्रव्य नित्य है जो सर्व द्रव्यो के परिवर्तन मे सहकारी है । दूसरा व्यवहार काल समरूप है जो उत्पन्न व नाश होता है । बहुत समयो की अपेक्षा व्यवहार काल दीर्घ स्थायी होता है ।

एदे कालगासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा ।

लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्त ॥१०२॥

भावार्थ – काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव ये छ द्रव्य हैं । उनमे से काल द्रव्य को छोडकर पाच को अस्तिकाय कहते हैं ।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं ।

जस्स ण विज्जदि णिच्च त समणा विंति अज्जीवं ॥१२५॥

भावार्थ – जिसमे सदा ही सुख व दु ख का ज्ञान, हित मे प्रवृत्ति व अहित से भय नही पाया जाता है उसी को मुनियो ने अजीव कहा है ।

रागो जस्स पसत्थो अणुकपासंसिदो य परिणामो ।

चित्ते णत्थि कलुस्स पुण्ण जीवस्स आसवदि ॥१३५॥

भावार्थ – जिसके शुभ राग है, दया सहित परिणाम है, चित्त मे मलीनता नही है, प्रसन्नता है उसके पुण्य कर्म का आश्रव होता है ।

अरहतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।

अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ॥१३६॥

भावार्थ :– प्रशस्त या शुभराग उसको कहते है जहा अरहत, सिद्ध व साधु की भक्ति हो, धर्म साधन का उद्यम हो व गुरुओ की आज्ञानुसार वर्तन हो ।

तिसिदं बुभुक्खिवं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दहिवमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ।।१३७।।

भावार्थ – जो प्यासे को, भूखे को, दु खी को देखकर स्वय दु खी मन होकर दयाभाव से उसकी सेवा करता है उसी के अनुकम्पा कही गई है ।

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जीवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेंति ।।१३८।।

भावार्थ .– जब क्रोध या मान या लोभ चित्त मे आकर जीव के भीतर क्षोभ या मलीनता पैदा कर देते है उस भाव को ज्ञानियो ने कलुषभाव कहा है ।

चरिया पमादबहुला कालुस्स लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ।।१३९।।

भावार्थ :– प्रमाद पूर्ण वर्तन, कलुपता, पाच इन्द्रियो के विषयो मे लोलुपता, दूसरो को दु खी करना व दूसरो की निन्दा करनी ये सब पाप के आश्रव के कारण है ।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होति ।।१४०।।

भावार्थ – आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार सज्ञाये कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या के भाव, इन्द्रियो के वश मे रहना, आर्त तथा रौद्र ध्यान, कुमार्ग मे लगाया हुआ ज्ञान, ससार से मोह ये सब भाव पाप को बाधने वाले हैं ।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुह समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।।१४२।।

भावार्थ – जो साधु दु ख व सुख पडने पर समभाव के धारी है व सर्व जग के पदार्थों मे जो राग द्वेष, मोह नही करते है उस साधु के शुभ व अशुभ कर्म नही आते है ।

जो सवरेण जुत्तो अप्पटठ्पसाधगो हि अप्पाण ।
मुणिऊण झादि णियदं णाण सो संधुणोदि कम्मरय ।।१४५।।

भावार्थ – जो मन, वचन, काय को रोक करके आत्मा के प्रयोजन रूप सिद्धिभाव को साधने वाला आत्मा को जानकर नित्य आत्मज्ञान को ध्याता है वही कर्मरज को दूर करता है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

भावार्थ :– जिसके भावो मे राग, द्वेष, मोह नही है न मन, वचन, काय की क्रियाए है उसी के शुभ व अशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यानमयी अग्नि पैदा होती हैं।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो वंधो भावो रविरागदोसमोहजुदो ॥१४८॥

भावार्थ :– योग के निमित्त से कर्म वर्गणाओ का ग्रहण होता है, वह योग मन वचन काय के द्वारा होता है। अशुद्ध भाव के निमित्त से कर्म का बध होता है। वह भाव रति, राग, द्वेष, मोह सहित होता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥१५३॥

भावार्थ :– जो कर्मों के आने को रोककर सवर सहित होकर सर्व कर्मों का क्षय कर देता है वह वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र से रहित होकर ससार को त्याग देता है। यही मोक्ष का स्वरूप है। मोक्ष प्राप्त आत्मा के कोई शरीर नही रहता है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते है :–

भूवत्थेणाभिगदा जीवा जीवा व पुण्णपावं च ।
आसव संवर णिज्जर बंध मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

भावार्थ :– जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बध व मोक्ष इन नौ पदार्थों को जब निश्चय नय से जान लेता है तब सम्यक्त होता है अर्थात् निश्चय नय से जीव और अजीव इन दो तत्त्वो से ये नौ पदार्थ बने है। उनमे अजीव से ममत्व त्याग कर एक अपने शुद्ध जीव को ग्रहण करने योग्य मानना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥७३॥

भावार्थ :– मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से कहे गये है । मोहनीय कर्म जड अचेतन है तब ये गुणस्थान जीव के स्वभाव कैसे हो सकते है ? निश्चय से ये जीव से भिन्न सदा ही अचेतन जड कहे गये है, इनमे कर्मों का ही विकार है । ये जीव के स्वभाव नही है । यदि स्वभाव होते तो सिद्धो मे भी पाये जाते ।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्सय तहेव परिणामं ।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

भावार्थ :– निश्चय से यह आत्मा आठ कर्मो की अवस्था का तथा शरीरादि का अवस्था का कर्त्ता नही है । आत्मा तो ज्ञानी है । वह तो मात्र जानता ही है । पर का कर्त्तापना आत्मा का स्वभाव नही है ।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८६॥

भावार्थ :– जीवो के रागादि भावो का निमित्त पाकर कर्मवर्गणा रूप पुद्‌गल स्वय ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन कर जाते हैं । इसी तरह पूर्वबद्ध पुद्‌गल कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव भी रागादि भावो मे परिणमन करता है । गह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय से है ।

णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८७॥

भावार्थ — न तो जीव पुद्‌गल कर्म के गुणो को करता है, न पुद्‌गल कर्म जीव के गुणो को करता है, परस्पर एक दूसरे के निमित्त से ही दोनो मे परिणमन होता है ।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकदाण ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥

भावार्थ :– इस कारण से ही यह आत्मा अपने ही भावो का कर्ता है, पुद्‌गलकर्म कृत सर्व भावो का कभी भी कर्ता नही है ।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि ।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८९॥

भावार्थ – निश्चयनय से आत्मा अपने ही परिणामो का कर्ता है और अपने ही आत्मस्वरूप को भोगता है।

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं।
त चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥६०॥

भावार्थ – व्यवहारनय का यह अभिप्राय है कि यह आत्मा अनेक प्रकार पुद्गलकर्मों का कर्ता है वैसे ही अनेक प्रकार पुद्गल कर्मो को भोगता है।

जीवो ण करेदि घड णेव पड णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेंसि हवदि कत्ता ॥१०७॥

भावार्थ :– न तो जीव घट को बनाता है न पट को बनाता है न और द्रव्यो को बनाता है। जीव के योग और (अशुद्ध) उपयोग ही घटादि के उत्पन्न करने मे निमित्त हैं। अशुद्ध निश्चयनम से उन योग व उपयोग का जीव कर्ता कहलाता है।

उवभोजमिंदियेहिय दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥२०२॥

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि आत्मा जो पाचो इन्द्रियो के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्यो का उपभोग करता है सो सर्व कर्मों की निर्जरा के निमित्त होता है। सम्यग्दृष्टि अतरग मे किसी पदार्थ से आसक्त नही है, इसलिये उसके कर्म फल देकर झड जाते है। वह ससार कारणीभूत कर्मबध नही करता है। राग-भाव के अनुसार कुछ कर्म बँधता है सो भी छूटने वाला है।

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण दु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२०७॥

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि समझता है कि मोहनीय नाम का पुद्गलकर्म क्रोध है, उसी का विपाक या रस मेरे भावो के साथ झलकने वाला यह क्रोध है सो यह मेरा स्वभाव नही है। यह तो पुद्गल का ही स्वभाव है, मैं तो मात्र इसका ज्ञाता एक आत्मा द्रव्य क्रोध से निराला हू।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२१०॥

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि नाना प्रकार कर्मों का विपाक या फल जिसे जिनेन्द्रो ने वताया है मेरे आत्मा का स्वभाव नही है । मै तो एक अकेला मात्र ज्ञाता हूँ, जानने वाला ही हूँ ।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलय ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥२१८॥

भावार्थ :– ज्ञानी के यह भेद भावना होती है कि यह शरीर छिदजावे, भिदजावे, अथवा कोई कही ले जावे अथवा चाहे जहा चला जावे तथापि यह शरीर व तत्सम्वन्धी परिग्रह मेरा नही है । मैं तो अकेला ज्ञाता दृष्टा पदार्थ हू ।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणय ॥२२६॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ॥२३०॥

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा कर्मो के मध्य पडा हुआ भी सर्व परद्रव्यो से रागभाव को त्याग करता हुआ इसी तरह कर्मरूपी रज से लिप्त नही होता है, जिस तरह कीचड मे पडा हुआ सोना नही बिगडता है । परन्तु अज्ञानी जीव कर्मों के मध्य पडा हुआ सर्व परद्रव्यो मे रागभाव करता हुआ कर्मरूपी रज से लिप्त हो जाता है । जैसे लोहा कीचड मे पड़ा हुआ विगड जाता है । सम्यग्दृष्टि ऐसा भीतर से वैरागी होता है कि कर्म का फल भोगते हुए भी कर्म की निर्जरा कर देता है तथा वध या तो होता नही यदि कपाय के अनुसार कुछ होता भी है तो वह विगाड करने वाला ससार मे भ्रमण कराने वाला नही होता है । सम्यक्त की अपूर्व महिमा है ।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्सका ॥२४३॥

सम्यग्दृष्टि जीव शका रहित होते है । वे निर्भय होते है । वे सात प्रकार के भय से रहित होते है । उनको आत्मा मे दृढ विश्वास होता है । उनके मरण का व रोगादि का भय नही होता हे ।

एवं सम्मादिट्ठी वट्टतो वहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागादि णेव वज्झदि रयेण ॥२६१॥

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि कार्यवश से नानाप्रकार मन वचन काय के योगो द्वारा वर्तता है तो भी उपयोग मे रागादि भावो को नही करता हुआ कर्मरूपी रज से नही बँधता है। जैसे मिथ्यादृष्टि बँधता है। वीतरागी सम्यक्ती अबन्ध रहता है अथवा सराग सम्यक्ती के जितना राग होता है उतना अल्पबध होता है जो बाधक नही है।

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसाय भावं वा।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥३०२॥

भावार्थ – सम्यक्ती ज्ञानी जो स्वय ही अपने मे विशेप कर्मों के उदय से रागद्वेष, मोह व कषाय भाव नही पैदा करता है इसलिए आत्मा इन रागादि भावो का निश्चय से कर्त्ता नही है।

बंधाणं च सहावं वियाणिवुं अप्पणो सहावं च।
बंधे सु जो ण रज्जदि सो कम्म विमुक्खणं कुणदि ॥३१५॥

भावार्थ – कर्मबन्धो का स्वभाव तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव जानकर के जो कर्मबंधो मे रजायमान नही होता है, कर्मों से विरक्त हो जाता है वही ज्ञानी कर्मों से अवश्य मुक्ति पा लेता है।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ वहु पयाराइ।
जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३४०॥

भावार्थ :– ज्ञानी न तो नाना प्रकार कर्मों का कर्त्ता है, न भोक्ता है, वह कर्म के करने व भोगने से उदासीन रहता हुआ कर्मो के फल पुण्य व पाप को व उनके वध को मात्र जानता है। कर्मोदय से जो कुछ होता है उसका ज्ञाता दृष्टा रहना ज्ञानी का कर्त्तव्य है, वह कर्म के नाटक मे लीन नही होता है।

वेदंतो कम्मफलं अप्पाण जो कुणदि कम्मफलं।
सो तं पुणोवि बधदि बीयं दुक्खस्स अट्ठविह ॥४०६॥

भावार्थ :– कर्मों के फल को भोगते हुए जो उस कर्म फल को अपना कर लेता है। अर्थात् उनमे तन्मय होकर फस जाता है। वह फिर आठ प्रकार के कर्मो को बाधता है, जो दु खो का बीज है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते हैं :–

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते सखवइदव्वा ॥६११॥

भावार्थ :— जो जीव मोह से, राग से या द्वेप से परिणमन करता है उसको नाना प्रकार कर्म का वध होता है। इसलिए इन रागादि का क्षय करना योग्य है।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेस।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण ॥६५१॥

भावार्थ — जो जिनेन्द्र के उपदेश को पाकर राग द्वेष, मोह को नाश कर देता है वह शीघ्र ही सर्व ससार के दु खो से हटकर मुक्त हो जाता है।

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादो।
सिद्धं तध आगमदो, णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥७-२॥

भावार्थ :— द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है। सत्‌रूप है ऐसा जिनेन्द्र ने तत्त्व-रूप से कहा है, आगम से भी यही सिद्ध है ऐसा जो नही मानता है वह नियम से मिथ्यादृष्टि है।

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहि।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदय ॥११-२॥

:भावार्थ :— हरएक द्रव्य एक ही समय मे उत्पाद व्यय ध्रौव्य भावो से एकमेक है। इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तीन प्रकार है।

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो।
दव्वस्स तंपि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ॥१२-२॥

भावार्थ :— किसी भी द्रव्य की जब कोई पर्याय या अवस्था पैदा होती है तब ही दूसरी पूर्व की अवस्था नाश हो जाती है तो भी मूल द्रव्य न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है। पर्याय की अपेक्षा द्रव्य उत्पाद व्ययरूप है द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव है।

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्त।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्म तु परिणामो ॥३०-२॥

भावार्थ :— यह आत्मा अनादिकाल से कर्मों से मलीन चला आया है इसलिये राग द्वेष मोहरूप सयोग मय भाव को धारण करता है तब इन रागादि

भावो के निमित्त से पुद्गल कर्म स्वय बँध जाता है। इसलिए रागादि भाव ही भाव कर्म है या कर्मबधकारक भाव है।

भावा कम्ममलिमसो धारवि पाणो पुणो पुणो अण्णो।
ण जहदि जाव ममत्त देहपधाणेसु विसएसु ॥६१-२॥

भावार्थ — यह कर्मों से मलीन आत्मा जब तक शरीरादि इन्द्रियो के विषयो मे ममत्व भाव को नही छोडता है, तब तक बार बार अन्य अन्य प्राणो को धारता रहता है। अर्थात् एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी होता रहता है।

जो इन्दियाविविजई भवोय उवओगमप्पगं झादि।
कम्मेहिं सो ण रजदि किह त पाणा अणुचरति ॥६२-२॥

भावार्थ — परन्तु जो कोई इन्द्रिय विषय व कषायो का विजयी होकर अपने शुद्ध चैतन्यमय शुद्धोपयोग का ध्यान करता है और सर्व ही शुभ व अशुभ कर्मों मे राग नही करता है उसको ये इन्द्रियादि दश प्राण किस तरह सम्बन्ध कर सकते है ? अर्थात् वह जन्ममरण से छूट ही जायेगा।

रत्तो बन्धवि कम्म मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥६०-२॥

भावार्थ :— रागी जीव कर्मों को बाधता है, वीतरागी कर्मो से छूट जाता है, ऐसा बध तत्त्व का सक्षेप जीवो के लिए निश्चय से जानना चाहिये।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि।
अविजाणतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ॥५३-३॥

भावार्थ — जो साधु आगम ज्ञान से रहित है, न अपने आत्मा का सर्व कर्मों से रहित शुद्ध जानता है और न पर पदार्थों को ही जानता है वह पदार्थो के भेद ज्ञान को न पाता हुआ किस तरह कर्मों का क्षय कर सकता है ? शास्त्र ज्ञान के द्वारा स्व पर पदार्थ का बोध होता है। इसलिए मुमुक्षु को शास्त्र का मनन सदा कर्त्तव्य है।

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु।
सद्दहमाणो अत्थे असजदो वा ण णिव्वादि ॥५७-३॥

भावार्थ — जिसकी श्रद्धा जीवाजीवादि पदार्थों मे नही है, वह मात्र शास्त्रो के ज्ञान से सिद्धि नहीं पा सकता। तथा जो पदार्थों की श्रद्धा रखता है,

परन्तु सयम को धारण नही करता है वह भी निर्वाण को नही पा सकता, शास्त्र ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन सहित हो और तब सम्यक् चारित्र को पाले वही मुक्त होता है ।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा वेहावियेसु जस्स पुणो ।
विज्जवि जवि सो सिद्धिणलहवि सव्वागमधरोवि ।।५९-३।।

भावार्थ :– जिसकी शरीरादि पर द्रव्यो मे परमाणु मात्र भी जरा सी भी मूर्छा विद्यमान है वह सर्व आगम का ज्ञाता है तो भी मोक्ष नही पा सकता है ।

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ।।८५-३।।

भावार्थ :– जो कोई साधु सयमी हो, तपस्वी हो तथा सूत्रो का ज्ञाता हो परन्तु आत्मा पदार्थो मे जिसकी यथार्थ श्रद्धा नही है वह वास्तव मे साधु नही है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है –

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति ।
पणपणचउतियभेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ।।४७।।

भावार्थ :– मिथ्यात्व भाव एकात आदि पाच प्रकार, अविरत भाव हिंसादि पाच प्रकार, कषाय भाव क्रोधादि, चार प्रकार, योग मन, वचन, काय तीन प्रकार ये सब कर्मों के आश्रव के द्वार है, ऐसा आगम मे भली प्रकार कहा गया है ।

किण्हादितिण्णि लेस्साकरणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो ।
ईसाविसादभावो असुहमणंत्ति य जिणा वेंति ।।५१।।

भावार्थ :– कर्मों के अनेक कारण अशुभ व शुभ मन, वचन, काय है सो यहा कहते है । कृष्ण, नील, कपोत तीन लेश्या के परिणाम, इन्द्रियो के सुख मे लम्पटता, ईर्ष्या भाव, अशुभ मन के भाव है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

रागो दोसो मोहो हास्सादी - णोकसायपरिणामो ।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणोत्ति य जिणा वेंति ।।५२।।

भावार्थ :– राग द्वेष, मोह, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुवेद, नपुसक वेद सम्बन्धी परिणाम चाहे तीव्र हो या मन्द हो अशुभ मन के भाव है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं ।

भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयण वियाण असुहमिदि ।
बधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥५३॥

भावार्थ – भोजन, स्त्री, राजा व चोर इन विकथाओ को कहना अशुभ वचन जानो, बाधना, छेदना, मारना आदि कष्टप्रद काम करना अशुभ काय की क्रियाए हैं ।

मोत्तूण असुहभावं पुव्वुत्तं णिरवसेसदो दव्वं ।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणामं सुहमणं जाणे ॥५४॥

भावार्थ :– पहले कहे हुए सर्व अशुभ भावो को व द्रव्यो को छोडकर जो परिणाम अहिंसादि व्रत, ईर्या आदि समिति, शील, सयम में अनुरक्त हैं उनको शुभ मन जानो ।

संसारछेदकारणवयणं सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठं ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायंत्ति य हवे चेट्ठा ॥५५॥

भावार्थ :– जिन वचनो से ससार के छेद का साधन बताया जावे वे शुभ वचन हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है । श्री जिनेन्द्र देव की पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, सामायिक, सयम तथा दान आदि मे चेष्टा व उद्यम सो शुभ कार्य है ।

सुहजोगेसु पवित्ती सवरणं कुणदि असुहजोगस्स ।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धवजोगेण संभवदि ॥६३॥

भावार्थ :– शुभ मन, वचन, काय के योगो मे प्रवृत्ति करने से अशुभ योगो के द्वारा आस्रव रुक जाता है तथा जब शुद्धोपयोग मे वर्ता जाता है तब शुभ योगो का भी निरोध हो जाता है – पूर्ण सवर होता है ।

सुद्धवजोगेण पुणो धम्मं सुक्कं च होदि जीवस्स ।
तम्हा संवरहेदू झाणोत्ति विचिंतये णिच्चं ॥६४॥

भावार्थ :– शुद्धोपयोग से ही इस जीव के धर्मध्यान व शुक्लध्यान होता है । इसलिये कर्मों के रोकने का कारण ध्यान है ऐसा नित्य विचारना चाहिये ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन पाहुड़ मे कहते हैं –

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्य णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥

भावार्थ :– जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वे ही भ्रष्ट है । क्योकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को कभी निर्वाण का लाभ नही हो सकता है । जो चारित्र से भ्रष्ट है परन्तु सम्यक्त से भ्रष्ट नही हैं वे फिर ठीक चारित्र पालकर सिद्ध हो सकेंगे परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वे कभी भी सिद्धि न प्राप्त करेंगे ।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा ।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥१६॥

भावार्थ – जो जीवादि छः द्रव्य, पाच अस्तिकाय, जीव तत्त्व आदि सात तत्त्व व पुण्य पाप सहित नव पदार्थ इन सब का यथार्थ स्वरूप श्रद्धान मे लाता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना योग्य है ।

जीवादी सद्दहणं सम्मत्त जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं ॥२०॥

भावार्थ :– व्यवहारनय से जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परन्तु निश्चयनय से अपना आत्मा ही सम्यग्दर्शनरूप है या शुद्धात्मा ही मैं हूँ ऐसा श्रद्धान सम्यक्त है । यह बात जिनेन्द्रो ने कही है ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड में कहते है :–

परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सग्गई होई ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥१६॥

भावार्थ – पर द्रव्य मे रति करने से दुर्गति होती है । किन्तु स्वद्रव्य मे रति करने से सुगति होती है ऐसा जानकर पर द्रव्य से विरक्त होकर स्व-द्रव्य मे प्रेम करो ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

भावार्थ :– मिथ्यात्व, अज्ञान व पुण्य पाप को मन, वचन, काय द्वारा त्याग करके मौन व्रत के साथ योगी ध्यान मे तिष्ठकर अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे ।

जीवाजीवविहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण।
तं सण्णाणं भणियं अवियत्थं सव्वदरसीहिं ।।४१।।

भावार्थ – जो योगी जीव और अजीव पदार्थ के भेद को जिनेन्द्र के मत के अनुसार यथार्थ जानता है वही सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान है। वह निर्विकल्प आत्मानुभव है ऐसा सर्वदर्शी जिनेन्द्रो ने कहा है।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण।
णादियदि णवं कम्मं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेहिं ।।४८।।

भावार्थ :– परमात्मा को ध्याता हुआ योगी पाप बध कारक लोभ से छूट जाता है। उसके नये कर्म का आश्रव नही होता है। ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

देव गुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय संजवेसु अणुरत्तो।
सम्मत्तमुव्वहंतो झाणरओ होई जोई सो ।।५२।।

भावार्थ :– जो योगी सम्यग्दर्शन को धारता हुआ, देव तथा गुरु की भक्ति करता है साधर्मी सयमी साधुओ मे प्रीतिमान है, वही ध्यान मे रुचि करने वाला होता है।

गहिऊण य सम्मत्तं सुणिम्मलं सुरगिरीव णिक्कंप।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ।।८६।।

भावार्थ :– हे श्रावक ! परम शुद्ध सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर मेरु पर्वतवत् उसे निष्कम्प रखकर ससार के दु खो के क्षय के लिये उसी को ध्यान मे ध्याया कर।

सम्मत्तं जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ।।८७।।

भावार्थ :– जो जीव निश्चय सम्यक्त आत्मा की दृढ श्रद्धा को ध्याता है वही सम्यग्दृष्टि है। जो कोई आत्मानुभव रूप सम्यक्त मे रमण करता है सो दुष्ट आठ कर्मो को क्षय कर देता है।

किं बहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया तं जाणइ सम्मसाहप्पं ।।८८।।

भावार्थ :– बहुत क्या कहे, जो महात्मा भूतकाल में सिद्ध हुए हैं व आगामी काल में सिद्ध होगे सो सब सम्यग्दर्शन का महात्म्य है ऐसा जानो।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्तं सिद्धियरं सिविणे वि ण मइलिय जेहिं ॥८९॥

भावार्थ :— वे ही धन्य है, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही वीर है, वे ही पंडित मानव हैं जिन्होने स्वप्न मे भी सिद्धि को देने वाले सम्यग्दर्शन को मलीन नही किया । निरतिचार सम्यग्दर्शन को पाकर आत्मानन्द का विलास किया शुद्ध सम्यक्त्व आत्मानुभूति ही है ।

हिंसारहिए धम्मे अठ्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥९०॥

भावार्थ :— हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव मे व निग्रंथ-मोक्ष मार्ग या साधु मार्ग मे जो श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है ।

(७) श्री वट्टकेर आचार्य मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते हैं :—

रागो दोसो मोहो इन्दियसण्णा य गारवकसाया ।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥३८॥

भावार्थ :— राग, द्वेष, मोह, पाच इन्द्रियो के विषय आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, सज्ञा, ऋद्धि गारव, रस गारव, सात गारव व ऐसे तीन अभिमान व क्रोधादि कषाय तथा मन, वचन, काय कर्मों के आने के द्वार हैं ।

हिंसादिएहिं पंचहिं आसववारेहिं आसवदि पावं ।
तेहिंतो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥४६॥

भावार्थ :— हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाच आश्रव के द्वार हैं । उनसे ऐसा पाप का आश्रव होता है, जिनसे सदा ही आत्मा का ससार समुद्र मे नाश होना है । जैसे छेद सहित नौका समुद्र में डगमगा कर डूबती है ।

इंदियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं ।
रज्जूहिं णिघप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥५०॥

भावार्थ :— जैसे कुमार्ग मे जाने वाले घोडे लगामो से रोक लिये जाते है वैसे ही तप, ज्ञान व विनय के द्वारा इन्द्रिय व कषाय के दोष दूर हो जाते हैं ।

संसारे संसरंतस्स खओवसमगवस्स कम्मस्स ।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ॥५५॥

भावार्थ -- ससार मे भ्रमण करते हुए जब कर्मों का क्षयोपशम होता है तब इस लोक मे सर्व जीवो के एक देश निर्जरा होती है परन्तु तप करने से बहुत अधिक कर्मो की निर्जरा होती है ।

चिरकालमज्जिदं पि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण ।
दुविहे तवम्मि णिच्च भावेदव्वो हवदि अप्पा ॥५८॥

भावार्थ -- चिरकाल के बाधे हुए कर्म रज तप के द्वारा धुल जाते है ऐसा जानकर दो प्रकार बाहरी भीतरी तप के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करनी योग्य है ।

(८) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार अधिकार मे कहते है :--

सम्मत्तादो णाणं णाणादो सव्वभाव उवलद्धी ।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥१२॥
सेयासेयविदण्हू उद्धददुस्सील सीलवं होदि ।
सीलफलेणब्भुदयं तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ॥१३॥

भावार्थ -- सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान होता है । सम्यग्ज्ञान से सर्व पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है । जिसको पदार्थो का भेद विज्ञान है व हितकर व अहितकर भावो को ठीक २ जानता है । जो श्रेय व कुश्रेय को पहिचानता है, वह कुआचार को छोड देता है, शीलवान हो जाता है, शील के फल से सम्पूर्ण चारित्र को पाता है । पूर्ण चारित्र को पाकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो ।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरवे लहुं ॥७७॥

भावार्थ -- जो ज्ञान और चारित्र से सम्पन्न होकर ध्यान, स्वाध्याय व तप मे लीन है तथा कषाय व अभिमान से मुक्त है, वह शीघ्र ससार से तर जाता है ।

(९) श्री वट्टकेरि स्वामी मूलाचार पचाचार मे कहते हैं .--

णेहोउप्पिवगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अंगे ।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ॥३९॥

भावार्थ -- जैसे तेल से चिकने शरीर पर रज लग जाती है, वैसे राग द्वेष रूपी तेल से लिप्त है उसके कर्म का बध हो जाता है ।

जं खलु जिणोवविट्ठं तत्थित्ति भावदो गहणं ।

सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तम् ॥६८॥

भावार्थ -- जैसे पदार्थ का स्वरूप जिनेन्द्र ने कहा है वे ही पदार्थ हैं ऐसा भावपूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इससे विपरीत मिथ्यादर्शन है ।

जे अत्थपज्जया खलु उवदिठ्ठा जिणवरेहिं सुवणाणे ।

ते तह रोचेदि णरो दंसणविणयो हवदि एसो ॥१६६॥

भावार्थ :-- जो जीवादि पदार्थ जिनेन्द्रो ने श्रुतज्ञान मे उपदेश किये हैं उनकी तरफ जो मानव रुचि करता है उसी के ही सम्यग्दर्शन की विनय होती है ।

(१०) श्री वट्टकेरि स्वामी मूलाचार षडावश्यक मे कहते हैं --

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति ।

हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेण वुच्चंति ॥६४॥

भावार्थ -- जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ कषायो को जीत लिया है वे जिन है । जिन्होने ससार रूपी शत्रु को नाश कर दिया है वे ही अरहत है ऐसे कहे जाते है ।

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ॥

अरिहंति सिद्धिगमणं अरहंता तेण उच्चति ॥६५॥

भावार्थ -- जो वदना व नमस्कार के योग्य हैं व जो पूजा सत्कार के योग्य है तथा जो सिद्ध होने योग्य है अरहत ऐसा कहते हैं ।

सव्वं केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्सति ।

केवलणाणचरित्ता तह्मा ते केवली होंति ॥६७॥

भावार्थ :-- क्योकि श्री अरहत भगवान केवलज्ञान के विषय रूप सर्व लोक अलोक को देखते जानते है व केवलज्ञान मे ही आचरण कर रहे है इसलिये वे केवली होते है ।

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोहं च ।

तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ॥६८॥

भावार्थ – क्योकि अरहत भगवान ने मिथ्यात्वमय श्रद्धान को, ज्ञानावरण को, चारित्र मोह को इन तीनो को त्याग कर दिया है, इसलिये वे उत्तम है।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥७२॥

भावार्थ – श्री जिनेन्द्रो की भक्ति से पूर्व सचित कर्म क्षय हो जाते है। आचार्य की भक्ति से व उनकी कृपा से विद्याए व मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं।

जे दव्वपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहि सुवणाणे।
ते तह सद्दहदि णरो दंसणविणओत्ति णादव्वो ॥८८॥

भावार्थ :– जो द्रव्यो की पर्यायें जिनेन्द्र ने श्रुतज्ञान मे उपदेश की हैं उनको जो श्रद्धान करता है, वह दर्शन विनय है ऐसा जानना योग्य है।

(११) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड मे कहते है :–

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टाङ्गं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥

भावार्थ :– सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वह निःशकितादि आठ अग सहित हो, लोक मूढता, देव मूढता, गुरु मूढता रहित हो तथा जाति, कुल, धन, वल, रूप, विद्या अधिकार तप इन आठ मदो से रहित हो।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढाङ्गारान्तरौजसम् ॥२८॥

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन सहित एक चाडाल को भी गणधर देवो ने माननीय देव तुल्य कहा है। जैसे भस्म मे छिपी हुई अग्नि की चिनगारी हो। आत्मा उसका पवित्र हो गया है, किन्तु शरीररूपी भस्म मे छिपा है।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।३३॥

भावार्थ :– जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, वह मोक्ष मार्ग पर स्थिर है, जबकि मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्षमार्गी नही है। इसलिये सम्यग्दृष्टि गृहस्थ मिथ्यादृष्टि मुनि से श्रेष्ठ है।

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥३४॥

भावार्थ :– तीन लोक व तीन काल मे सम्यग्दर्शन के समान प्राणियो को कोई कल्याणकारी नही है । इसी तरह मिथ्यादर्शन के समान कोई अहित-कारी नही है ।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्यव्रतिका ॥३५॥

भावार्थ :– शुद्ध सम्यग्दृष्टि व्रत रहित होने पर भी नारकी पशु, नपु सक स्त्री, नीचकुली, विकलागी, अल्प आयु धारी तथा दरिद्री नही पैदा होते हैं ।

(१२) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है –

अरहतसिद्धचेइय, सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य ।
आयरियेसुवज्झा, एसु पवयणे दंसणे चावि ॥४६॥
भत्ती पूया वण्णज–, णणं च णासणमवण्णवादस्स ।
आसादणपरिहारो, दंसणविणओ समासेण ॥४७॥

भावार्थ :– श्री अरहंत भगवान, सिद्ध परमेष्ठी, उनकी मूर्ति, द्वादशाग श्रुत, धर्म, साधु समूह, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और सम्यग्दर्शन इन दस स्थानो मे भक्ति करना, पूजा करना, गुणो का वर्णन करना, कोई निन्दा करे तो उसको निवारण करना, अविनय को मेटना यह सब सक्षेप मे सम्यग्दर्शन का विनय है ।

णगरस्स जह दुवारं, मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलम् ।
तह जाण सुसम्मत्तं, णाणचरणवीरियतवाणम् ॥७४०॥

भावार्थ :– जैसे नगर की शोभा द्वार से है, मुख की शोभा चक्षु से है, वृक्ष की स्थिरता मूल से है, इसी तरह ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की शोभा सम्यग्दर्शन से है ।

सम्मत्तस्य य लम्भो तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लम्भो ।
सम्मद्दंसण लम्भो, वर खु तेलोक्कलभादो ॥७४६॥
लद्धूण य तेलोक्कं, परिवडदि परिमिदेण कालेण ।
लद्धूण य सम्मत्त, अक्खयसोक्ख लहदि मोक्खं ॥७४७॥

भावार्थ :– एक तरफ सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तो दूसरी तरफ तीन लोक का राज्य मिलता है तो भी तीन लोक के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है। तीन लोक का राज्य पाकर के भी नियत काल पीछे वहा से पतन होगा और जो सम्यग्दर्शन का लाभ हो जायेगा तो अविनाशी मोक्ष के सुख को पायेगा।

विधिणा कदस्स सस्स–, स्स जहा णिप्पादयं हवदि वासं।
तह अरहादियभत्ती, णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५५॥

भावार्थ :– विधि सहित बोए हुए अन्न का उत्पाद जैसे वर्षा से होता है वैस ही अरहत आदि की भक्ति से ज्ञान चारित्र सम्यक्त व तप की उत्पत्ति होती है।

जो अभिलासो विसए–, सु तेण णय पावए सुहं पुरिसो।
पावदि य कम्मबधं, पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२७॥

भावार्थ :– जो पुरुप पाच इन्द्रियो के विषयो मे अभिलाषा करता है वह आत्मसुख को नही पा सकता है। विषयो की अभिलाषा से यह पुरुष कर्म का बध करता है।

कोहि डहिज्ज जह चं–, दणं णरो दारुगं च बहुमोल्लं।
णासेइ मणुस्सभवं, पुरिसो तह विसयलोभेण ॥१८२८॥

भावार्थ – जैसे कोई मानव बहु मूल्य चन्दन के वृक्ष को लकडी या ईंधन के लिए जला डाले तैसे ही अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय विपयो के लोभ से इस मनुष्य भव को नाश कर देता है।

छंडिय रयणाणि जहा, रयणद्दीवा हरिज्ज कट्ठाणि।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८२९॥

भावार्थ :– जैसे कोई पुरुष रत्नद्वीप मे रत्नो को छोडकर काष्ठ को ग्रहण करे वैसे ही इस मनुष्य भव मे अज्ञानी धर्म को छोड़कर भोगो की अभिलापा करता है।

गंतूण णंदणवणं अमियं छंडिय विसं जहा पियइ।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८३०॥

भावार्थ :– जैसे कोई पुरुष नदन वन में जाकर अमृत को छोड विष पीवे वैसे ही अज्ञानी इस मनुष्य भव मे धर्म को छोडकर भोगो की अभिलाषा करता है ।

गुत्तिपरिखाहि गुत्तं, संजमणयरं ण कम्मरिउसेणा ।
बंधेइ सत्तुसेणा, पुरं व परिखादिहि सुगुत्तं ॥१८३८॥

भावार्थ :– जैसे खाई कोट से रक्षित नगर को शत्रु की सेना भग नही कर सकती है वैसे तीन गुप्ति रूपी खाई कोट से रक्षित सयम नगर को कर्म रूपी वैरी की सेना भग नही कर सकती है ।

अमुयतो सम्मत्तं, परीसहचमुक्करे उदीरंता ।
णेण सदी मोत्तव्वा, एत्थ हु आराधणा भणिया ॥१८४२॥

भावार्थ :– परीषहो की सेना समूह आने पर भी ज्ञानी को सम्यग्दर्शन को न छोडते हुए भेद विज्ञान की स्मृति को नही छोडना चाहिये ।

डहिऊण जहा अग्गी, विद्धंसदि सुवहुगं पि तणरासीं ।
विद्धंसेदि तवग्गी, तह कम्मतणं सुवहुगं पि ॥१८४६॥

भावार्थ .– जैसे अग्नि आप ही जलकर बहुत तृण के ढेर को जला देती है वैसे ही तप रूपी अग्नि बहुत काल से सचित कर्मों को जला देती है ।

धादुगदं जह कणयं, सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महवा ।
सुज्झइ तवग्गिधम्मो, तह जीवो कम्मधादुगदो ॥१८५१॥

भावार्थ :– जैसे पाषाण मे मिला हुआ सोना महान अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है वैसे कर्म धातु से मिला हुआ जीव महान् तपरूपी अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है ।

एवं पिणद्धसंवर–, वम्मो सम्मत्तवाहणारूढो ।
सुदणाणमहाधणुगो, झाणादितवोमयसरेहि ॥१८५३॥
संजमरणभूमीए, कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं ।
पावदि संजयजोहो, अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं ॥१८५४॥

भावार्थ :– इस तरह जो कोई संयमी योद्धा सवर रूपी बख्तर पहनकर, सम्यग्दर्शन रूप वाहन पर चढा हुआ श्रुतज्ञान रूपी महा धनुष द्वारा ध्यानमयी तप के बाणो को सजम रूपी रणभूमि मे कर्मरूप वैरी पर चलाकर सर्व कर्म की सेना को जीत लेता है वही अनुपम मोक्ष की राज्यलक्ष्मी को पाता है ।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है –

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात् ।
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोप्यागमात् स श्रुतेः ।।
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेप्यत-
स्त युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखद सन्तः श्रयन्तु श्रियै ।।६।।

भावार्थ :– सर्व जीव सच्चे सुख को शीघ्र चाहते हैं। सो सुख सर्व कर्मों के क्षय से होगा। कर्मों का क्षय सम्यक्चारित्र से होगा। चारित्र सम्यग्ज्ञान पर निर्भर है। सो ज्ञान आगम से होता है। आगम श्री जिनवाणी के उपदेश के आधार पर है। यह उपदेश अरहत आप्त से मिलता है। आप्त वही यथार्थ है जो रागादि दोषो से रहित हो। इसलिए सत्पुरुष भली प्रकार विचार करके सुख रूपी लक्ष्मी के लिए सच्चे देव की शरण ग्रहण करो।

शमबोधवृत्ततपसा पाषाणस्येव गौरवं पुंसाः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।।१५।।

भावार्थ :– शात भाव, ज्ञान, चारित्र, तप इन सबका मूल्य सम्यक्त के बिना ककड पत्थर के समान है। परन्तु यदि इनके साथ सम्यग्दर्शन हो तो इनका मूल्य महामणि के समान अपार है।

अस्त्यात्माऽस्तमिताविबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै-
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समलः कालादिलब्धौ क्वचित्-
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषताऽयोगैः क्रमान्मुच्यते ।।२४१।।

भावार्थ :– आत्मा है सो अनादि काल से बधा है। कर्मों का बध आश्रवो से होता है, आश्रव क्रोधादि से होता है, क्रोधादि प्रमाद से होते है, प्रमाद हिंसा आदि पाच अव्रतो से होता है, ये अव्रत मिथ्यादर्शन से पुष्ट होते हैं इस ही मिथ्यादर्शन से यह आत्मा मलीन है, काल आदि की लब्धि पाकर जो सम्यग्दर्शन, चारित्र, विवेक, कषाय रहितपना पावे तो यह अनुक्रम से मुक्त हो जावे।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार मे कहते हैं –

मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।
चिरबद्धं गलइ सइं फलरहिय जाइ जोईण ॥३२॥

भावार्थ :– मन, वचन, काय को रोक लेने पर नियम से कर्मो का आश्रव रुक जाता है तथा चिरकाल के बधे हुए कर्म फल रहित होकर योगी की आत्मा से स्वय निकल जाते है ।

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो ।
उग्गतवपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥३३॥

भावार्थ :– घोर तप करते हुए भी जब तक पर द्रव्यो मे मन लवलीन है तब तक भव्य जीव मोक्ष नही प्राप्त कर सकता हैं किन्तु शुद्ध भाव मे लीन होने से शीघ्र ही मुक्त हो जाता हैं ।

परदव्वं देहाई कुणइ ममत्ति च जाम तस्सुवरिं ।
परसमयरदो तावं वज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥३४॥

भावार्थ – शरीर आदि पर द्रव्य है । जब तक यह जीव उनके ऊपर ममता करता है तब तक वह पर पदार्थ मे रत बहिरात्मा है और तब तक नाना प्रकार कर्मों से बधता है ।

रूसइ तूसइ णिच्चं इन्दियविसयेहिं संगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥३५॥

भावार्थ :– कषायवान अज्ञानी मूढ नित्य ही इन्द्रियो के विषयों को मनोज्ञ पाकर सतुष्ट होता है, अमनोज्ञ पाकर क्रोधित होता है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत रहता है ।

ण मुणइ सगं भावं ण परंपरिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥५५॥

भावार्थ – जो जीव अपने शुद्ध आत्मिक भाव को छोडता नही है तथा पर रागादि भावो मे परिणमता नही है और अपने आत्मा का अनुभव करता है वही प्रगट रूप से सवर रूप और निर्जरा रूप कहा गया है ।

ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयंगओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ॥६४॥

भावार्थ :-- जब तक सर्व मोह का क्षय नही होता है तब तक मन का मरण नही होता है । मोह के क्षय होने पर शेष तीन घातीय कर्म भी क्षय हो जाते है ।

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं ।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥६५॥

भावार्थ :-- जैसे राजा के मरने पर राजा की सेना प्रभा रहित होकर स्वय भाग जाती है वैसे ही मोह राजा के नाश होने पर सर्व घातीय कर्म जल जाते है ।

धम्माभावे परदो गमणं णत्थिति तस्स सिद्धस्स ।
अत्थइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिउं होउं ॥७०॥

भावार्थ :-- अलोकाकाश मे धर्म द्रव्य नही है इससे श्री सिद्ध भगवान का गमन लोक के बाहर नही होता है वे लोक के अग्र भाग मे अनन्त काल तक निवास करते रहते हैं ।

सते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढं गमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ॥७१॥

भावार्थ -- लोक मे सर्वत्र धर्म द्रव्य होते हुए भी मुक्त जीव न नीचे जाता है न आठ दिशाओ मे जाता है किन्तु ऊपर को ही जाता है क्योकि जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है ।

(१५) श्री योगेन्द्रदेव योगसार मे कहते है :--

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिम पावहु परमेट्ठि ॥१७॥

भावार्थ -- चौदह मार्गणा व चौदह गुणस्थान व्यवहार नय से जीव के कहे गए है । निश्चय नय से आत्मा को इनसे रहित ध्याओ जिससे परमेष्ठी पद की प्राप्ति हो सके ।

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु ।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥२४॥

भावार्थ -- निश्चय नय से यह आत्मा लोक प्रमाण आकारधारी है परन्तु व्यवहार नय से अपने शरीर के प्रमाण है, ऐसे आत्मा के स्वभाव का मनन करो जिससे शीघ्र ही ससार सागर के तट पर पहुँच जाओ ।

चउरासीलक्खहं फिरिउ काल अणाइ अणंतु ।
पर सम्मत्त ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

भावार्थ :– यह जीव अनादिकाल से अनन्त काल हो गया चौरासी लाख योनियो मे फिरता चला आ रहा है क्योकि इसको सम्यग्दर्शन का लाभ नही मिला, यही वात विना भ्राति के जानो। सम्यक्त रतन हाथ लग जाता तो भव मे न भ्रमता ।

पुण्णि पावइ सग्ग जिय पावइ णरयणिवासु ।
वे छडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥३२॥

भावार्थ :– पुण्यवध से जीव स्वर्ग मे जाता है, पाप वध से नरक मे वास पाता है । जो कोई पुण्य पाप दोनो से ममता छोड़कर अपने आत्मा को ध्याता है वही मोक्ष मे वास पाता है ।

छहदव्वह जे जिणकहिआ णव पयत्थ जे तत्त ।
ववहारें जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ॥३५॥

भावार्थ :– श्री जिनेन्द्र ने जो छ द्रव्य तथा नौ पदार्थ कहे है उनका श्रद्धान व्यवहार नय से सम्यक्त भगवान ने कहा है उनको प्रयत्न पूर्वक जानना योग्य है ।

तित्थहु देउलि देउ जिणु सव्व वि कोई भणेइ ।
देहादेउलि जो मुणइ सो बुह को वि हवेइ ॥४४॥

भावार्थ :– तीर्थ स्थान मे व देवालय मे श्री जिनेन्द्र देव है ऐसा सव कोई कहते है । परन्तु जो अपने शरीर रूपी मदिर मे आत्मा देव को पहचानता है वह कोई एक पडित है ।

आउ गलइ ण वि मणु गलइ ण वि आसाहु गलेइ ।
मोह फुरइ ण वि अप्पहिउ इम ससार भमेइ ॥४८॥

भावार्थ :– आयु तो गलती जाती है । परन्तु न तो मन गलता है न आशा तृष्णा गलती है । मोह की गहलता झलक रही है । इससे यह प्राणी आत्म हित नही करता हुआ इस संसार मे भ्रमण किया करता है ।

जेहउ मणु विसयहं रमइ तिम जे अप्प मुणेइ ।
जोइउ भणइ रे जोइहु लहु णिव्वाण लहेइ ॥४६॥

भावार्थ :– जैसा यह मन इन्द्रियो के विषयों मे रमता है वैसा यदि अपने आत्मा के अनुभव में रम जावे तो योगेन्द्रदेव कहते है कि हे योगी ! यह जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेवे ।

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु वि को वि मुणेइ ।
जो पुण्ण वि पाउ विभणइ सो बहु को वि हवेइ ॥७०॥

भावार्थ – जो पाप है सो पाप है, ऐसा तो सब कोई मानते है । परन्तु जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है, ऐसा बुद्धिमान कोई ही होता है ।

जइ बधउ मुक्कउ मुणहि तो बधियहि णिभतु ।
सहजसरूवि जइ रमइ तो पावइ सिव संतु ॥८६॥

भावार्थ :– जो कोई ऐसा विकल्प करता है कि मैं बँधा हूँ मुझे मुक्त होना है वह अवश्य बध को प्राप्त होता है । जो कोई सहज आत्म स्वरूप मे रमण करता है वही परम शात मोक्ष को पाता है ।

सम्माइट्ठीजीवडह दुग्गइगमणु ण होइ ।
जइ जाइ वि तो दोस ण वि पुव्वकिउ खवणेइ ॥८७॥

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव का दुर्गति मे गमन नही होता है । यदि पूर्वबद्ध आयु कर्म के योग से दुर्गति जावे भी तो दोष नही है, वह पूर्वकृत कर्मों का नाश ही करता है ।

अप्पसरूवह जो रमइ छंडवि सहुववहारु ।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु भवपारु ॥८८॥

भावार्थ – जो सर्व व्यवहार को छोडकर एक आत्मा के स्वरूप मे रमण करता है वही सम्यग्दृष्टि है, वह शीघ्र भव सागर से पार हो जाता है ।

जो सम्मत्तपहाणु बुहु सो तइलोय पहाणु ।
केवलणाण वि सहु लहई सासयसुक्खणिहाणु ॥९०॥

भावार्थ :– जो पडित सम्यग्दर्शन मे प्रधान है वह तीन लोक में प्रधान है । वह शीघ्र ही अविनाशी सुख के निधान केवल ज्ञान को झलका लेता है ।

जे सिद्धा जे सिज्झसिहि जे सिज्झहि जिण उत्तु ।
अप्पावसण ते वि फुडु एहउ जाणि णिभतु ॥१०६॥

भावार्थ :– जो सिद्ध हुए हैं व जो सिद्ध होगे व जो सिद्ध हो रहे हैं, वे सब आत्मा के दर्शन से ही होते है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इसी वात को बिना किसी भ्राति के जान।

(१६) श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन मे कहते है –

तापत्रयोपतप्तेम्यो भव्येम्य. शिव शर्मणे।
तत्त्व हेयमुपादेयमिति द्वेधाम्यधादसो ॥३॥

भावार्थ :– जन्म जरा मरण के ताप से दु खी भव्य जीवो को मोक्ष का सुख प्राप्त हो जावे इसलिये सर्वज्ञ ने हेय और उपादेय ऐसे दो तत्त्व वताए है।

बन्धो निबन्धनं चास्य हेयमित्युपर्दाशतं।
हेयं स्याद्दु.खसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥४॥

भावार्थ – कर्म वध और उसका कारण हेय तत्त्व या त्यागने योग्य तत्त्व कहा गया है क्योकि ये ही दोनो त्यागने योग्य सासारिक दु ख तथा सुख के बीज है।

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥

भावार्थ :– मोक्ष और उसका साधन उपादेय तत्त्व या ग्रहण करने योग्य तत्त्व कहा गया है क्योकि इसी ही से उपादेय मोक्ष सुख का प्रकाश होगा।

तत्र बंधः सहेतुम्यो यः संश्लेषः परस्परं।
जीवकर्मप्रदेशानां स प्रसिद्धश्चतुर्विध. ॥६॥

भावार्थ :– राग द्वेषादि कारणो से जीवका और कर्म वर्गणाओ का परस्पर सम्बन्ध होना सो बन्ध प्रकृति प्रदेश, स्थिति अनुभाग से चार प्रकार का प्रसिद्ध है।

स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः।
बंधस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥

भावार्थ .– बध के हेतु सक्षेप से मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान व मिथ्या-चारित्र हैं। इससे अधिक जो कुछ कहना है सो इन्ही का विस्तार है।

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥२४॥

भावार्थ -- मोक्ष का साधन जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, व सम्यक्चारित्र की एकता को कहा है । इसी से नवीन कर्मों का सवर होता है व पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है ।

जीवादयो नवाप्यर्था ते यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनं स्मृतं ॥२५॥

भावार्थ :-- जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन नव पदार्थों का जैसा स्वरूप श्री जिनेन्द्र ने कहा है वे उसी ही तरह हैं । ऐसी श्रद्धा उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

पुरुष॰ पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांबरं ।
षड्विधं द्रव्यमाम्नातं तत्र ध्येयतमः पुमान् ॥११७॥

भावार्थ :-- जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म तथा आकाश छ प्रकार द्रव्य कहा गया है । उनमे ध्यान करने योग्य एक शुद्ध आत्मा ही है ।

कर्म बंधनविध्वसादूर्ध्वं व्रज्यास्वभावतः ।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

भावार्थ :-- कर्मों के बन्ध क्षय हो जाने पर मुक्त आत्मा एक समय मे ही स्वभाव से ऊपर को जाता है और लोक शिखर पर विराजमान हो जाता है ।

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ नस्त॰ क्षयात्तद्धेतुकर्मणा ॥२३२॥

भावार्थ :-- ससार अवस्था मे कर्मो के उदय के निमित्त से जीव के आकार मे सकोच या विस्तार होता था, मुक्त होने पर सकोच विस्तार के कारण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा के प्रदेशो का सकोच विस्तार नही होता है जैसा अतिम शरीर से आत्मा होता है वैसा आकार सिद्ध भगवान का स्थिर रहता है ।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ :– जब सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप मे ही ठहरता है जैसे रत्न के भीतर से ससर्ग प्राप्त मल उसके हेतुओ से निकल जाने पर रत्न अपने स्वभाव मे चमकता है ।

(१७) श्री अमृतचंद्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे कहते है :–

परिणममणो नित्य ज्ञानविवत्तरनाविसन्तत्या ।
परिणामाना स्वेयां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

भावार्थ :– यह जीव अनादिकाल से ज्ञानावरणादि कर्मों से मलीन है, उन कर्मों के द्वारा जिन विभावो मे यह परिणमन करता है उनका यह जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता ।

जीवकृत परिणाम निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्‌गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

भावार्थ .– जीव के राग द्वेपादि विभावो के निमित्त होते हुए अन्य कर्मवर्गणा योग्य पुद्‌गल स्वय ही ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन कर जाते है ।

परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकै· स्वयमपि स्वकैर्भावै· ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्‌गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

भावार्थ .– यह जीव आप ही अपने चैतन्यमयी रागादि भावो से जब परिणमन करता है तब वहा पुद्‌गल कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है । रागादि नैमित्तिक भाव हैं, जीव के स्वभाव नही हैं ।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव ।
प्रतिभाति वालिशाना-प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

भावार्थ :– इस तरह जो कर्मों के निमित्त से रागादि भाव होते है उन का आत्मा के साथ तादात्म्य सबध नही है । निश्चय से आत्मा उनसे भिन्न है तो भी अज्ञानी जीवो को यही प्रतीति मे आता है कि ये रागादि भाव जीव के ही हैं यही प्रतिभास अज्ञान है और ससार भ्रमण कारण है ।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम् ।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

भावार्थ :– जीव और अजीव आदि तत्त्वो का श्रद्धान विपरीत अभिप्राय रहित यथार्थ रूप से रखना चाहिये यही व्यवहार सम्यक्त है, निश्चय से यह सम्यक्त आत्मा का स्वभाव है ।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

भावार्थ :– जब साधक के रत्नत्रय की भावना पूर्ण नही होती है, तब जो कर्मों का बन्ध होता है उसमे रत्नत्रय का दोष नही है । रत्नत्रय तो मोक्ष का ही साधक है, वह बध कारक नही है । उस समय जो रत्नत्रय भाव का विरोधी रागाश होता है वही बन्ध का कारण है ।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

भावार्थ – जितने अश सम्यग्दर्शन होता है उतने अश से बन्ध नही होता है । उसी के साथ जितना अश राग का होता है उसी राग के अश से बन्ध होता है ।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥

भावार्थ :– योगो से प्रदेश बध और प्रकृति बध होता है, कषायो से स्थिति बध व अनुभाग बध होता है । सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र न योगरूप है, न कषाय रूप है । इससे रत्नत्रय बध के कारण नही हैं ।

(१८) श्री अमृतचद्राचार्य नाटक समयसार कलश मे कहते हैं –

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम् ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ॥६-१॥

भावार्थ – शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अपने इस आत्मा को जो अपने एक द्रव्य स्वभाव मे निश्चल है, अपने स्वरूप में व्याप्त है व पूर्ण ज्ञान समूह है सर्व अन्य द्रव्यो से भिन्न देखना या अनुभव करना सम्यग्दर्शन है । नियम से यही निश्चय सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण है आत्मा में व्यापक है, आत्मा

जितना है उतना ही उसका गुण सम्यग्दर्शन है । इसलिये नव पदार्थों की परिपाटी के विचार को छोडकर हमे एक अपना आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है ।

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृ कर्मस्थितिः ।।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्नं तमो ।
ज्ञानभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।।४-३।।

भावार्थ :- व्याप्य व्यापकपना तत् स्वरूप में ही होता है अतत् स्वरूप मे नही होता है । अर्थात् गुण गुणी मे ही होता है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ व्यापकपना नही होता है । इसलिये जीव का पुद्गल के साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नही है । ऐसे दृढ भेद विज्ञान रूपी महान तेज के भार से जव अतरंग का अज्ञान मिट जाता है अर्थात् अज्ञान से जो आत्मा को पुद्गल का व रागादि का कर्त्ता मानता था वह अज्ञान चला जाता है तव यह सम्यग्दृष्टि जीव ज्ञानी होता हुआ परभाव के कर्त्तापने से रहित ही शोभता है । ज्ञानी को तव दृढ निश्चय हो जाता है कि आत्मा मूल स्वभाव से पुद्गल का व रागादि का कर्त्ता नही है । रागादि भाव नैमित्तिक भाव है - आत्मा स्वभाव से कर्त्ता नही है ।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा पर ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ।।११-३।।

भावार्थ :- आत्मा अपने भावो को करता है, पर पदार्थ पर भावो का कर्त्ता है, सदा का यह नियम है । इसलिये आत्मा के जितने भाव है वह आत्मा रूप ही है । पर के जितने भाव हैं वे पर रूप ही है ।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किं ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ।।१७-३।।

भावार्थ - आत्मा ज्ञानमय है, स्वय ज्ञान ही है तव वह ज्ञान के सिवाय और क्या करेगा । यह आत्मा पर भावो का कर्त्ता है, यह व्यवहारी जीवो का कहना मात्र है । व्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि आत्मा ने अशुभ भाव किये व शुभ भाव किये । निश्चय से ये सब भाव मोह कर्म के निमित्त से हुए हैं । आत्मा तो मात्र अपने शुद्ध भाव का ही कर्त्ता है ।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि ।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ।।२२-३।।

भावार्थ -- ज्ञानी के सब ही भाव ज्ञान द्वारा किये हुए ज्ञानमयी ही होते है । अज्ञानी के सर्व ही भाव अज्ञान द्वारा किये हुए अज्ञान रूप ही होते हैं । सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के विषयभोग सम्बन्धी भाव भी ज्ञान की भूमिका मे ही है जब कि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि के व्रत व तप के भाव भी अज्ञान की भूमिका मे अज्ञानमयी है ।

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ।।४-४।।

भावार्थ :– सर्वज्ञो ने कहा है कि सर्व ही शुभ व अशुभ क्रिया काड सामान्य से बध का ही कारण है इसलिये सर्व ही त्यागने योग्य है । एक शुद्ध ही वीतराग आत्मज्ञान ही मोक्ष का कारण कहा गया है ।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्माणि किल ।
प्रवृत्ते नैःकर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।।

तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं ।
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरता ।।५-४।।

भावार्थ – मोक्षमार्ग मे शुभ कर्म व अशुभ कर्म दोनो का निषेध होने पर भी मुनि इन कर्मो से रहित अवस्था मे प्रवृत्ति करते हुए अशरण नही होते हैं । आत्मज्ञान का ज्ञान मे वर्तना यही उनके लिये शरण है । वे मुनि आत्मानुभव मे लीन रहते हुए परम आनन्दामृत का स्वाद निरन्तर लेते है – निष्कर्म आत्मध्यान ही मोक्ष मार्ग है ।

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ।।७-४।।

भावार्थ :– आत्मज्ञान के स्वभाव से वर्तना सदा ही ज्ञान मे परिणमन करता है क्योकि वहा एक आत्म द्रव्य का ही स्वभाव है इसलिये यही मोक्ष का साधन है । जब आत्मा आत्मा मे ही वर्तता है – आत्मस्थ हो जाता है तब ही मोक्ष का मार्ग प्रकट होता है ।

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ।।८-४।।

भावार्थ – जब यह जीव पुण्य व पाप कर्म मे वर्तता है तब वहा आत्म ज्ञान मे वर्तन नही है । पर द्रव्य के स्वभाव मे रमण करने के कारण कर्म मे वर्तना मोक्ष मार्ग नही है ।

सम्पद्यते संवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ।।५-६।।

भावार्थ :– शुद्धात्मा का अनुभव होने से साक्षात् कर्मों का आना रुक जाता है, सवर हो जाता है जब यह शुद्धात्मानुभव भेदविज्ञान से होता है इसलिये भेद विज्ञान की भावना उत्तम प्रकार से करनी चाहिये । आत्मा को सर्व रागादि से व कर्मादि से भिन्न मनन करना चाहिये ।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञान वैराग्यशक्तिः ।
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।।

यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च ।
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ।।४-७।।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि के भीतर नियम से आत्मज्ञान की तथा वैराग्य की शक्ति पैदा हो जाती है वह अपने स्वरूप की प्राप्ति व पर स्वरूप से मुक्ति के लिये अपने वस्तु स्वभाव की अनुभूति का प्रेमी हो जाता है क्योकि उसने आत्मा को व अनात्मा को तत्वदृष्टि से अलग २ जान लिये है । इसलिये वह सर्व ही राग के कारणो से विरक्त रहता हुआ अपने आत्मा के स्वभाव मे विश्राम करता है ।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं ।
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।।

सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं ।
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न न हि ।।२२-७।।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि जीव बडे साहसी होते है । ऐसा वज्रपात पडे कि जिसके होते हुए भयभीत हो तीन लोक के प्राणी मार्ग से भाग जावे तो भी वे सम्यक्ती महात्मा स्वभाव से निर्भय रहते हुए सर्व शकाओ को छोडकर-

तथा अपने आपको अविनाशी ज्ञान शरीरी जानते हुए आत्मिक अनुभव से व आत्मज्ञान से कभी पतित नही होते है ।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरण प्राणाः किलस्यात्मनो ।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित् ।।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तदभीः कुतो ज्ञानिनो ।
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विंदति ।।२७-७।।

भावार्थ :– प्राणो के वियोग को मरण कहते है । निश्चय से इस आत्मा का प्राण ज्ञान है । वह स्वय ही नित्य है । उसका कभी नाश होता ही नही तब उस ज्ञान प्राण का मरण कभी नही हो सकता । इसलिये ज्ञानी को मरण का भय नही होता है । वह नि शक रहता हुआ सदा ही स्वयं अपने सहज ज्ञान का स्वाद लेता है ।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तुः पर परस्य ।
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।।६-८।।

भावार्थ :– सर्व को नियम से सदा ही अपने ही पाप पुण्य कर्मों के उदय से दुःख तथा सुख होता है । दूसरे ने दूसरे को मार डाला, जिलाया, या दु खी तथा सुखी किया ऐसा मानना अज्ञान है । जब तक अपने आयु कर्म का छेद नही होता, मरण नही हो सकता । अपने ही साता असाता के उदय से सुख दुःख होता है ।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ।।१०-८।।

भावार्थ :– यह आत्मा अन्य सर्व जगत के पदार्थों से भिन्न है तो भी जिस अज्ञान के प्रभाव से यह अपने को जगत के पदार्थों के साथ अपनापना मानता है उस अज्ञान का मूल कारण मोह का उदय है । जिन महात्माओ के भीतर यह पर को अपना मानने का खोटा अभिप्राय नही होता है वे ही सच्चे यति हैं ।

न जातुरागादिनिमित्तभावमात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्तः ।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत ॥१३-८॥

भावार्थ :– यह आत्मा अपने से कभी रागादिभावो मे परिणमन नही कर सकता । जैसे स्फटिक मणि अपने से ही लाल, पीली, काली नही होती । जैसे स्फटिक को लाल, पीली, काली कातिवाली दीखने मे लाल, पीले काले डाक की सगति का दोष है वैसे आत्मा मे राग द्वेषादि विभावो मे परिणमने मे मोहनीय कर्म के उदय का दोष है । अकेले आत्मा मे कभी रागादि नही होते है ।

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः,
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ॥८-९॥

भावार्थ :– जो परभाव या पर पदार्थ को अपनाता है वह अपराधी आत्मभावना से पतित होता हुआ अनन्त कर्म वर्गणाओ से बँधता है । परन्तु जो अपराधी नही है, स्वात्मा मे ही आत्मापने का अनुभव करता है, वह कभी भी बंध को नही प्राप्त होता है । अपराधी सदा अपने को अशुद्ध ही भजता है जब कि निरपराधी भली प्रकार अपने शुद्ध स्परूप की आराधना करता हुआ अबन्ध रहता है ।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावं ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा—
च्छुद्धस्वभावनियत स हि मुक्त एव ॥६-१०॥

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि ज्ञानी न तो रागादि कर्मो को करता है न उन को भोक्ता है – वह मात्र उनके स्वभाव को जानता ही है । वह कर्ता व भोक्ता अपने स्वभाव रूप शुद्ध भावो का ही है, परभाव तो कर्मजन्य हैं, उनका कर्ता भोक्ता नही होता है । कर्ता भोक्तापना न करता हुआ व मात्र जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव मे निश्चल रहता हुआ अपने को पर से मुक्त रूप ही अनुभव करता है ।

विगलंतु कर्मविषनरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
सचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानं ॥३७-१०॥

भावार्थ -- कर्म रूपी विष वृक्षो के फल मेरे भोगे बिना ही गल जाओ । मैं तो अपने ही निश्चल एक चैतन्यभाव को ही भोगता हूँ । ज्ञानी ऐसा मनन करता है ।

व्यवहार विमूढ़दृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयंतीह तुषं न तंदुलम् ॥४९-१०॥

भावार्थ -- जो व्यवहार क्रिया काड मे ही मूढता से मग्न है वे मानव परमार्थ स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव नही कर सकते । जिनको चावलो की भूसी मे ही चावलो का ज्ञान है वे तुषो को ही पावेंगे । उनके हाथ मे कभी चावल नही आ सकते है । व्यवहार धर्म **केवल** बाहरी सहकारी है । आत्मानुभव ही परमार्थ धर्म है । जो परमार्थ धर्म का अनुभव करते है वे ही शुद्धात्मा को पाते हैं ।

(१९) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना मे कहते हैं --

जीवाजीवपदार्थतत्वविदुषो बंधास्रवौ रुंधतः ।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिप्रियं कांक्षतः ॥
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो ।
धर्मध्यानसमाधि शुद्धमनस कालः प्रयातु प्रभो ॥४॥

भावार्थ :-- सम्यक्ती ऐसी भावना भाता है कि हे प्रभो ! मैं जीव और अजीव पदार्थों के स्वरूप को ठीक ठीक जानता रहूँ, बध और आस्रवो को रोकता रहू, निरन्तर सवर और निर्जरा को करता रहूँ, मुक्ति रूपी लक्ष्मी की आकाक्षा रखता रहू, तथा शरीरादि से निश्चय से मेरा परमात्मा स्वरूप शुद्ध तथा भिन्न है ऐसा अनुभव करता रहूँ । इस तरह शुद्ध मन से धर्मध्यान और समाधिभाव में मेरे जीवन का काल व्यतीत होवे ।

नरकगतिमशुद्धैः सुन्दरैः स्वर्गवासं ।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा ॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणै-
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः ॥७८॥

भावार्थ :– अशुभ भावों से नरकगति होती है, शुभ भावो से स्वर्गवास होता है, कर्म रहित यह जीव शुद्ध भावो से प्रशमनीय शिव पद को प्राप्त करता है यह बात प्रगट है, तब जो मोक्ष पद की काक्षा करते है उनको चैतन्य को पोषने वाले परिणामो के द्वारा शुद्ध भावो को ही रखना योग्य है। शुभ व अशुभ भावो से विरक्त होना उचित है।

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमापद्यतेऽसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव ॥
न प्राप्यते क्वचन कलमा' कोद्रवं रोप्यमाणं—
विज्ञायेत्थ कुशलमतय. कुर्वते स्वार्थमेव ॥८४॥

भावार्थ :– जो कोई बाहरी इन्द्रिय भोगो के लिये तप करता है वह बाहरी ही पदार्थो को पाता है। जो कोई आत्मा के विकास के लिये तप करता है वह शीघ्र ही पवित्र आत्मा को ही पाता है कोदवो के बोने से कदापि चावल नही प्राप्त हो सकते, ऐसा जान कर प्रवीण बुद्धि वालो को आत्मा के हित मे ही उद्यम करना योग्य है।

भवति भविनः सौख्य दुख पुराकृतकर्मणः।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः क्वाचन मे कथम् ॥
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः।
क्षपयति सुधीः पूर्णः पापं चिनोति न नूतनम् ॥१०२॥

भावार्थ :– ससारी प्राणियो को पूर्व बाधे कर्मो के उदय के अनुकूल सुख तथा दु ख होता है। मेरे मन मे उनमे राग व द्वेष कदापि भी नही प्रगट होता है। इस तरह जो कोई जानकर उन सुख व दुःख के होने पर समभाव को रखता है वह बुद्धिमान पूर्व सचित कर्मों का क्षय करता है और नवीन कर्मो को एकत्र नही करता है।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृतिं।
मुक्तिं नित्यनिरतरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जिताम् ॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं ससृतौ रज्यते ॥८१॥

भावार्थ :– यह ससार नाना प्रकार के उपद्रवो से भरा है, अत्यन्त मलीन है। आकुलताओ का घर है, इसमे स्वस्थपना नही है तथा मुक्ति नित्य निरन्तर

श्रेष्ठ आत्मिक सुख से पूर्ण है और सब आपत्तियो से रहित है। इस बात को कोई कषाय से मोहित बुद्धिवाला ही प्राणी यथार्थ न समझे तो न समझे अन्यथा जो कोई बुद्धिमान है वह अनुपम श्रेष्ठ मुक्ति को छोडकर इस असार ससार मे किस तरह राग करेगा ?

(२०) श्री पद्मनदि मुनि एकत्वसप्तति मे कहते है –

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकल परम् ।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽमिति मे मतिः ।।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है कि जिन जिन का सयोग मेरे साथ चला आया है वे सब भावकर्म, द्रव्यकर्म, नौकर्म मुझसे भिन्न है। उनका मोह छोड देने से मैं मुक्तरूप ही हू ऐसी मेरी बुद्धि है।

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ ।
रागद्वेषपरित्यागमोहमंत्रेण कीलितो ।।२८।।

भावार्थ :– सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैंने रागद्वेष के त्यागरूप साम्य भाव महामत्र से शुभ व अशुभ कर्म रूपी दुष्ट राक्षसो को कील दिया है तब वे मेरा क्या बिगाड कर सकते है। जव मैंने समताभाव धारण किया है तब पुण्य, पापकर्म, उदय मे आकर अपना फल भी दे तो भी मैं उनसे आकुलित नही हो सकता हू ।

(२१) श्री पद्मनदि मुनि देशव्रतोद्योतन अधिकार मे कहते है .–

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमति प्रीतः शुचौ दर्शने ।
स श्लाध्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभूत ।।
अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत–
स्फीतानन्दभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथ प्रस्थितैः ।।२।।

भावार्थ – इस जगत मे वह प्राणी जो निर्मल सम्यग्दर्शन में अपनी निश्चल बुद्धि रखता है कदाचित् पूर्व पापकर्मों के उदय से दु खित भी हो और अकेला भी हो तो भी प्रशसा के योग्य है। इसके विरुद्ध मिथ्यादर्शन मे रहने वाले अनेक उन प्राणियो की कोई प्रशसा नही है, जो धन सम्पदा से सुखी हैं परन्तु अत्यन्त आनन्द देने वाले सम्यग्दर्शनमयी आत्मिक मोक्ष मार्ग से दूर रहने वाले है।

भावार्थ :— सम्यग्दर्शन रूपी सूर्य के प्रकाश से कर्मों का अन्धकार भाग जाता है। यह सम्यग्दर्शन निकट भव्यो को काललब्धि आदि की निकटता पर होता है।

सम्यक्त्वभावशुद्धेन विषयासङ्गवर्जितः।
कषायविरतेनैव भवदुःख विहन्यते ॥५०॥

भावार्थ :— जिसके भावो मे सम्यग्दर्शन से शुद्धता है, व जो विषयो के सग से रहित है व कषायो का विजयी है वही ससार के दु खो को नाश कर डालता है।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ॥२६७॥

भावार्थ :— आत्मा व अनात्मा का विवेक सो ही प्रज्ञा है, प्राणी मात्र का हित सो ही मैत्री है, सर्व पर समान भाव समता है, दु खियो पर दयाभाव करुणा है। यदि सम्यग्दर्शन सहित इनका सेवन किया जावे तो मोक्ष सुख का लाभ होता है।

(२४) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं :—

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः।
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ॥
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम्।
स्रवन्त्येते पुंसां दुरितपटलं जन्मभयदम् ॥६-७॥

भावार्थ :— प्रथम तो मिथ्यात्व रूप परिणाम, दूसरे अविरति रूप परिणाम, तीसरे काय के सहकारी पाचों इन्द्रियों के विषय, चौथे स्त्री कथा आदि प्रमादभाव, पाचवें क्रोधादि कषाय, छठे आर्तरौद्र दो अशुभ ध्यान, सातवे मन, वचन, काय की अशुभ क्रिया ये सब परिणाम प्राणियो को ससार मे भयकारी पापकर्म के आश्रव के कारण है।

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ॥१०-८॥

भावार्थ :— जिस पुरुष के हृदय मे द्वारपाली के समान विवेक-बुद्धि प्रगट है उसके पाप की उत्पत्ति स्वप्न मे भी नही होगी। विवेक से वह हितकारी प्रवृत्ति ही करता है।

विहाय कल्पनाजाल स्वरूपे निश्चल मन ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुने परमसवरः ॥११-८॥

भावार्थ :– जिस समय मुनि सर्व कल्पनाओ के समूह को छोडकर अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप मे मन को निश्चल करते है, उसी समय मुनि महाराज को परम सवर की प्राप्ति होती है, कर्म का आना रुकता है ।

सकलसमिति मूल सयमोद्दामकाण्डः ।
प्रशमविपुलशाखो धर्म पुष्पावकीर्णं ॥
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः सवरोद्दामवृक्षः ॥१२-८॥

भावार्थ – ईर्या समिति आदि पाच समितिया जिस वृक्ष की जड हैं, सामायिक आदि सयम जिसका स्कध है, शात भाव रूपी जिसकी बडी बडी शाखाएँ है, उत्तम क्षमादि दश धर्म जिसके खिले हुए पुष्प है, ऐसा पूर्ण फल उत्पन्न करने वाली बारह भावनाओ से सुन्दर यह सवर रूपी महावृक्ष जगत मे जयवत हो जिसने अपने विपक्षी आश्रव को जीत लिया है ।

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवम् ।
सद्य प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यङ्गी सुवर्णवत् ॥८-९॥

भावार्थ – यद्यपि कर्म जीव के साथ अनादिकाल से लगे हुए है तो भी ध्यान की अग्नि के स्पर्श से शीघ्र उसी तरह जल जाते है जैसे सुवर्ण का मैल भस्म हो जाता है और यह आत्मा सुवर्ण के समान शुद्ध हो जाती है ।

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीन नियतविषयं ध्यानपरमम् ।
क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचितं कर्मपटलम्
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयम् ॥९-९॥

भावार्थ :– पवित्र आचारधारी पुण्यात्मा पुरुष प्रथम अनशनादि बाहरी तपो का अभ्यास करता है फिर अन्तरग छ तपो का अभ्यास करता है फिर निश्चल होकर आत्म ध्यान रूपी उत्कृष्ट तप को पालता है । इस ध्यान से चिरकाल के सचित कर्मों को नाश कर डालता है और परमानन्द से पूर्ण ज्ञान समुद्र मे मग्न हो जाता है अर्थात् केवली अरहत परमात्मा हो जाता है ।

सद्दर्शनमहारत्नं विश्वलोकैकभूषणम् ।
मुक्तिपर्यंतकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितम् ॥५३-६॥

भावार्थ :– यह सम्यग्दर्शन महारत्न है, सर्व लोक मे अत्यन्त शोभायमान है । यही मोक्ष पर्यन्त सुख देने को समर्थ कहा गया है ।

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितम् ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतम् ॥५४-६॥

भावार्थ :– यह सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र का बीज है, यम और शात भाव का जीवन है, तप और स्वाध्याय का आधार है, ऐसा आचार्यों ने कहा है ।

अप्येकं दर्शनं श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युतम् ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ॥५५-६॥

भावार्थ :– विशेष ज्ञान व चारित्र के न होने पर भी एक अकेला सम्यग्दर्शन ही हो तो भी प्रशसनीय है परन्तु मिथ्यादर्शन रूपी विप से दूपित ज्ञान और चारित्र प्रशंसनीय नही है ।

अत्यल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकम् ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषजम् ॥५६-६॥

भावार्थ :– आचार्यों ने कहा है कि यदि सम्यग्दर्शन के साथ मे थोड़ा भी यम, नियम, तपादि हो तो भी वह ससार के दु:खो के भार को हलका करने की औषधि है ।

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनं ।
यतस्तदेव मुक्त्यङ्गमग्रिमं परिकीर्तितम् ॥५७-६॥

भावार्थ :– आचार्य कहते हैं कि जिसको निर्मल सम्यग्दर्शन मिल गया है वह वडा पुण्यात्मा है, वह मानो मुक्तरूप ही है क्योंकि यही मोक्ष का प्रधान कारण कहा गया है ।

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुता ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ॥५८-६॥

भावार्थ :– इस जगत मे जो ज्ञान और चारित्र के पालने मे प्रसिद्ध महात्मा हैं वे भी सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष को नही पा सकते है ।

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रम् ।
दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं
पिबत जितविपक्षं दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ॥५९-६॥

भावार्थ -- आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत को पीओ, यह अनुपम अतीन्द्रिय सहज सुख का भंडार है, सर्व कल्याण का बीज है, संसार समुद्र से पार करने को जहाज है, भव्य जीव ही इसको पा सकते है। यह पाप रूपी वृक्ष के काटने को कुठार है, पवित्र तीर्थों मे यही प्रधान है तथा मिथ्यात्व का शत्रु है ।

ध्यानशुद्धिं मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।
विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम् ॥१५-२२॥

भावार्थ -- मन की शुद्धता केवल ध्यान की शुद्धि ही नही करती है किन्तु निश्चय से संसारी प्राणियो के कर्म के जालो को काट देती है ।

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।
तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ॥१८-२२॥

भावार्थ -- मुनि के मन की शुद्धता जैसे जैसे साक्षात् हो जाती है वैसे वैसे भेदज्ञान रूपी लक्ष्मी हृदय मे स्थिरता से विराजती जाती है ।

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शंसितव्रताः ।
विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः ॥३२-२२॥

भावार्थ :-- जो योगी शांतभाव, शास्त्र ज्ञान तथा यम नियम को पालते है वे जितेन्द्रिय है तथा प्रशंसनीय व्रतो के धारी हैं वे भी यदि मन को नही जीतें तो आतम स्वरूप का अनुभव नही कर सकते ।

विलीनविषयं शान्तं निःसङ्गं त्यक्तविक्रियम् ।
स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम् ॥३३-२२॥

भावार्थ -- जिन मुनियो का चित्त इन्द्रियो के विषयो से छूट गया है व जिनका मन शांत है, परिग्रह की मूर्छा से रहित है, निर्विकार है तथा आत्मा मे स्थित है, उन्ही मुनियो ने अविनाशी पद को प्राप्त किया है ।

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे।
पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ॥११-२३॥

भावार्थ :— मोहरूपी कीचड के चले जाने पर तथा रागादिक भावो के शात होने पर मुनिगण अपने आत्मा मे ही परमात्मा के स्वरूप को अवलोकन करते है।

महाप्रशमसग्रामे शिवश्रीसंगमोत्सुकैः।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ॥१२-२३॥

भावार्थ :— मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति की भावना करने वाले योगियो ने महा शातिमय युद्ध के भीतर अज्ञान रूपी योद्धा को गिरा दिया। विना राग के जीते मोक्ष का लाभ कठिन है।

नित्यानंदमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम्।
वृणोति वीतसरंभो वीतरागः शिवश्रियम् ॥२४-२३॥

भावार्थ :— रागादि के विकल्पो से रहित वीतरागी साधु ही नित्य आनन्दमयी, सुन्दर, अविनाशी, अपने आत्मा से ही प्राप्त मोक्षरूपी लक्ष्मी को वरता है।

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ॥३३-२३॥

भावार्थ — जो कोई मुनि मोह के परदे को दूर कर देता है वही ज्ञान रूपी नेत्र से सर्व जगत को प्रत्यक्ष एक साथ देख लेता है।

यस्मिन्सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवोभवेत्।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम् ॥३५-२३॥

भावार्थ :— हे आत्मन्! जिस पापी मोह मल्ल के जीते रहते हुए यह जीव संसारी होता हुआ भ्रमता है व जिसके नाश हो जाने पर यह मोक्ष का स्वामी हो जाता है उस मोह मल्ल को दूर कर।

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ॥१०-२४॥

भावार्थ :— जब मोह की कीच सूख जाती है व राग द्वेषादि के बन्धन कट जाते हैं तब ही मानवों के हृदय मे जगत से वंदनीय समता रूपी लक्ष्मी अपना पग रखती है।

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥२०-२४॥

भावार्थ – जो मुनि अपने आत्मा के ध्यान मे लवलीन हैं उनके साम्य-भाव के प्रभाव से उनके पास वैर करने वाले क्रूर जीव भी शात हो जाते है।

सारङ्गी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं ।
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजङ्गम् ॥
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति ।
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहम् ॥२६-२४॥

भावार्थ :– जिस योगी का मोह क्षय हो गया है व जो क्रोधादि कलुष-भावो को शात कर चुके हैं व जो समताभाव मे आरूढ हैं उस योगी के निकट हिरणी तो सिंह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है गऊ बाघ के बच्चे को खिलाती है, बिल्ली हस के बच्चे को प्रेम से स्पर्श करती है तथा मोरनी सर्प के बच्चे को प्यार करती है। इसी तरह अन्य प्राणी भी जिनका जन्म से वैर होता है वे मद रहित हो वैर छोड देते हैं।

अनादिविभ्रमोद्भूत रागादितिमिरं घनम् ।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भित ॥५-२५॥

भावार्थ – अनादि काल के मिथ्या भ्रम से उत्पन्न हुआ रागादि अधकार बहुत घन है। जब जीव के भीतर ध्यानरूपी सूर्य प्रगट होता है तब वह अंधकार शीघ्र ही विलय हो जाता है।

(२५) श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते है –

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तपः श्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ॥११-८॥

भावार्थ :– यह अपना शुद्ध चैतन्य स्वभाव भेदज्ञान के बिना कभी भी कही भी किसी भी तपस्वी व शास्त्रज्ञ ने नही पाया है। भेदज्ञान से स्वात्मलाभ होता है।

क्षय नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।
क्षणेन कर्मणा राशिं तृणानां पावको यथा ॥१२-८॥

भावार्थ :– जिस तरह अग्नि तृणों की राशि को क्षणमात्र मे जला देती है उसी तरह भेदज्ञानी महात्मा चैतन्य स्वरूप की घातक कर्मों की राशि को क्षणमात्र में भस्म कर देता है ।

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ।।१४-८।।

भावार्थ :– सवर तथा निर्जरा साक्षात् अपने आत्मा के ज्ञान से होती है । वह आत्मज्ञान भेदज्ञान से होता है । इसलिए मोक्ष के इच्छुक को उचित है कि वह भेदज्ञान की भावना करता रहे ।

ममेति चिंतनाद् बंधो मोचनं न ममेत्यतः ।
बंधनं द्व्यक्षराभ्यां च मोचनं त्रिभिरक्षरैः ।।१३-१०।।

भावार्थ :– पर पदार्थ मेरा है ऐसी भावना से कर्मबन्ध होता है, तथा पर पदार्थ मेरा नही है इस भावना से मुक्ति होती है । मम इन दो अक्षरो से बंध है, नमम इन तीन अक्षरो से मुक्ति है ।

नास्रवो निर्ममत्वेन न बधोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ।।१८ १०।।

भावार्थ :– पर पदार्थ मेरा नही है इस भावना से न अशुभ कर्मों का आश्रव होता है न उनका बध होता है न कोई असयम भाव ही होता है इसलिये निर्ममत्व की सदा भावना करनी योग्य है ।

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः ।
अष्टांगं त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादित· ।।६-१२।।

भावार्थ :– जीवादि सात तत्त्वो का श्रद्धान करना व्यवहार नय से सम्यग्दर्शन है । वह नि शकितादि आठ गुण सहित होना चाहिये । उसके औपशमिक, क्षयोपशमिक क्षायिक ये तीन भेद हैं ।

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेंधनहुताशनं ।।८-१२।।

भावार्थ :– अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप मे जो रुचि, उसे निश्चय सम्यग्दर्शन, तत्वज्ञानियो ने कहा है । यह सम्यग्दर्शन कर्मो के ईधन को जलाने के लिये अग्नि के समान है ।

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां ।

विशुद्धौ मोचनं तेषां बंधोः वा शुभकर्मणां ॥१४-१३॥

भावार्थ :– दुखित क्लेशित परिणामो से दुखदायक पाप कर्मों का बध होता है, विशुद्ध परिणामों से उन पाप कर्मों की निर्जरा होती है अथवा शुभ कर्मों का बन्ध होता है ।

यावद्बाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः ।

तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥२१-१३॥

भावार्थ – जब तक मुनिगण बाहरी व भीतरी परिग्रहो को नही त्यागते है तब तक उनकी चैतन्य स्वरूप मे निर्मलता नही हो सकती है ।

कारणं कर्मबंधस्य परद्रव्यस्य चिंतनं ।

स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ॥१६-१५॥

भावार्थ :– पर द्रव्य की चिंता कर्म बन्ध करने वाली है जबकि शुद्ध आत्म द्रव्य की चिन्ता मात्र कर्मों से मुक्ति देने वाली है ।

(२६) प. बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते हैं –

[सवैया तेईसा]

भेद विज्ञान जग्यो जिन्हके घट, सीतल चित्त भयो जिम चन्दन ।
केलि करे शिवमारग में, जगमाहि जिनेश्वर के लघु नन्दन ॥
सत्य स्वरूप सदा जिन्ह के, प्रगटयो अवदात मिथ्यात निकन्दन ।
शात दशा तिनकी पहिचानि, करे कर जोरि बनारसि बदन ॥६॥

[सवैया इकतीसा]

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित्त,
साचे साचे बैन कहे साचे जैनमती है ।
काहू के विरुद्धी नाहि परजाय बुद्धि नाँहि,
आतमगवेशी न गृहस्थ है न यती है ॥
रिद्धिसिद्धि वृद्धी दीसै घट मे प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छिसौं अजाची लक्षपति है ।
दास भगवत के उदास रहै जगत सौं,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती है ॥७॥

जाके घट प्रगट विवेक गणधर कोसो,
हिरदे हरख महा मोह को हरतु है।
साचा सुख माने निज महिमा अडोल जाने,
आपुही म अपनो स्वभाव ले धरतु है॥

जैसे जल कर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव अजीव विलच्छन करतु हे।
आतम सकति साधे ग्यान को उदो आराधे,
सोई समकिती भवसागर तरतु है॥८॥

शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञान घन सो है व्यवहार माहि,
नव तत्वरूपी पच द्रव्य मे रहत है॥

पच द्रव्य नव तत्व न्यारे जोव न्यारो लखे,
सम्यक दरस यह और न गहत है।
सम्यक दरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है॥६॥

[कवित्त]

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकित रूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को खेल॥
पुद्गलपिड भाव रागादिक, इनसो नहीं तिहारो मेल।
ये जड प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल॥१२॥

[सवैया इकतीसा]

धर्म मे न सशै शुभ कर्म फलकी न इच्छा,
अशुभ को देखि न गिलानि आने चित्त मे।
साचि दृष्टि राखे काहू प्राणी को न दोष भाखे,
चचलता भानि थिति ठाणे बोध चित्त मे॥

प्यार निज रूपसो उच्छाह की तरग उठे,
एह आठो अग जब जागे समकित में ।
ताहि समकित को धरे सो समकितवत,
वेहि मोक्ष पावे वो न आवे फिर इत मे ।।५९।।

जबलग जीव शुद्ध वस्तु को विचारे ध्यावे,
तबलग भोग सो उदासी सरवग है ।
भोग मे मगन तब ज्ञान की जगन नाहि,
भोग अभिलाप की दशा मिथ्यात अग है ।।
ताते विषै भोग मे मगन सो मिथ्याती जीव,
भोग सो उदासि सो समकित अभंग है ।
ऐसे जानि भोग सो उदासी व्है मुगति साधे,
यह मन चग तो कठोठी माहि गग है ।।१२।।

जिन्हके सुमति जागी भोगसो भये विरागी,
परसग त्यागि जे पुरुप त्रिभुवन मे ।
रागादिक भावनिसो जिन्ह की रहनि न्यारी,
कबहू मगन व्है न रहे धाम धन मे ।।
जो सदैव आपको विचारे सरवाग शुद्ध,
जिन्ह के विकलता न व्यापे कछु मन मे ।
तेई मोक्ष मारग के साधक कहावे जीव,
भावे रहो मदिर मे भावे रहो बन मे ।।१६।।

[सवैया तेईसा]

जो कबहू यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात मिटावे ।
सम्यक् धार प्रवाह व्हे गुण, ज्ञान उदै मुख ऊरध धावे ।।
तो अभिअतर दर्वित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे ।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण व्है परब्रह्म कहावे ।।८।।
भेदि मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेदि विज्ञानकला जिनि पाई ।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसो जु पराई ।।

उद्धत रीत वसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई ।
ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई ।।

[सवैया इकतीसा]

जाके परकाश मे न दीसे राग द्वेष मोह,
आश्रव मिटत नहि वध को तरस है ।
तिहुं काल जामें प्रतिविम्वित अनन्त रूप,
आपहु अनन्त सत्ताऽनन्ततें सरस है ।
भावश्रुत ज्ञान परिणाम जो विचारि वस्तु,
अनुभो करे न जहा वाणी को परस है ।
अतुल अखण्ड अविचल अविनाशी धाम,
चिदानन्द नाम ऐसो सम्यक् दरस है ।।१५।।

जैसे फिटकरी लोद हरडे की पुट विना,
श्वेत वस्त्र डारिये मजीठ रग नीर में ।
भीग्या रहे चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदे नहि अन्तर सुपेदी रहे चीर मे ।।
तैसे समकितवत राग द्वेष मोह विन,
रहे निशि वासर परिग्रह की भीर मे ।
पूरव करम हरे नूतन न वध करे,
जाचे न जगत सुख राचे न शरीर मे ।।३३।।

जैसे काहू देश को वसैया वलवत नर,
जगल में जाइ मधु छत्तो को गहत है ।
वाको लपटाय चहुं ओर मधु मच्छिका पै,
कबल की ओट में अडकित रहत है ।।
तैसे समकिती शिव सत्ता को स्वरूप साधे,
उदैके उपाधी को समाधिसी कहत है ।
पहिरे सहज को सनाह मन मे उच्छाह,
ठाने सुख राह उदवेग न लहत है ।।३४।।

[सवैया इकतीसा]

केई मिथ्यादृष्टि जीव धरे जिन मुद्रा भेष,
क्रिया में मगन रहे कहे हम यती है।
अतुल अखण्ड मल रहित सदा उद्योत,
ऐसे ज्ञान भाव सो विमुख मूढ मती है ॥
आगम सभाले दोष टालें व्यवहार भाले,
पाले व्रत यद्यपि तथापि अविरती हैं।
आपको कहावे मोक्ष मारग के अधिकारी,
मोक्ष से सदैव रुष्ट दुष्ट दुरगति हैं ॥११८॥

[सवैया इकतीसा]

चाकसो फिरत जाको ससार निकट आयो,
पायो जिन्हे सम्यक् मिथ्यात्व नाश करिके।
निरद्वद मनसा सुभूमि साधि लीनी जिन्हे,
कीनी मोक्ष कारण अवस्था ध्यान धरिके ॥
सो ही शुद्ध अनुभो अभ्यासी भयो,
गयो ताको करम भरम रोग गरिके।
मिथ्यामति अपनो स्वरूप न पिछाने ताते,
डोले जग जाल मे अनत काल भरिके ॥३४॥

जाके घट अतर मिथ्यात अन्धकार गयो,
भयो परकाश शुद्ध समकित भानुको।
जाकी मोह निद्रा घटि ममता पलक फटि,
जान्यो निज मरम अवाची भगवान को ॥
जाको ज्ञान तेज बग्यो उद्दिम उदार जग्यो,
लग्यो सुख पोष समरस सुधा पान को।
ताही सुविचक्षण को ससार निकट आयो,
पायो तिन मारग सुगम निरवाण को ॥३६॥

जाके हिरदे मे स्यादवाद साधना करत,
शुद्ध आतम को अनुभौ प्रगट भयो है।
जाके सकल्प विकलप के विकार मिटि,
सदाकाल एक भाव रस परिणयो है ।।
जाते बन्ध विधि परिहार मोक्ष अगीकार,
ऐसो सुविचार पक्ष सोउ छाडि दियो है।
जाकी ज्ञान महिमा उद्योत दिन दिन प्रति,
सोही भवसागर उलधि पार गयो है ।।४०।।

(२७) प द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते ह :—

[छप्पय]

नमौ देव अरहत, अष्टदश दोष रहित हे।
वदौ गुरु निरगन्थ, ग्रन्थ ते नाहि गहत है ।।
वदौ करुनाधर्म, पापगिरि दलन वज्र वर।
वदौ श्रीजिनवचन, स्यादवादाक सुधाकर ।।
सरधान द्रव्य छह तत्वको, यह सम्यक विवहार मत।
निहचै विसुद्ध आतम दरव, देव धरम गुरु ग्रन्थ नुत ।।८२।।

[सवैया इकतीसा]

जीव जैसा भाव करै तैसा कर्मबन्ध परै,
तीव्र मध्य मद भेद लीने विस्तारसो।
वधे जैसा उदय आवै तैसा भाव उपजावै,
तैसो फिर बन्धे किम छूटत ससारसो ।।
भाव सारू वध होय वध सारू उदय जोय,
उदय भाव भवभगी साधी वढवारसो।
तीव्र मद उदै तीव्र भाव मूढ धारत है,
तीव्र मद उदै मद भाव हो विचारसो ।।३९।।

[कवित्त]

जीवादिक भावन की सरधा, सो सम्यक निज रूप निहार।
जा विन मिथ्या ज्ञान होत है, जा विन चारित मिथ्या धार ।।

दुरनय को परवेश जहा नहि, सशय विभ्रम मोह निवार ।
स्वपर स्वरूप यथारथ जानै, सम्यग्ज्ञान अनेक प्रकार ।।४६।।

[सवैया इकतीसा]

इष्ट अनिष्ट पदारथ जे जगतमाहि,
तिन्हे देख राग दोष मोह नाही कीजिये ।
विषयसेती उचटाइ त्याग दीजिये कषाय,
चाह दाह धोय एक दशामाहि भीजिये ।।
तत्वज्ञान को सभार समता सरूप धार,
जीत के परीसह आनद सुधा पीजिये ।
मन को सुवास आनि नानाविध ध्यान ठानि,
आपनी सुवास आप आपमाहि भीजिये ।।५१।।

जीव और पुद्गल धरम अधरम व्योम,
काल एई छहो द्रव्य जगत के निवासी हैं ।
एक एक दरव मे अनत अनत गुण,
अनत अनत परजाय के विकासी हैं ।।
अनत अनत शक्ति अजर अमर सवै,
सदा असहाय निज सत्ता के विलासी है ।
पर्व सर्व गेयरूप परभाव हेयरूप,
शुद्धभाव उपादेय यातै अविनासी है ।।१००।।

ग्रन्थन के पढै कहा पर्वत के चढै कहा,
कोटि लच्छि बढै कहा कहा रकपन मे ।
सजम आचरै कहा मौनव्रत धरै कहा,
तपस्या के करै कहा कहा फिरै बन मे ।।
छद करै नये कहा जोगासन भये कहा,
दानहू के दये कहा बैठे साधुजन मे ।
जौलो ममता न छूटै मिथ्याडोरी हू न टूटै,
ब्रह्मज्ञान विना लीन लोभ की लगन मे ।।५५।।

यह तो सर्वज्ञ देव देख्यो भिन्न भिन्न, रूप,
चिदानंद ज्ञानमयी कर्म जड़ व्याप है।
तिह भांति मोह हीन जाने सरधानवान,
जैसे सर्वज्ञ देखो तैसो ही प्रताप है ।।१०।।

[छप्पय]

जैनधर्म को मर्म, दृष्टि समकिततें सूझै।
जैनधर्म को मर्म, मूढ कैसे कर बूझै ।।
जैनधर्म को मर्म, जीव शिवगामी पावै ।
जैनधर्म को मर्म, नाथ त्रिभुवन को गावै।
यह जैनधर्म जग मे प्रगट, दया दुहू जग पेखिये ।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, जैनधर्म निज लेखिये ।।३।।

[सवैया तेईसा]

जो जिनदेव की सेव करै जग, ता जिव देव सो आप निहारै ।
जो शिवलोक बसै परमातम, तासम आतम शुद्ध विचारै ।।
आप मे आप लखै अपनो पद, पाप रु पुण्य दुहू निरवारै ।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इहि भाँति क्रिया करतारै ।।१२।।

[छप्पय]

राग दोष अरु मोह, नाहिं निजमाहिं निरक्खत ।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत ।।
परद्रव्यनसो भिन्न, चिन्ह चेतनपद, मडित ।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखडित ।।
सुख अनन्त जिहि पद वसत, सो निहचै सम्यक महत ।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, श्री जिनन्द इहि विधि कहत ।।१४।।

आठवां अध्याय

सम्यग्ज्ञान और उसका महात्म्य

यह वताया जा चुका है कि यह ससार असार है, शारीरिक तथा मानसिक दु:खों का सागर है, शरीर अशुचि, क्षणभगुर है, इन्द्रिय भोग अतृप्ति कारी, तृष्णावर्द्धक व नाशवत है। सहज सुख आत्मा का स्वभाव है सुख का साधन स्वात्मानुभव है या आत्मध्यान है। यह आत्मध्यान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता रूप है निश्चय से ये तीनो ही एक आत्मरूप ही है। व्यवहार से ये भिन्न भिन्न कहलाते हे व निश्चय के साधन रूप से व्यवहार का वहुत विस्तार है। इन तीनो मे से सम्यग्दर्शन के व्यवहार व निश्चय का कुछ स्वरूप आत्मानन्द के पिपासुओ के लिये किया जा चुका है। अब सम्यग्ज्ञान का निश्चय व्यवहार कथन इस अध्याय मे किया जाता है।

जैसे सम्यग्दर्शन गुण आत्मा का स्वभाव है वैसे ज्ञान गुण भी आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते है। निश्चय से ज्ञान स्वय सम्यक् है, यथार्थ है, क्योंकि ज्ञान एक ऐसा विशेष गुण है जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पाच द्रव्यो मे नही पाया जाता है। इसीलिये वे जड है किन्तु आत्मा मे पाया जाता है। वे सव अन्धकार रूप है। ज्ञान ही एक प्रकाशरूप है। ज्ञान का स्वभाव सूर्य के प्रकाश के तुल्य है। जैसे सूर्य एक ही क्षण मे जगत के पदार्थों को प्रकाश करता है वैसे ज्ञान भी सर्व ही जानने योग्य को एक काल मे प्रकाश करता है।

"सर्व ज्ञेय जानाति तत् ज्ञान" जो सर्व ज्ञेयो को जाने वह ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, ज्ञायक स्वभाव है, सिद्ध शुद्ध आत्मा के सदृश ही हर एक आत्मा का स्वभाव है। प्रदेशो की भिन्नता की अपेक्षा हर एक आत्मा की सत्ता भिन्न २ है परन्तु गुण व स्वभावो की अपेक्षा मे परस्पर कोई अन्तर नही है। सर्व ही सिद्ध तथा ससारी जीव समान है, परमात्मा या

सिद्धात्मा को सर्वज्ञ व सर्वदर्शी या अनन्तज्ञान व अनत दर्शन से युक्त इसीलिये कहते है कि उनके ज्ञान गुण पर कोई आवरण या परदा या मैल नही है — वह शुद्ध है — ज्ञान दीपक के प्रकाश की तरह स्वपर प्रकाशक होता है। ज्ञान अपने द्रव्य गुणी आत्मा को भी दिखाता है व अन्य सर्व पदार्थो को भी दिखाता है।

क्रम रहित सर्व को जान लेना यह ज्ञानगुण का स्वभाव है। इसीलिये इस ज्ञान को अनुपम, अद्भुत व महान कहते है। जिनको ज्ञानावरण कर्म के उदय से अर्थात् क्षयोपशम से कुछ ज्ञान की शक्ति प्रगट है कुछ अप्रगट है उनको जानने का प्रयास करना होता है तव वह ज्ञान क्रम से पदार्थो को जानता है। तथापि जान लेने के पीछे धारणा मे अनेक पदार्थों का ज्ञान एक साथ अल्पज्ञानी के भी पाया जाता है। जब वह अल्पज्ञानी उसका व्यवहार मन, वचन, काय से करता है तव वह क्रम से होता है परन्तु भडार मे सचय तो एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान रहता है। जैसे एक पचास वर्ष का विद्वान है, जो संस्कृत और अग्रेजी मे एम ए है, वहुतसा पूर्वीय व पाश्चात्य साहित्य को पढ चुका है, वह एक साथ सस्कृत अग्रेजी के ज्ञान को व वैद्यक को, व्यापार को, मकान वनाने की कला को, व्याख्यान की कला को, लिखने की कला को, तास, चौपड, सतरज खेलने की कला को, अपने सवधियो के नामठामादि इतिहास को, नाना देशो के भूगोल को देखे हुए समझे हुए अनेक पदार्थों के स्वरूप को, गान विद्या को, वाजा वजाने को, तैरने को, व्यायाम को, खडग चलाने को, पूजा पाठ को, आत्मध्यान की कला को, जीवन की अनुभूत घटनाओ को इत्यादि वहुत से विपयो को एक साथ ज्ञान मे भडार के समान रख रहा है।

यदि कोई महात्मा निमित्त ज्ञानी है, ज्योतिषी है या अवधिज्ञानी है तो वह भविष्य की वहुत सी वातो को भी अपनी व पराई जानकर ज्ञान के भडार मे रख लेता है। योगाभ्यास के वल से जितना जितना ज्ञान का विकास होता जाता है उतना उतना ज्ञान मे त्रिकाल गोचर ज्ञान का भडार अधिक अधिक सचय होता है। सचित ज्ञान अक्रम ही विराजमान रहता है। एक मति व श्रुतज्ञानी कई भाषाए जानता है। सस्कृत पुस्तक पढने का काम पडता है तव सस्कृत पढने लगता है, गुजराती पढ़ने का काम पडता है, तव गुजराती पढने

लगता है, मराठी पढने का काम पडता है तब मराठी पढने लगता है, इ ग्लिश पढने काम पडता है तब इ ग्लिश पढता है । एक व्याख्याता किसी विषय पर भाषण करता है, उसने अनेक पुस्तको को पढकर एक विषय पर जो ज्ञान सचय किया है वह सब उसके ज्ञान मे मौजूद है एक साथ विद्यमान है, उसी मे से धीरे २ वह वक्ता बहुतसा ज्ञान अपने १।। व २ घटे के वक्तव्य से प्रकाशित कर देता है ।

ज्ञान का प्रकाश मन द्वारा सोचने मे, वचन द्वारा कहने मे, काय द्वारा सकेत करने मे अवश्य क्रम से होगा, परन्तु आत्मा के भडार मे ज्ञान का सचय एक साथ बहुतसा सा रहता है यह बात हर एक प्रवीण पुरुष समझ सकता है ।

यह बात भी ठीक है कि अपने अपने अपने ज्ञान की प्रगटता के अनुसार तीन काल का ज्ञान भी किसी मर्यादा तक अल्प ज्ञानियो के पाया जाता है । एक स्त्री रसोई बनाने का प्रबन्ध कर रही है, वह जानती है कि मैं क्या कर रही हू, क्या २ सामान एकत्र कर रही हूँ यह वर्तमान का ज्ञान है । क्या २ सामान एकत्र कर चुकी हू व यह सामान कैसे व कब आया था व घर मे कहा रक्खा था, जहा से लाकर अब रसोई मे रक्खा है । ऐसा भूतकाल का ज्ञान भी है । तथा रसोई मे अमुक २ वस्तु बनानी है, इतनी तैयार करनी है, इतने मानवो को जिमाना है, अमुक २ जीमेगे, रसोई के पीछे मुझे कपडे सीना है, अनाज फटकना है, पुस्तक पढना है, अमुक के घर सम्वन्धी होने के कारण एक रोगी की कुशल पूछने जाना है, अमुक से ये बातें करनी हैं ऐसा बहुत सा भविष्य का ज्ञान भी है । तीन काल एक साथ ज्ञान हुए बिना सुनार गहना नही घड सकता, थवई या इन्जीनियर मकान नही बना सकता, अध्यापक पढा नही सकता, एक यात्री किसी स्थान पर पहु च नही सकता । पर्वत की चोटी पर पहुँचकर एक मन्दिर के दर्शन करने है, मैं अमुक स्थान से चलकर यहा आया हू, पर्वत का मार्ग दो घटे मे अमुक २ मार्ग से तय करू गा, यह सब ज्ञान एक साथ होता है । इस ज्ञान को लिए हुए ही वह पर्वत के शिखर पर पहुँच जाता है ।

अल्पज्ञानी को अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार थोडा त्रिकालज्ञान होता है तव सर्वज्ञ को व अनतज्ञानी को सर्व आवरण से रहित

निर्मल प्रकाशमान ज्ञानज्योति को त्रिकालगोचर सर्व विश्व के अनत द्रव्यो का व उनके गुणो का व उनकी पर्यायो का ज्ञान हो जावे तो इसमे कोई आश्चर्य की व सशय की बात नही है। शुद्ध ज्ञान भी यदि कुछ न जाने तो वह ज्ञान शुद्ध ही क्या हुआ, वह तो अवश्य कुछ या उतने अश अशुद्ध हुआ जितने अश वह नही जानता है। शुद्ध ज्ञान दोपहर के सूर्य के समान विश्व व्यापी ज्ञेय को एक साथ जानता है, एक साथ प्रकाश किये हुए है। उसको कुछ जानना शेष नही रहा।

सर्वज्ञत्व की शक्ति आत्मज्ञानी में भी है। जितना जितना अज्ञान का परदा हटता जाता है उतना उतना ज्ञान का विकास या ज्ञान का प्रकाश होता जाता है उतना उतना ज्ञान उन्नति रूप था वर्द्धमान होता जाता है। एक बालक जन्मते समय बहुत अल्प जानता है, वही जितना जितना अनुभव पाता है व जितना जितना विद्या पढता है उतना उतना अधिक ज्ञानी होता जाता है। उसमे ज्ञान की वृद्धि कही बाहर से ज्ञान का सचय करके इस तरह नही हुई है जैसे द्रव्य को दूसरो से सचय करके बढाया जाता है व फैले हुए पानी को एक सरोवर मे एकत्र किया जाता है। ज्ञान एक ऐसा अद्भुत गुण है जो कोई किसी को दे नही सकता कोई किसी से ले नही सकता। यद्यपि लोक व्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि इस आचार्य ने अपने शिष्य को बहुत ज्ञान दिया, शिष्य ने आचार्य से बहुत ज्ञान पाया परन्तु यह वचन केवल व्यवहार मात्र है, वास्तव मे असत्य है। यदि आचार्य ज्ञान देते तो उनका ज्ञान घटता तब शिष्य का ज्ञान बढता सो ऐसा नही हुआ है।

आचार्य ने जब से शिष्य को पढाना शुरू किया और दस वर्ष तक पढाया, तब तक जो कुछ पढाया, समझाया, बताया वह सब ज्ञान आचार्य मे बराबर स्थित रहा। इतना ही नही, समझाते समझाते बताते बताते आचार्य का ज्ञान भी बढता चला गया और पढने वाले शिष्य का ज्ञान भी बढता गया। जहा देन-लेन के शब्दो का व्यवहार है वहा देन-लेन कुछ नही हुआ तथापि दाता व प्राप्तकर्ता मे ज्ञान बढ गया ऐसा क्यो हुआ ? क्यो नही एक तरफ ज्ञान घटा और तब दूसरी तरफ बढा।

इसका सीधासादा उत्तर यही है कि ज्ञान का सदा विकास या प्रकाश होता है । गुरु के समझाने से व पुस्तको के पढने से जितना जितना अज्ञान का परदा हटता है, जितना जितना ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है उतना उतना ज्ञान अधिक अधिक चमकता जाता है । यह भी जगत मे कहने का व्यवहार है कि इसने अपने ज्ञान मे बहुत उन्नति की, बहुत निर्मलता की, बहुत विकास किया । उन्नति या विकास शब्द वही प्रयोग मे आते हैं जहा शक्ति तो हो पर व्यक्ति न हो, व्यक्त होने ही को प्रकाश या विकास कहते हैं । सूर्य का प्रकाश हुआ या विकास हुआ अर्थात् सूर्य मे प्रकाशक शक्ति है ही उसके ऊपर से अन्धकार हटा, मेघो का परदा हटा । रत्न पाषाण मे रत्न बनने की व चमकने की शक्ति तो थी ही, उसके मल को हटाने से वह रत्नरूप से चमक उठा । तेजाब मे डालने से यह सुवर्ण का आभूषण चमक उठा । अर्थात् सुवर्ण के आभूषणो मे चमकने की शक्ति तो थी ही उस पर मैल छा गया था । तेजाब से जितना मैल कटता गया, सुवर्ण की चमक झलकती गई ।

हर एक के ज्ञान मे अनन्त पदार्थों के ज्ञान की अमर्यादित शक्ति है यह कभी सीमित नही की जा सकती है कि इससे आगे ज्ञान प्रकाश न करेगा । आज के विश्व मे पदार्थ विद्या ने कैसा अपूर्व विकास किया है जिससे हजारो मील शब्द पहुँच जाता है । अमेरिका मे बैठे हुए भारत मे गाया हुआ गाना सुना जा सकता है । हवाई विमानो से लाखो मन बोझा आकाश मे जा सकता है । बिना तार के सबध से क्षण मात्र मे हजारो मील शब्द पहुच जाते हैं । पदार्थों के भीतर अद्भुत ज्ञान है, यह ज्ञान पदार्थ वेत्ताओ को कैसा होता है ? इसका पता लगाया जायेगा तो विदित होगा कि पदार्थ के खोजी एकान्त मे बैठकर अपने भीतर खोजते है ? खोजते खोजते कोई बात सूझ जाती है उसी का प्रयोग करते हैं । उसको ठीक पाते है तब और सोचते हैं और नई २ बातें सूझ जाती है । बस प्रयोग से उन वातो को जमाकर नई खोज प्रगट करदी जाती है । जितना २ मैले बर्तन को माजा जायेगा वह उतना २ चमकता जायेगा । इसी तरह जितना २ इस अपने शुद्ध ज्ञान को माजा जायेगा, इसमे खोज की जायेगी उतना २ ज्ञान का विकास होता जायेगा । प्रत्येक प्राणी की आत्मा मे यदि अमर्यादित ज्ञान न हो तो ज्ञान का विकास सभव ही न हो ।

ज्ञान का काम मात्र जानना है, मात्र प्रकाश करना है। जैसा द्रव्य गुण पर्याय है वैसा ही जानना है, न कम जानना है न अधिक जानना है न विपरीत जानना है। शुद्ध ज्ञान छहो द्रव्यो के भिन्न २ स्वभावो को जानता है, मूल स्वभावो को जानता है तथा वे द्रव्य परस्पर एक दूसरे को किस तरह सहायक होते है यह भी जानता है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल क्रिया रहित स्थिर है, स्वय विभावरूप या उपाधिरूप नही परिणमते है – केवल द्रव्यो के हलन चलन, थिर होने, अवकाश पाने व परिवर्तन मे उदासीन रूप मे सहाय करते है। कर्मो से ससारी जीव अनादिकाल मे सम्बन्धित है – कर्म पुद्गल है – जीव और पुद्गल मे पर के निमित्त से, विभावरूप होने की शक्ति है। इससे जीवो मे कर्मो के उदय से विभाव भाव, रागादि भाव, अज्ञान भाव, असयत भाव होते है, उन भावो के निमित्त से कर्म पुद्गल आकर जीव के कार्मण शरीर के साथ बॅध जाते हैं। उनका बन्ध किस तरह होता है, वे क्या २ व किस २ तरह अपना असर दिखलाते है व कैसे दूर होते है। जीव और कर्म की परस्पर निमित्त नैमित्तिक क्रिया से क्या २ होता है इस सर्व व्यवस्था को भी शुद्ध ज्ञान जानता है।

अभिप्राय यह है कि छ द्रव्यो को उनके सामान्य व विशेष गुणो को, उनकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायो को – जगत की सर्व व्यवस्था को शुद्ध ज्ञान ठीक ठीक जानता है। जैसा सूर्य का प्रकाश घटपट, नगर, द्वार, गली, महल, वृक्ष, पर्वत, ककड, पत्थर, ताबा, लोहा, पीतल, नदी, सरोवर, झील, खाई आदि सब पदार्थों को उनके आकार को जैसा है वैसा दिखलाता है वैसे शुद्ध ज्ञान सूर्य प्रकाश के समान सर्व पदार्थों का सब कुछ स्वरूप जैसा का तैसा जानता है और जैसे सूर्य सर्व को प्रकाश करता हुआ भी किसी पर रागद्वेष नही करता है। कोई सूर्य को अर्घ चढावे तो उस पर प्रसन्न नही होता है, कोई सूर्य की निन्दा करे तो उस पर अप्रसन्न या क्रोधित नही होता है – पूर्ण समदर्शी है। अपने ताप व प्रकाश से सर्व पदार्थों को गुणकारी हो जाता है – वह कुछ बिचार नही करता है कि मै किसी को लाभ पहुचाऊँ व हानि पहुँचाऊ। वह तो पूर्ण वीतरागता से प्रकाश करता है। भले ही कोई लाभ मानलो व हानि मानलो। उसी तरह शुद्ध ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायो का यथार्थ जानते

हुए भी न किसी से राग करता है न द्वेष करता है न प्रशंसा किये जाने पर उन्मत्त होता है न निंदा किये जाने पर रुष्ट होता है। पूर्ण समदर्शी, वीतरागी, निराकुल रहता है। जैसे सर्वज्ञ वीतरागपना सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है वैसे ही सर्वज्ञ वीतरागपना हर एक आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा के स्वभाव मे मोह का किंचित् भी मल नही है इसलिये आत्मा का ज्ञान जानता हुआ भी न क्रोध करता है, न मान करता है, न माया करता है, न लोभ करता है, न हास्यभाव करता है, न रति करता है, न अरति करता है, न शोक करता है, न भय करता है, न जुगुप्सा या घृणा करता है, न कोई काम का विकार करता है। वह मोह मदिरा के संयोग विना किंचित् भी मोहित नही होता, दोपित नही होता। आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ वीतरागता है, यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। विभावपना, अल्पज्ञानपना ज्ञानावरण कर्म के उदय से है। राग-द्वेष, मोह, मोहनीय कर्म के उदय से है। जितनी कुछ अन्तरंग अवस्थाएं आत्मा की वैभाविक होती है वे सब चार घातीय कर्मो के उदय से है जितनी कुछ वाहरी सामग्री का संयोग आत्मा से होता है, वह चार अघातीय कर्मो के उदय से है, यह सव जानना ही सम्यग्ज्ञान है। सिद्ध परमात्मा अरहत केवली पर-मात्मा के ज्ञान मे और सम्यग्दृष्टि अविरति या विरति के ज्ञान मे पदार्थो के स्वरूप के जानने की अपेक्षा कोई अंतर नही है। जैसा केवली जानते है, वैसा स्याद्वादी श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि भी जानता है। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, स्वभाव या विभाव पर्याय की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, यह सव ज्ञान जैसा केवली भगवान को होता है वैसा सम्यग्दृष्टि को होता है। मात्र अन्तर यह है कि केवली भगवान शुद्ध स्वाभाविक केवलज्ञान से प्रत्यक्ष जानते हैं यह श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष परोक्ष जानता है। केवल ज्ञानी अधिक पर्यायो को जानते है। श्रुतज्ञानी कम पर्यायो को जानता है परन्तु जितना कुछ श्रुतज्ञानी जानता है वह केवलज्ञानी के सदृश ही, अनुकूल ही जानता है प्रतिकूल नही जानता है और जैसे केवलज्ञानी सर्व कुछ जानते हुए भी पूर्ण वीतराग है वैसे ही सम्यग्दृष्टि का ज्ञान भी वीतराग भाव से जानता है, वह भी राग द्वेष विना किये हुए अपनी व दूसरो की कर्मजनित अवस्था को वस्तु स्वरूप से जानता है इसलिये सम्यग्दृष्टि को भी ज्ञाता कहते हैं उदासीन कहते है।

केवल अतर यह है कि सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के होते है – एक वीतराग दूसरे सराग। ध्यानस्थ आत्मलीन सम्यग्दृष्टि को वीतराग कहते हैं, वह सम्पूर्ण मन, वचन, काय की क्रियाओ से विरक्त रहता हुआ उसी तरह आत्मा के आनद का स्वाद ले रहा हैं जैसे सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा लेते है। सराग सम्यक्ती मन, वचन, काय की क्रियाओ को रागपूर्वक करता है। तथापि वह इन सर्व क्रियाओ का कर्त्ता अपने को नही मानता है। आत्मा ज्ञातादृष्टा है, यही वुद्धि रखता है कषाय के उदय से उसे व्यवहार कार्यों को अपनी अपनी पदवी के अनुकूल करना पडता है। उनको वह अपना कर्त्तव्य नही जानता है, कर्मोदय जनित रोग जानता है। उस सराग सम्यक्ती का ज्ञान व श्रद्धान तो वीतराग सम्यग्दृष्टि के समान है, केवल चारित्र मोह के उदय का अपराध है, उसको वह सम्यग्दृष्टि कर्म का उदय जानता है उसे पर ही अनुभव करता है। सर्व मन, वचन, काय की क्रियाओ को भी पर जानता है। इसलिये वह भी पूर्ण उदासीन है।

भावना यह है कि कब यह सरागता मिटे और मै वीतराग हो जाऊ। तत्त्वज्ञानी सम्यक्ती का यह ज्ञान कि मैं निश्चय से परमात्मावत् शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा हू, आत्मज्ञान कहलाता है। यही आत्मज्ञान परम सुख साधन है। इस आत्मज्ञान को ही निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसी को जिनवाणी का सार **भाव श्रुतज्ञान** कहते हैं। इसी आत्मज्ञान मे उपयोग की थिरता को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं स्वानुभव कहते है या आत्मध्यान कहते है। भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव दोज का चद्रमा है, वही अभ्यास के वल से बढते बढते पूर्णमासी का चन्द्रमारूप केवलज्ञान हो जाता है। जिस रत्नत्रय से सहजसुख की सिद्धि होती है, उसमे आत्मज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिये द्रव्यश्रुत द्वारा छः द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौपदार्थों का ज्ञान आवश्यक है जिसके ज्ञान के लिये परमागम का अभ्यास करना बहुत आवश्यक है। इस शास्त्राभ्यास को व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहते है।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान – जिनवाणी मे बहुत से शास्त्रो का संग्रह है उन को चार अनुयोगो मे विभाजित किया गया है, जिनको चार वेद भी कहा जा सकता है।

प्रथमानुयोग :– प्रथम अवस्था के कम ज्ञानी शिष्यो को तत्त्वज्ञान की रुचि कराने मे जो समर्थ हो उसको प्रथमानुयोग कहते हैं। इनमे उन महान पुरुषो के व महान स्त्रियो के जीवन चरित्र है जिन्होने धर्म धार के आत्मा की उन्नति की है। इसमे उन चरित्रो का भी कथन है जिन्होने पाप बाधकर दुःख उठाया है व जिन्होने पुण्य बाधकर सुख साताकारी साधन प्राप्त किया है। इस तरह के वर्णन को पढने से यह असर बुद्धि पर पडता है कि हमको भी धर्म का साधन करके अपना हित करना योग्य है।

दूसरा अनुयोग **करणानुयोग** है – इसमे चार गति का स्वरूप और लोक का स्वरूप बताया है तथा जीवो की अवस्था के भेद गुणस्थान व मार्गणा स्थानो का कथन है तथा कर्मों के बन्ध, उदय, सत्ता आदि का निरूपण है। वह सब हिसाब बताया है जिससे आत्मा की अवस्थाएँ कर्म के सयोग से भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। इस ज्ञान की अध्यात्मज्ञान के लिये बहुत आवश्यकता है। जो गुणस्थानो को समझेगा वही ठीक २ जानेगा कि सम्यग्दृष्टि किस अपेक्षा बधक है तथा किस अपेक्षा अबधक है। तथा कर्म बध कौन से गुणस्थान तक होता है तथा कर्मों की अवस्था कैसे बदली जा सकती है। यह आत्मज्ञान का बडा ही सहकारी है। कर्म पुद्गल की सगति से जीव के सर्व व्यवहार नृत्य का दिग्दर्शन इस अनुयोग से होता है।

तीसरा अनुयोग **चरणानुयोग** है – मन वचन काय को थिर करने के लिये स्वरूपाचरणमयी निश्चय चारित्र मे उपयुक्त होने के लिये जिस २ व्यवहार चारित्र की आवश्यकता है वह सब इस अनुयोग मे बताया है। साधु का क्या चारित्र है व गृहस्थ श्रावक का क्या चारित्र है, वह सब विस्तार पूर्वक इस तरह बताया गया है कि हर एक स्थिति का मानव अपनी योग्यतानुसार उसका आचरण कर सके तथा सहज सुख का साधन करता हुआ राज कर्त्तव्य, देश रक्षा कर्म, वाणिज्य कर्म, कृषि कर्म, शिल्प कर्म आदि गृहस्थ योग्य आवश्यक कर्म भी कर सके, देश परदेश मे भ्रमण कर सके। लौकिक उन्नति सर्व तरह से न्याय पूर्वक करते हुए सहजसुख का साधन किया जा सके। जैसे २ वैराग्य बढे वैसे २ चारित्र को अधिक २ पाला जा सके व अधिक २ आत्मध्यान किया जा सके।

चौथा अनुयोग **द्रव्यानुयोग** है – इसमे छ द्रव्य, पाच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ का व्यवहार नय से पर्यायरूप तथा निश्चय नय से द्रव्यरूप कथन है । इसी मे शुद्धात्मानुभव रीतियाँ बताई है, जीवन मुक्त रहने का साधन बताया है, अतीन्द्रिय सहजसुख की प्राप्ति का साक्षात् उपाय बताया है । इन चार अनुयोगो के शास्त्रो को नित्य प्रति यथासम्भव अभ्यास करना व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन है ।

जैसे सम्यग्दर्शन के आठ अग है वैसे इस सम्यग्ज्ञान के भी आठ अग हैं। यदि आठ अगो के साथ शास्त्राभ्यास को किया जायेगा तो ही ज्ञान की वृद्धि होगी, अज्ञान का नाश होगा । भावो की शुद्धि होगी, कषायो की मदता होगी, ससार से राग घटेगा, वैराग्य बढेगा, सम्यक्त की निर्मलता होगी, चित्तनिरोध की कला मालूम होगी । आठ अगो को ध्यान मे रखते हुए शास्त्रो का अभ्यासी मन, वचन, काय को लीन कर लेता है – पढते २ आत्मानन्द की छटा छा जाती है ।

सम्यग्ज्ञान के आठ अंग – (१) शुद्धि ग्रन्थ :– शास्त्र के वाक्यो को शुद्ध पढना । जब तक शुद्ध ग्रन्थ नही पढगे तब तक उसका अर्थ नही भासेगा।

(२) अर्थ शुद्धि :– शास्त्र का अर्थ ठीक २ समझना । जिन आचार्यो ने ग्रन्थ की रचना की है उन्होने अपना ज्ञान पदो की स्थापना मे रख दिया है तब उन्ही स्थापनारूप पदो के द्वारा वही ज्ञान ग्रहण कर लेना जरूरी है जो ज्ञान ग्रन्थकर्त्ताओ के द्वारा उनमे भरा गया था या स्थापित किया गया था । जैसे दिशावर से आया हुआ पत्र जब ऐसा पढकर समझा जाता है कि जो मतलब भेजने वाले ने लिखा था वही जान लिया गया तब ही पत्र पढने का लाभ होता है इसलिए ग्रन्थ के यथार्थ भाव को समझना अर्थ शुद्धि है ।

(३) उभय शुद्धि :– ग्रन्थ को शुद्ध पढना और शुद्ध अर्थ समझना, दोनो का ध्यान एक साथ रखना उभय शुद्धि है ।

(४)काल शुद्धि – शास्त्रो को ऐसे समय पर पढना जब परिणामो मे निराकुलता हो । सध्या का समय आत्मध्यान तथा सामायिक करने का होता है । ऐसे समय पर भी शास्त्र पढने मे उपयोग न लगेगा जब कोई घोर आपत्ति

का समय हो, तूफान हो, भूचाल हो रहा हो, घोर कलह या युद्ध हो रहा हो, किसी महापुरुष के मरण का शोक मनाया जा रहा हो, ऐसे आपत्तियो के समय पर शाति से ध्यान करना योग्य है ।

(५) विनय -- बडे आदर से शास्त्र को पढना चाहिये, बडी भक्ति भावो मे रखनी चाहिये कि मैं शास्त्रो को इसीलिए पढता हूँ कि मुझे आत्म-ज्ञान का लाभ हो, मेरे जीवन का समय सफल हो । अन्तरग प्रेम पूर्ण भक्ति को विनय कहते है ।

(६) उपधान :-- धारणा करते हुए ग्रन्थ को पढना चाहिये । जो कुछ पढा जावे वह भीतर जमता जावे जिससे वह पीछे स्मरण मे आ सके । यदि पढते चले गये और ध्यान मे न लिया तो अज्ञान का नाश नही होगा । इसलिए एकाग्र चित्त होकर ध्यान के साथ पढना, धारणा मे रखते जाना उपधान है । यह बहुत जरूरी अग है, ज्ञान का प्रबल साधन है ।

(७) बहुमान – शास्त्र को बहुत मान प्रतिष्ठा से विराजमान करके पढना चाहिये । उच्च चौकी पर रखकर आसन से बैठकर पढना उचित है तथा शास्त्र को अच्छे गत्ते वेष्टन से विभूषित करके जहा दीमक न लगे, शास्त्र सुरक्षित रहे इस तरह विराजमान करना चाहिये ।

(८) अनिह्नव :-- शास्त्रज्ञान अपने को हो उसको छिपाना नही चाहिये, कोई समझना चाहे तो उसको समझाना चाहिये । तथा जिस गुरु से समझा हो उसका नाम न छिपाना चाहिये । इस तरह जो आठ अगो को पालता हुआ शास्त्रो का मनन करेगा वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन करता हुआ आत्म-ज्ञान रूपी निश्चय सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सकेगा ।

ज्ञान के आठ भेद – यद्यपि ज्ञान एक ही है, वह आत्मा का स्वभाव है, उसमे कुछ भेद नही है जैसे सूर्य के प्रकाश मे कोई भेद नही है तथापि सूर्य के ऊपर घने मेघ आ जावें तो प्रकाश कम झलकता है मेघ उससे कम हो तो और अधिक प्रकाश प्रगट होता, और अधिक कम मेघ हो तो और अधिक प्रकाश झलकता । और भी अधिक कम मेघ हो तो और भी अधिक प्रकाश प्रगट होता । बिलकुल मेघ न हो तो पूर्ण प्रकाश प्रगट होता है । इस तरह मेघो के कम व

अधिक आवरण के कारण सूर्य प्रकाश के पाच भेद हो सकते है तथा और भी सूक्ष्म विचार करोगे तो सूर्य के प्रकाश के अनेक भेद हो सकते हैं उसी तरह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय के अनुसार ज्ञान के मुख्य पाच भेद हो गये है – **मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान** तथा **केवलज्ञान**। मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान जब मिथ्यादृष्टि के होते है – **कुमति, कुश्रुत, कुअवधि** कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत, अवधि कहलाते है। इस तरह तीन कुज्ञान को लेकर ज्ञान के आठ भेद हो जाते है।

मतिज्ञान :– पाच इन्द्रिय तथा मन के द्वारा सीधा किसी पदार्थ का जानना मतिज्ञान है। जैसे स्पर्श इन्द्रिय से स्पर्श करके किसी पदार्थ को ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना, नरम, कठोर, हलका, भारी जानना। रसना इन्द्रिय से रसना द्वारा रसना योग्य पदार्थ को स्पर्श करके खट्टा, मीठा, चरपरा, कडवा, कसायला या मिश्रित स्वाद जानना। नासिका इन्द्रिय से गधयोग्य पदार्थ को छूकर सुगन्ध या दुर्गन्ध जानना। चक्षु इन्द्रिय से बिना स्पर्श किये दूर से किसी पदार्थ को सफेद, लाल, पीला, काला या मिश्रित रग रूप जानना। कानो से शब्द स्पर्श कर सुरीला व असुरीला शब्द जानना। मन के द्वारा दूर से किसी अपूर्व बात को यकायक जान लेना। इस तरह जो सीधा ज्ञान इन्द्रिय व मन से होता है उसको मतिज्ञान कहते है। जितना मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है उतनी ही अधिक मतिज्ञान की शक्ति प्रकट होती है। इसलिये सर्व प्राणियो का मतिज्ञान एकसा नही मिलेगा। किसी के कम, किसी के अधिक, किसी के मन्द, किसी के तीव्र। जानी हुई चीज का स्मरण हो जाना व एक दफे इन्द्रियो से व मन से जानी हुई चीज को फिर ग्रहण कर पहचानना कि वही है यह सज्ञा ज्ञान, तथा यह चिन्ता ज्ञान कि जहा जहा धूम होगा वहा वहा आग होगी। जहा जहा सूर्य का प्रकाश होगा कमल प्रफुल्लित होगे तथा चिन्ह को देखकर या जानकर चिन्हो का जानना, धूम को देखकर अग्नि का जानना यह अनुमान ज्ञान, ये सब भी मतिज्ञान है क्योकि मतिज्ञानावरण कर्म क क्षयो-पशम से होते है।

श्रुतज्ञान – मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के द्वारा दूसरे पदार्थ का या विषय का जानना श्रुतज्ञान है। जैसे कान से आत्मा शब्द सुना यह मतिज्ञान

है। आत्मा शब्द से आत्मा के गुण पर्याय आदि का बोध करना श्रुतज्ञान है। इसीलिए शास्त्रज्ञान को श्रुतज्ञान कहते है। हम अक्षरो को देखते है या सुनते है उनके द्वारा फिर मन से विचार करके शब्दो से जिन जिन पदार्थों का सकेत होता है उनको ठीक ठीक जान लेते है यही श्रुतज्ञान है, यह श्रुतज्ञान मनके ही द्वारा होता है। श्रुतज्ञान के दो भेद है :-- अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान। जो अक्षरो के द्वारा अर्थ विचारने पर हो वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है जैसे शास्त्र द्वारा ज्ञान। जो स्पर्शनादि इन्द्रियो से मतिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानकर फिर उस ज्ञान के द्वारा उस पदार्थ मे हितरूप या अहितरूप बुद्धि हो सो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह एकेन्द्रियादि सब प्राणियो को होता है। जैसे वृक्ष को कुल्हाडी लगाने से कठोर स्पर्श का ज्ञान होना सो मतिज्ञान है, फिर उससे दु ख का बोध होना श्रुतज्ञान है। लट को रसना के द्वारा स्वाद का ज्ञान होना मतिज्ञान है, फिर उसे वह सुखदाई या दु खदाई भासना श्रुत-ज्ञान है। चीटी को दूर से सुगन्ध आना मतिज्ञान है फिर सुगधित पदार्थ की ओर आने की बुद्धि होना श्रुतज्ञान है। पतग को आख से दीपक का वर्ण देखकर ज्ञान होना मतिज्ञान है। वह हितकारी भासना श्रुतज्ञान है। कर्ण से कठोर शब्द सुनना मतिज्ञान है, वह अहितकारी भासना श्रुतज्ञान है। मति-श्रुतज्ञान सर्व प्राणियो को सामान्य से होते है। एकेन्द्रियादि पचेन्द्रिय पर्यंत सबके इन दो ज्ञानो से कम ज्ञान नही होते हैं। इन दो ज्ञानो की शक्ति होती है, परन्तु ये ज्ञान भी क्रम से काम करते है।

अवधिज्ञान :-- अवधि नाम मर्यादा का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए पुद्गलो को या पुद्गल सहित अशुद्ध जीवो का वर्णन जानना इस ज्ञान का काम है। द्रव्य से मतलब है कि मोटे पदार्थ को जाने कि सूक्ष्म को जाने, क्षेत्र से मतलब है कि कितनी दूर तक की जाने, एक कोस की या १०० या १००० या १०००० आदि कोस तक की जाने। काल से मतलब है कि कितने समय आगे व पीछे की जाने। १० वर्ष, १०० वर्ष एक भव या अनेक भव को आगे पीछे। भाव से मतलब अवस्था विशेष या स्वभाव विशेष से है। अवधिज्ञान के बहुत से भेद हो सकते है, जिसको जितना अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। उतना कम या अधिक अवधिज्ञान होता है। इसे ज्ञान

के होने में मन व इन्द्रियो की जरूरत नही है आत्मा स्वय ही जानता है। देव तथा नारकियो को तो जन्म से ही होता है। पशुओ को व मानवो को सम्यक्त के व तप के प्रभाव से होता है। यह एक प्रकार की ऐसी विशेष शक्ति का प्रकाश है जिससे अवधिज्ञानी किसी मानव को देखकर विचारता हुआ उसके पूर्व जन्म व आगामी जन्म की घटनाओ को जान सकता है। योगी तपस्वी ऐसा अधिक अवधिज्ञान पा सकते है कि सैकडो जन्म पूर्व व आगे की बाते जान लेवे। ज्ञान की जितनी निर्मलता होती है उतना ही उसका अधिक प्रकाश होता है।

मनःपर्ययज्ञान -- दूसरो के मन मे पुद्गल व अशुद्ध जीवो के सम्बन्ध मे क्या विचार चल रहा है व विचार हो चुका है व विचार होवेगा उस सर्व को जो कोई आत्मा के द्वार जान सके वह मनःपर्ययज्ञान है, यह ज्ञान बहुत सूक्ष्म बातो को जान सकता है। जिसको अवधिज्ञानी भी न जान सके इसलिये यह ज्ञान अवधिज्ञान से अधिक निर्मल है। यह ज्ञान ध्यानी तपस्वी योगियो के ही होता है – सम्यग्दृष्टि महात्माओ के ही होता है। मन पर्यय ज्ञानावरण कर्म के कम व अधिक क्षयोपशम के अनुसार किसी को कम या किसी को अधिक होता है।

केवलज्ञान :-- सर्व ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तज्ञान का प्रकाश होना केवलज्ञान है। यही स्वाभाविक पूर्ण ज्ञान है, जो परमात्मा अरहत तथा सिद्ध मे सदा व्यक्ति रूप मे चमकता रहता है ससारी जीवो मे शक्ति रूप से रहता है उस पर ज्ञानावरण का पर्दा पडा रहता है। जब शुक्ल ध्यान के प्रभाव से सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाता है तब ही यह ज्ञान तेरहवे गुणस्थान मे सयोग केवली जिनको प्रगट होता है। एक दफे प्रकाश होने पर फिर वह मलीन नही होता है, सदा ही शुद्ध स्वभाव मे प्रगट रहता है। पाच ज्ञानो मे मति, श्रुति परोक्ष है क्योकि इन्द्रिय व मन से होते है परन्तु तीन ज्ञान प्रत्यक्ष है – आत्मा से ही होते हैं।

श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है :-- इन चार ज्ञानो मे श्रुतज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जिससे शास्त्र ज्ञान होकर आत्मा का भेदविज्ञान होता है कि यह आत्मा भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नौकर्म शरीरादि से

भिन्न है, सिद्धसम शुद्ध है। जिसको आत्मानुभव हो जाता है वही भाव श्रुत-ज्ञान को पा लेता है। यही आत्मानुभव ही केवलज्ञान को प्रकाश कर देता है। किसी योगी को अवधिज्ञान व मन पर्ययज्ञान भी हो तो भी श्रुतज्ञान के बल से केवलज्ञान हो सकता है। अवधि मन पर्ययज्ञान का विषय ही शुद्धात्मा नही है, ये तो रूपी पदार्थ को ही जानते है जब कि श्रुतज्ञान अरूपी पदार्थों को भी जान सकता है इसलिये श्रुतज्ञान प्रधान है। हम लोगो को उचित है कि हम शास्त्र-ज्ञान का विशेष अभ्यास करते रहे जिससे आत्मानुभव मिले। यही सहज सुख का साधन है व यही केवलज्ञान का प्रकाशक है।

चार दर्शनोपयोग – पहले हम बता चुके है कि जीव के पहिचानने के आठ ज्ञान व चार दर्शन साधन है। दर्शन और ज्ञान मे यह अन्तर है कि ज्ञान साकार है, दर्शन निराकार है। दर्शन मे पदार्थ का बोध नही होता है। जब बोध होने लगता है तब उसे ज्ञान कहते है। जिस समय आत्मा का उपयोग किसी पदार्थ के जानने की तैयारी करता है तब ही दर्शन होता है, उसके पीछे जो कुछ ग्रहण मे आता है वह ज्ञान है। कर्ण मे शब्द आते ही जब उपयोग उधर गया और शब्द को जाना नही तब दर्शन है। जब जान लिया कि शब्द है तब ज्ञान कहा जाता है। अल्पज्ञानियो के दर्शन पूर्वक मतिज्ञान होता है, मतिज्ञान पूर्वक श्रुतज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टि महात्माओ को अवधि दर्शन पूर्वक अवधिज्ञान होता है। केवलज्ञानी को केवलदर्शन, केवलज्ञान के साथ २ होता है। चक्षु इन्द्रिय द्वारा जो दर्शन हो वह चक्षुदर्शन है। जैसे आँख ने घड़ी को जाना यह मतिज्ञान है। इसी तरह चक्षु इन्द्रिय के सिवाय चार इन्द्रिय और मन से जो दर्शन होता है वह अचक्षुदर्शन है। अवधिदर्शन सम्यक्ती ज्ञानियो को आत्मा से होता है। केवलदर्शन सर्वदर्शी है, वह दर्शनावरण कर्म के सर्वथा क्षय से प्रगट होता है।

निश्चय और व्यहारनय :– प्रमाण जब वस्तु को सर्वांग ग्रहण करता है तब नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है व बताता है। पहले कहे गये पाचो ज्ञान प्रमाण हैं व तीन कुज्ञान प्रमाणाभास हैं। जैसे कोई मानव व्यापारी है और मजिस्ट्रेट भी है, प्रमाणज्ञान दोनो बातो को एक साथ जानता है। नय की अपेक्षा किसी समय वह व्यापारी कहा जायेगा तब मजिस्ट्रेटपना गौण

रहेगा व कभी मजिस्ट्रेट कहा जायेगा तब व्यापारीपना गौण रहेगा। अध्यात्म शास्त्रो में निश्चयनय और व्यवहारनय का उपयोग बहुत मिलता है। स्वाश्रय निश्चय पराश्रय व्यवहार जो नय एक ही वस्तु को उसी को पर की अपेक्षा बिना वर्णन करे वह निश्चयनय है। जो किसी वस्तु को परकी अपेक्षा से और का और कहे वह व्यवहारनय है। एक खडग सोने की म्यान के भीतर है, उसमें खडग को खडग और म्यान को म्यान कहना निश्चयनय का काम है तथा सोने को खडग कहना व्यवहार नय का काम है। लोक मे ऐसा व्यवहार चलता है कि परके सयोग से उस वस्तु को अनेक तरह से कहा जाता है।

जैसे दो खड़ग रक्खी है, एक चादी के म्यान मे है और एक सोने के म्यान मे है। किसी को इनमे से एक ही खडग चाहिये थी, वह इतना लम्बा वाक्य नही कहता है कि सोने की म्यान मे रखी हुई खडग लाओ, किन्तु छोटा वाक्य कह देता है कि सोने की खडग लाओ। तब यह वचन व्यवहार मे असत्य नही है किन्तु निश्चय से असत्य है, क्योकि वह भ्रम पैदा कर सकता है कि खडग सोने की है जबकि खडग सोने की नही है। इसी तरह हमारी आत्मा मनुष्य आयु व गति के उदय से मनुष्य के शरीर मे है, आत्मा भिन्न है। तैजस कार्माण और औदारिक शरीर भिन्न है। निश्चयनय से आत्मा को आत्मा ही कहा जायेगा। व्यवहारनय से आत्मा को मनुष्य कहने का लोक व्यवहार है क्योकि मनुष्य शरीर मे वह विद्यमान है। आत्मा को मनुष्य कहना व्यवहार से सत्य है तो भी निश्चय नय से असत्य है, क्योकि आत्मा मनुष्य नही है, उसका कर्म मनुष्य है, उसका देह मनुष्य है।

निश्चयनय को भूतार्थ, सत्यार्थ, यथार्थ, वास्तविक, असल मूल कहते है। व्यवहारनय को असत्यार्थ, अभूतार्थ, अयथार्थ, अवास्तविक कहते हैं। ससारी आत्मा को समझने के लिए व पर के सयोग मे प्राप्त किसी भी वस्तु को समझने के लिये दोनो नयो की आवश्यकता पडती है। कपडा मलीन है उसको शुद्ध करने के लिये दोनो नयो के ज्ञान की जरूरत है। निश्चयनय से कपडा उज्ज्वल है, रूई का बना है व्यवहारनय से मैला कहाता है, क्योकि मैल का सयोग है। यदि एक ही नय या अपेक्षा को समझे तो कपडा कभी स्वच्छ नही हो सकता है। यदि ऐसा मानले कि कपडा सर्वथा शुद्ध ही है तब भी वह

शुद्ध नही किया जायेगा । यदि मानले कि मैला ही है तब भी वह शुद्ध नहीं किया जायेगा । शुद्ध तब ही किया जायेगा जब यह माना जायेगा कि असल मे मूल मे तो यह शुद्ध है परन्तु मैल के सयोग से वर्तमान मे इसका स्वरूप मैला हो रहा है । मैल पर है छुडाया जा सकता है ऐसा निश्चय होने पर ही कपडा साफ किया जायेगा । इसी तरह निश्चयनय कहता है कि आत्मा शुद्ध है । व्यवहारनय कहता है कि आत्मा अशुद्ध है, कर्मो से बद्ध है दोनो बातो को जानने पर ही कर्मो को काटने का पुरुषार्थ किया जायेगा ।

निश्चयनय के भी दो भेद अध्यात्म शास्त्रो मे लिये गये हैं — एक शुद्ध निश्चयनय, दूसरा अशुद्ध निश्चयनय । जिसका लक्ष्य केवल शुद्ध गुण पर्याय व द्रव्य पर हो वह शुद्ध निश्चयनय है व जिसका लक्ष्य उसी एक द्रव्य के अशुद्ध द्रव्य, गुण पर्याय पर हो वह अशुद्ध निश्चय है जैसे जीव सिद्धसम शुद्ध है यह वाक्य शुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है । यह जीव रागी द्वेषी है यह वाक्य अशुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है । राग द्वेष जीव के ही नैमित्तिक व औपाधिक भाव है । उन भावो मे मोहनीय कर्म का सयोग पा रहा है इसलिये वे भाव शुद्ध नही हैं, अशुद्ध भाव हैं । इन अशुद्ध भावो को आत्मा के भाव कहना अशुद्ध निश्चयनय से ठीक है, जबकि शुद्ध निश्चयनय से ठीक नही है । ये दोनो नय एक ही द्रव्य पर लक्ष्य रखते हैं ।

व्यवहारनय के कई भेद हैं — **अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय** । यह वह नय है कि पर वस्तु का किसी से सयोग होते हुए ही पर को उसका कहना । जैसे यह घी का घडा है । इसमे घी का सयोग है इसलिये घडे को घी का घडा कहते है । यह जीव पापी है, पुण्यात्मा है । यह जीव मानव है, पशु है । यह गोरा है, यह काला है । ये सब वाक्य इस नय से ठीक है, क्योकि कार्माण व औदारिक शरीर का सयोग है इसलिये अनुपचरित है परन्तु है आत्मा के मूल स्वरूप से भिन्न इसलिये असद्भूत हैं । बिल्कुल भिन्न वस्तु को किसी की कहना **उपचरित असद्भूत व्यवहारनय** है । जैसे यह दुकान रामलाल की है, यह टोपी बालक की है, यह स्त्री रामलाल की है, यह गाय फतहचन्द की है, ये कपडे मेरे है, ये आभूषण मेरे है, यह देश मेरा है ।

निश्चयनय का विषय जब वस्तु को अभेद रूप से अखण्ड रूप से ग्रहण करना है तब उसी को खण्डरूप से ग्रहण करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। ऐसा भी शास्त्रो मे विवेचन है। जैसे आत्मा को अभेद एक ज्ञायक मात्र ग्रहण करना निश्चयनय का अभिप्राय है तब आत्मा को ज्ञानरूप, दर्शनरूप, चारित्ररूप इस तरह गुण व गुणी भेद करके कहना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। कही कही इस सद्भूत व्यवहार को भी निश्चयनय मे गर्भित करके कथन किया गया है क्योकि यह सद्भूत व्यवहार भी एक ही द्रव्य की तरफ भेदरूप से लक्ष्य रखता है, परकी तरफ लक्ष्य नही है। जहा परकी तरफ लक्ष्य करके पर का कथन है वह असद्भूत व्यवहारनय है या सामान्य से ही व्यवहारनय है।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय — जो नय या अपेक्षा केवल द्रव्य को लक्ष्य मे लेकर वस्तु को कहे वह द्रव्यार्थिक है। जो द्रव्य की किसी पर्याय को लक्ष्य मे लेकर कहे वह पर्यायार्थिक है। जैसे द्रव्यार्थिकनय से हर एक आत्मा समानरूप से शुद्ध है, निज स्वरूप मे है। पर्यायार्थिकनय से आत्मा सिद्ध है, ससारी है, पशु है, मानव है, वृक्ष है इत्यादि। यह आत्मा नित्य है द्रव्यार्थिकनय का वाक्य है। यह आत्मा ससारी अनित्य है, यह पर्यायार्थिकनय का वाक्य है, क्योकि द्रव्य कभी नाश नही होता है, पर्याय क्षण मे बदलती है।

नैगमादि सप्तनय — जगत मे अपेक्षावाद के बिना व्यवहार नही हो सकता है। भिन्न भिन्न अपेक्षा से वाक्य सत्य माने जाते है। उन अपेक्षाओ को या नयो को बताने के लिये जिनसे लोक मे व्यवहार होता है, जैन सिद्धात मे सात नय प्रसिद्ध है — नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवभूत। इनमे पहले तीन नय द्रव्यार्थिक मे गर्भित है क्योकि इनकी दृष्टि द्रव्य पर रहती है, शेष चार नय पर्यायार्थिक मे गर्भित है क्योकि उनकी दृष्टि पर्याय पर ही रहती है तथा अन्त के तीन नयो की दृष्टि शब्द पर रहती है, इसलिये वे शब्दनय है। शेष चार की दृष्टि पदार्थ पर मुख्यता से रहती है इससे वे अर्थनय है।

नैगमनय :-- जिसमे सकल्प किया जावे नैगमनय है। भूतकाल की बात को वर्तमान मे सकल्प करना यह भूतनैगमनय है। जैसे कार्तिक सुदी १४ को

कहना कि आज श्री वर्द्धमानस्वामी का निर्वाण दिवस है। भावी नैगमनय भविष्य की बात को वर्तमान मे कहता है जैसे अर्हन्त अवस्था मे विराजित किसी केवली को सिद्ध कहना। वर्तमान नैगमनय वह है जो वर्तमान की अधूरी बात को पूरी कहे जैसे कोई लकडी काट रहा है, उससे किसी ने पूछा क्या कर रहे हो ? उसने कहा किवाड बना रहा हू। क्योकि उसका उद्देश्य लकडी काटने मे किवाड ही बनाने का है।

संग्रहनय -- जो एक जाति के बहुत से द्रव्यो को एक साथ बतावे वह सग्रहनय है। जैसे कहना कि सत् द्रव्य का लक्षण है। यह वाक्य सर्व द्रव्यो को सत् बताता है। जीव का उपयोग लक्षण है। यह वाक्य सब जीवो का लक्षण उपयोग सिद्ध करता है।

व्यवहारनय -- जिस अपेक्षा से सग्रहनय से ग्रहीत पदार्थों का भेद करते चले जावे वह व्यवहारनय है। जैसे कहना कि द्रव्य छ है जीव ससारी और सिद्ध है – ससारी स्थावर व त्रस है, स्थावर पृथ्वी आदि पाच प्रकार के हैं इत्यादि।

ऋजुसूत्रनय .– जो सूक्ष्म तथा स्थूल पर्याय मात्र को जो वर्तमान मे है उसी को ग्रहण करे वह ऋजुसूत्रनय है। जैसे स्त्री को स्त्री, पुरुष को पुरुष, श्वान को श्वान, अश्व को अश्व, क्रोध पर्याय सहित को क्रोधी, दया भाव सहित को दयावान कहना।

शब्दनय -- व्याकरण व साहित्य के नियमो की अपेक्षा से शब्दो को व्यवहार करना शब्दनय है। उसमे लिग, वचन, कारक, काल आदि का दोष झलकता हो तो भी उसे नही गिनना सो शब्दनय है। जैसे स्त्री को सस्कृत मे दारा, भार्या, कलत्र कहते है। यहा दारा शब्द पुल्लिग है, कलत्र नपुंसक लिंग है तो भी ठीक है। कोई महान पुरुष आ रहा है उसे प्रतिष्ठावाचक शब्द में कहते हैं – वे आ रहे हैं। यह वाक्य यद्यपि बहुवचन का प्रयोग एकवचन मे है तथापि शब्दनय से ठीक है। कही की कथा का वर्णन करते हुए भूतकाल मे वर्तमान का प्रयोग कर देते है जैसा सेना लड रही है, तोपे चल रही हैं, रुधिर की धारा बह रही है, मृतको के मुण्ड लोट रहे है ये सब वाक्य भूतकाल के

वर्तमान काल मे प्रयोग करना शब्दनय से ठीक है। शब्द नय मे शब्दो पर ही दृष्टि है कि शब्द भाषा साहित्य के अनुसार व्यवहार किया जावे।

समभिरूढ़नय – एक शब्द के अनेक अर्थ प्रसिद्ध है। उनमे से एक अर्थ को लेकर किसी के लिये व्यवहार करना समभिरूढ नय है। जैसे गो शब्द के अर्थ, नक्षत्र, आकाश, बिजली, पृथ्वी, वाणी आदि है, तो भी गाय के लिये भी व्यवहार करना समभिरूढनय से ठीक है। यद्यपि गो शब्द के अर्थ जाननेवाले के है। तथापि सोई, बैठी हरएक दशा मे गाय पशु को गो कहना समभिरूढ नय से ठीक है या एक पदार्थ के अनेक शब्द नियत करना, चाहे उनके अर्थो मे भेद हो, यह भी समभिरूढ नय से है। जैसे स्त्री को स्त्री, अबला, नारी आदि कहना। अथवा इन्द्र को शक्र, पुरन्दर, इन्द्र, सहस्राक्षी आदि कहना। यहा इन शब्दो के भिन्न २ अर्थ है तो भी एक व्यक्ति के लिये व्यवहार करना समभिरूढ नय से ठीक है।

एवंभूत :– जिस शब्द का जो वास्तविक अर्थ हो उसी समान क्रिया करते हुए को उसी शब्द से व्यवहार करना एवभूतनय है। जैसे वैद्यक करते हुए वैद्य को वैद्य कहना, दुर्बल स्त्री को ही अबला कहना, पूजन करते को पुजारी कहना, राज्य करते हुए न्याय करते हुए को राजा कहना। लोक व्यवहार में इन नयो की बड़ी उपयोगिता है।

स्याद्वादनय या सप्तभंगवाणी :– पदार्थ में अनेक स्वभाव रहते है जो साधारण रूप से विचारने में विरोधरूप भासते हैं परन्तु वे सब भिन्न २ अपेक्षा से पदार्थ रूप से पाए जाते हैं उनको समझाने का उपाय स्याद्वाद या सप्तभग है।

हर एक पदार्थ में अस्ति या भावपना, नास्ति या अभावपना ये दो विरोधी स्वभाव है। नित्यपना तथा अनित्यपना ये भी दो विरोधी स्वभाव है। एकपना और अनेकपना ये भी दो विरोधी स्वभाव है। एक ही समय मे एक ही स्वभाव को वचन द्वारा कहा जाता है तब दूसरा स्वभाव यद्यपि कहा नही जाता है। तो भी पदार्थ मे रहता अवश्य है, इसी बात को जताने के लिये स्याद्वाद है।

स्यात् अथवा कथचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से वाद अर्थात् कहना सो स्याद्वाद है। जैसे एक पुरुष पिता भी है पुत्र भी है उसको जब किसी को समभावेंगे तब कहेगे कि स्यात् पिता अस्ति। किसी अपेक्षा से (अपने पुत्र की अपेक्षा से) पिता है। यहा स्यात् शब्द बताता है कि वह कुछ और भी है। फिर कहेगे स्यात् पुत्र अस्ति – किसी अपेक्षा से (अपने पिता की अपेक्षा से) पुत्र है। वह पुरुष पिता व पुत्र दोनो है। ऐसा दृढ करने के लिये तीसरा भग कहा जाता है 'स्यात् पिता पुत्रश्च'।

किसी अपेक्षा से यदि दोनो को विचार करें तो वह पिता भी है पुत्र भी है। वह पिता व पुत्र तो एक ही समय मे है परन्तु शब्दो मे यह शक्ति नही है कि दोनो स्वभावो को एक साथ कहा जा सके। अतएव कहते है चौथा भग-स्यात् अवक्तव्य। किसी अपेक्षा से यह वस्तु अवक्तव्य है, कथनगोचर नही है। यद्यपि यह पिता व पुत्र दोनो एक समय में है, परन्तु कहा नही जा सकता। सर्वथा अवक्तव्य नही है इसी बात को दृढ करने के लिये शेष तीन भग हैं। स्यात् पिता अवक्तव्य च। किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता है, स्यात् पुत्रः अवक्तव्य च। किसी अपेक्षा अवक्तव्य होने पर भी पुत्र है। स्यात् पिता पुत्रश्च अवक्तव्य च किसी अपेक्षा अवक्तव्य होने पर भी पिता व पुत्र दोनो है। इस तरह दो विरोधी स्वभावो को समझाने के लिये सात भग शिष्यो को दृढ़ ज्ञान कराने के हेतु किये जाते है। वास्तव में उस पुरुष में तीन स्वभाव है – पिता पना, पुत्र पना व अवक्तव्य पना इसी के सात भंग ही हो सकते हैं न छः न आठ। जैसे १ पिता, २ पुत्र, ३ पिता पुत्र, ४ अवक्तव्य, ५ पिता अवक्तव्य, ६ पुत्र अवक्तव्य, ७ पिता पुत्र अवक्तव्य।

यदि किसी को सफेद, काला, पीला, तीन रग दिये जावें और कहा जावे कि इसके भिन्न २ रग बनाओ तो वह नीचे प्रमाण सात ही बना देगा।

१ सफेद, २ काला, ३ पीला, ४ सफेद काला, ५ सफेद पीला, ६ काला पीला, ७ सफेद काला पीला। इससे कम व अधिक नही बन सकते हैं।

आत्मा के स्वभाव को समझने के लिये इस स्याद्वाद की बडी जरूरत है। आत्मा मे अस्तित्व या भावपना अपने अखड द्रव्य, अपने असख्यात प्रदेश रूप क्षेत्र, अपनी स्वाभाविक पर्यायरूप काल व अपने शुद्ध ज्ञानानन्द मय भाव

की अपेक्षा है उसी समय इस अपने आत्मा मे सम्पूर्ण अन्य आत्माओ के, सर्व पुद्‌गलो के, धर्म, अधर्म, आकाश व काल के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव का नास्तिपना या अभाव भी है। अस्तित्व के साथ नास्तित्व न हो तो यह आत्मा है। यह भी श्री महावीर स्वामी का आत्मा है अन्य नही है यह बोध ही न हो। आत्मा मे आत्मापना तो है परन्तु आत्मा मे भाव कर्म रागादि, द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, नौकर्म शरीरादि इनका तथा अन्य सर्व द्रव्यो का नास्तित्व है या अभाव है ऐसा जानने पर आत्मा का भेदविज्ञान होगा, आत्मानुभव हो सकेगा। इसी को सात तरह से कहेगे –

१ स्यात् अस्ति आत्मा, २ स्यात् नास्ति आत्मा, ३ स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा, ४ स्यात् अवक्तव्य, ५ स्यात् अस्ति आत्मा अवक्तव्य च, ६ स्यात् नास्ति आत्मा अवक्तव्यं च, ७ स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा अवक्तव्य च। इसी तरह यह आत्मा अपने द्रव्य व स्वभाव की अपेक्षा ध्रुव है नित्य है तब ही पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इस तरह एक ही समय मे आत्मा मे नित्यपना तथा अनित्यपना दोनो स्वभाव हैं इसी को सात भगो द्वारा समझाया जा सकता है।

१ स्यात् नित्य, २ स्यात् अनित्य, ३ स्यात् नित्य अनित्य, ४ स्यात् अवक्तव्य, ५ स्यात् नित्य अवक्तव्य च, ६ स्यात् अनित्य अवक्तव्य च, ७ स्यात् नित्य अनित्य अवक्तव्य च।

इसी तरह आत्मा अनत गुणो का अभेद पिंड है, इसलिये एक रूप है। वही आत्मा उसी समय ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञानरूप है, सम्यक्त गुण की अपेक्षा सम्यक्त्व रूप है, चारित्र गुण की अपेक्षा चारित्र रूप है, वीर्यगुण की अपेक्षा वीर्यरूप है। जितने गुण आत्मा मे हैं वे सर्व आत्मा मे व्यापक हैं। इस लिये उनकी अपेक्षा आत्मा अनेक रूप है। इसी के सप्तभग इस तरह करेगे – स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् एक अनेकश्च स्यात् अवक्तव्य स्यात् एक अवक्तव्य च, स्यात् अनेक अवक्तव्य च, स्यात् एक अनेक अवक्तव्य च।

यह ससारी आत्मा स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध है, उसी समय कर्म सयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। इसके भी सात भग बनेगे। स्यात् शुद्ध, स्यात् अशुद्ध, स्यात् शुद्धः अशुद्धः, स्यात् अवक्तव्यं, स्यात् शुद्धः अवक्तव्य च, स्यात् अशुद्ध अवक्तव्यं च, स्यात् शुद्ध अशुद्धः अवक्तव्य च।

स्याद्वाद के बिना किसी पदार्थ के अनेक स्वभावों का ज्ञान अज्ञानी शिष्य को न होगा । इसलिये यह बहुत आवश्यक सिद्धान्त है, आत्मा के भेद विज्ञान के लिये भी बहुत ही जरूरी है तथा यह स्याद्वाद का सिद्धांत अनेक एकान्त मत के धारियो का एकान्त हठ छुडाकर उनमे प्रेम व ऐक्य स्थापन करने का भी साधन है ।

जैसे दूर से किसी का मकान पाँच आदमियो को दिखाई दिया, वह मकान भिन्न भिन्न स्थानो पर पाच तरह के रगो से रगा है । जिसकी दृष्टि सफेदी पर पडी वह कहता है (मकान सफेद है), जिसकी दृष्टि लाल रग पर पडी वह कहता है, मकान लाल है, जिसकी दृष्टि पीले रंग पर पडी वह कहता है, मकान पीला है, जिसकी दृष्टि नीले रग पर पडी वह कहता है, मकान नीला है, जिसकी दृष्टि काले रंग पर पडी वह कहता है, मकान काला है । इस तरह आपस मे झगडते थे, तब एक समझदार ने कहा कि क्यो झगडते हो, तुम सब एकात से सच्चे हो परन्तु पूर्ण सत्य नही हो। यह मकान पांच रग का है, ऐसा समझो । जब पाचो ने यह बात समझली तब उन सबका एकात हट गया तब सबको बडा आनद हुआ । इसी तरह अनेकान्तमय – अनेक स्वभाव वाले पदार्थ को अनेक स्वभाववाला बताने को स्याद्वाद दर्पण के समान है व परस्पर विरोध मेटने को एक अटल न्यायाधीश के समान है । सहज सुख साधन के लिये तो बहुत ही उपयोगी है । कल्पित इन्द्रिय सुख को त्यागने योग्य व अतीन्द्रिय सुख को ग्रहण योग्य बताने वाला है ।

सम्यग्ज्ञान का फल – निश्चयनय से आत्मा को आत्मारूप ही जानना सम्यग्ज्ञान है । जैसे सूर्य पर मेघो के आ जाने से प्रकाश अत्यल्प प्रगट है तो भी समझदार जानता है कि सूर्य का प्रकाश उतना ही नही है, वह तो दोपहर के समय मेघ रहित जैसा पूर्ण प्रकाशमान रहता है वैसा ही है मेघो के कारण कम प्रकाश है । सूर्य का स्वभाव ऐसा नही है । ऐसा जो सूर्य के असली प्रकाश को-पूर्ण प्रकाश को भली प्रकार बिना किसी सशय के जानता है वही सम्यग्ज्ञानी है, इसी तरह अपने आत्मा पर ज्ञानावरणादि कर्मो के मेघ होने पर ज्ञान का प्रकाश कम व मलीन हो रहा है । रागी द्वेषी अज्ञानमय हो रहा है तो भी यह

आत्मा वास्तव मे सर्वज्ञ वीतराग है, पूर्ण ज्ञानानद है ऐसा जो सशय रहित, विपरीतता रहित, अनध्यवसाय (आलस्य) रहित जानना है वही सम्यग्ज्ञानी है।

आत्मा द्रव्य चाहे वह वृक्ष मे हो चाहे वह कीट मे, पतग मे, श्वान मे, अश्व मे, मानव मे, नीच मे, ऊंच में, राजा मे, रक मे, निरोगी मे, रोगी मे, कुरूप मे, सुरूप मे, वृद्ध मे, बाल मे, युवा मे, किसी भी सजीव प्राणी मे हो, सबका आत्मा एक समान शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदि गुणो का धारी, भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नो कर्म शरीरादि रहित परमात्मा के समान है। ऐसा पर्याय ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। रुई के (१००) सौ वस्त्र सौ प्रकार के रगों से रगे हुए रक्खे है। जो उन सबको एकरूप सफेद रुई के वस्त्र देखता है और भिन्न २ रंगों को उनसे भिन्न देखता है, वही ज्ञानी है। इसी तरह पुद्गल के संयोग से विचित्र रूप दिखने वाले नाना प्रकार आत्माओ को जो एक समान शुद्ध ज्ञानानन्दमय देखता है और पुद्गल को भिन्न देखता है वही सम्यग्ज्ञानी है।

इस सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से राग, द्वेष, मोह मिटता है, समताभाव जागृत होता है, आत्मा मे रमण करने का उत्साह बढता है, सहजसुख का साधन बन जाता है, स्वानुभव जागृत हो जाता है, जिसके प्रताप से सुख शांति का लाभ होता है। आत्मबल बढ़ता है, कर्म का मैल कटता है, परम धैर्य प्रकाशित होता है, यह जीवन परम सुन्दर सुवर्णमय हो जाता है। अतएव हर एक स्व-हित वाछक को जिनेन्द्र प्रणीत परमागम के अभ्यास से आत्मज्ञान रूप निश्चय सम्यग्ज्ञान का लाभ लेकर सदा सुखी रहना चाहिये।

आगे सम्यग्ज्ञान के महात्म्य व स्वरूप के सम्बन्ध में जैनाचार्यों के वाक्यों को पाठकगण मनन करके आनन्द उठावें —

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते है :—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१-१॥

भावार्थ :— केवल ज्ञान मे परिणमन करते हुए सर्वज्ञ वीतराग अरहत परमात्मा को सर्व द्रव्य तथा उनकी सर्व पर्याय प्रत्यक्ष रूप से प्रगट हो जाती है

जैसे स्फटिक मणि के अन्दर तथा बाहर में प्रगट पदार्थ दीखते है उसी तरह भगवान को सब प्रत्यक्ष है। वे भगवान उन द्रव्य व पर्यायो को अवग्रह ईहा आदि मतिज्ञान द्वारा परकी सहायता से व क्रम पूर्वक नही जानते है, एक समय में सबको जानते है।

णत्थि परोक्खं किंचिवि, समन्त सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीवस्स सदा, सयमेव हि णाणजावस्स ॥२२-१॥

भावार्थ :-- उन केवली भगवान के कोई भी पदार्थ परोक्ष नही हैं। एक ही समय सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो को प्रत्यक्ष जानते है व भगवान इन्द्रियो से अतीत हैं, इन्द्रियो से नही जानते है। सर्व इन्द्रियो के विषयो को क्रम क्रम से जाना जाता है, उसको वे एकदम सब जानते हैं तथा यह ज्ञान स्वयं ही केवली का प्रकाशित है। यह स्वाभाविक है, परजन्य नही है।

णाणं अप्पत्ति मदं, वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा, अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२८-१॥

भावार्थ '-- ज्ञान गुण आत्मा रूप ही कहा गया है। आत्मा को छोड-कर ज्ञानगुण और कही नही रहता है इसलिये ज्ञान गुण जीव रूप है और जीव ज्ञान स्वरूप है तो भी गुण गुणी के भेद की अपेक्षा से नामादि भेद से ज्ञान अन्य है आत्मा अन्य है परन्तु प्रदेश भेद नही है। जहां आत्मा है वही ज्ञान सर्वांग व्यापक है।

णाणी णाणसहावो अत्था णेयापगा हि णाणिस्स।
रूवाणि व चक्खूणं, णेव णोण्णेसु वट्टंति ॥२९-१॥

भावार्थ :-- ज्ञानी आत्मा ज्ञान स्वभाव को रखने वाला है तथा सर्व पदार्थ उस ज्ञानी द्वारा ज्ञेयरूप है, जानने योग्य है। यह ज्ञानी ज्ञेयों को इसी तरह जानते है। जिस तरह आंख रूप। पदार्थों को जानती है। आंख पदार्थों में नहीं जाती, पदार्थ आंख मे नही प्रवेश करते हैं उसी तरह केवलज्ञानी का ज्ञान ज्ञेय पदार्थों मे नही जाता और ज्ञेय पदार्थ ज्ञान मे आकर प्रवेश नही कर जाते हैं। आत्मा अपने स्थान पर है, पदार्थ अपने स्थान पर रहते है। ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध से आत्मा का शुद्ध ज्ञान सर्व ज्ञेयो को जान लेता है।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि, ण परं परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समंतदो सो, जाणदि सव्वं णिरवसेसं ।।३२-१।।

भावार्थ :– केवलज्ञानी सर्वज्ञ देव ज्ञेय रूप पर पदार्थों को न तो ग्रहण करते है न छोडते है और न उन रूप बदलकर होते है । वे भगवान सर्व पदार्थों को सर्वांग पूर्ण रूप से मात्र देखते व जानते है । किसी पर रागद्वेष नही करते है । जैसे आख देखती मात्र है किसी को ग्रहण नही करती है और न कुछ त्यागती है । भगवान सर्वज्ञ वीतरागता पूर्वक सर्व को जानते देखते है ।

तक्कालिगेव सव्वे, सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टंते ते णाणे, विसेसदो दव्वजादीण ।।३७-१।।

भावार्थ :– उन प्रसिद्ध जीवादि द्रव्य जातियो की वे सर्व विद्यमान तथा अविद्यमान पर्याये निश्चय से ज्ञान मे भिन्न २ भेद लिये वर्तमान काल सम्बन्धी पर्यायो की तरह वर्तती है या झलकती है ।

जदि पच्चक्खमजादं, पज्जाय पलयिदं च णाणस्य ।
ण हवदि वा तं णाणं, दिव्वंत्ति हि के परूविंति ।।३९-१।।

भावार्थ :– यदि केवलज्ञान के भीतर द्रव्यो की भावी पर्याये और भूतकाल की पर्याये प्रत्यक्ष प्रगट न होवे उस ज्ञान को उत्कृष्ट या प्रशसनीय निश्चय से कौन कहता ? केवलज्ञान की यही अनुपम अद्‌भुत महिमा है जो त्रिकाल गोचर पर्याये हस्त रेखावत् झलकती है ।

ज तक्कालियमिदरं, जाणदि जुगवं समतदो सव्वं ।
अत्थं विचित्तविसमं, तं णाणं खाइयं भणियं ।।४७-१।।

भावार्थ – केवलज्ञान को क्षायिक ज्ञान इसीलिए कहा है कि वहा कोई अज्ञान नही रहा तथा वह ज्ञान वर्तमान काल सम्बन्धी व भूत भावी काल सम्बन्धी सर्व पर्यायो को सर्वांग व अनेक प्रकार मूर्तिक व अमूर्तिक पदार्थो को एक ही समय मे जानता है । कोई भी विषय केवलज्ञान से बाहर नही है ।

जो ण विजाणदि जुगवं, अत्थे ते कालिके तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा ।।४८-१।।

भावार्थ – जो पुरुष तीन लोक मे स्थित अतीत अनागत वर्तमान इन तीन काल सम्बन्धी पदार्थो को एक ही समय मे नही जानता है उस पुरुष के

अनन्त पर्यायो के साथ एक द्रव्यो को भी जानने की शक्ति नही हो सकती है। जो अपने आत्मा के द्रव्य गुण व अनन्त पर्यायो को जान सकता है वह ज्ञान सर्व द्रव्यो की भी अनन्त पर्यायो को जान सकता है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार में कहते हैं :-

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्भे जहा कणयं ॥२२९॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्भगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्भे जहा लोहं ॥२३०॥

भावार्थ – सम्यग्ज्ञानी आत्मा कर्मवर्गणाओ के मध्य पडा हुआ भी शरीरादि सर्व पर द्रव्यो मे राग, द्वेष, मोह नही करता हुआ उसी तरह कर्म रज से नही बँधता है जिस तरह सुवर्ण कीचड मे पडा हुआ नही बिगडता है – सोने मे जग नही लगती। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी कर्मों के मध्य पडा हुआ सर्व पर द्रव्यो में रागभाव करता हुआ कर्म रज से बँध जाता है जैसे लोहा कीचड मे पडा हुआ बिगड जाता है। आत्मज्ञान की बडी महिमा है वह अपने स्वभाव को ही अपना समझता है, इसको परमाणु मात्र भी ममत्व परभाव से नही है, सराग सम्यक्ती के यदि कुछ कर्म बध होता भी है वह रज ऊपर पडने के समान है जो शीघ्र झड जाने वाला है, अनतानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व से ही भव भ्रमण कारी कर्मबध होता है, अन्य कपायो से बहुत अल्प बध होता है जो बाधक नही है।

णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफल वियाणादि।
महुरं कडुवं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो ॥३३९॥

भावार्थ – ससार शरीर भोगो से वैराग्य रखने वाले महात्मा कर्मों के नाना प्रकार मीठे व कडवे फल को – साताकारी व असाताकारी उदय को जानता मात्र है। उनमे रजायमान नही होता है इसलिये वह अभोक्ता कहा गया है।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ।
जाणदि पुण कम्मफलं बधं पुण्णं च पावं च ॥३४०॥

भावार्थ :— सम्यग्ज्ञानी महात्मा नाना प्रकार के कर्मों को तन्मय होकर नहीं करता है, न कर्मों को बांधता है और न कर्मों के सुख दुःख रूप फल को तन्मय होकर भोगता है, वह अपने ज्ञानबल से मात्र जानता है, यह कर्मों का फल हुआ, यह बंध है, यह पुण्य है, यह पाप है। कर्मों के उदय से नाना प्रकार की मन, वचन काय की अवस्थाएँ होती है उन सबको ज्ञाता होकर जानता है। शरीर मे रोग हुआ सो भी जानता है। शरीर ने भोजन किया यह भी जानता है। ज्ञानी केवल मात्र अपने ज्ञान भाव का कर्त्ता व भोक्ता है, पर का कर्त्ता भोक्ता नही होता है। मन, वचन, काय का जो कुछ परिणमन होता है उसे कर्मोदय का विकार जानकर ज्ञाता दृष्टा साक्षीभूत रहता है।

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदिय बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३४१॥

भावार्थ :— जैसे आख की दृष्टि अग्नि को देखती मात्र है, न अग्नि को बनाती है न अग्नि का ताप भोगती है, वैसे ज्ञानी महात्मा न तो कर्मों को करते हैं न भोगते है, केवल मात्र बध, मोक्ष, कर्मों का उदय और कर्मों की निर्जरा को जानते ही हैं। ज्ञानी मन, वचन, काय, आठ कर्म सबको भिन्न जानता है। उनकी जो कुछ भी अवस्थाएं होती हैं उनको अपने आत्मा की नहीं जानता है, उनको परकी समझकर उनमे रागी नही होता है, उदासीन भाव से जानता रहता है कि कर्म क्या क्या नाटक खेलते है — वह ससार नाटक को दृष्टा होकर देखता मात्र है, उनका स्वामी व कर्ता व भोक्ता नही बनता है। निश्चय से वह बिल्कुल अपना सम्बन्ध उनसे नही जोड़ता है। उसका आत्म-रसिकपन उसे अलिप्त रखता है।

सत्थं णाणं ण हवदि जह्मा सत्थं ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥४१२॥

अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदण णिच्चं।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४२४॥

जह्मा जाणदि णिच्चं तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४२५॥

भावार्थ :– शास्त्र जो पुद्गलमय ताड़पत्र या कागज, स्याही आदि है या वाणी रूपी द्रव्यश्रुत है सो ज्ञान नही है, क्योकि पुद्गल जडमयी द्रव्य शास्त्र कुछ भी नही जानता है । इसलिये शास्त्र अन्य है व जानने वाला ज्ञान अन्य है ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं ।

रागादि कलुष भावरूप अध्यवसान ज्ञान नही है क्योकि वह कर्मों का उदय रूप विपाक सदा ही अचेतन है। इसलिये ज्ञान अन्य है और कलुषरूप अध्यवसान अन्य है । क्योकि यह नित्य ही जानने वाला है इसलिये जीव ही ज्ञायक है । ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नही है, उसी का स्वभाव है, ऐसा जानना योग्य है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय में कहते हैं –

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि ।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहिं ॥४३॥

भावार्थ :– ज्ञानगुण से आत्मा ज्ञानी भिन्न नही है, नाना प्रकार जानने योग्य पदार्थों की अपेक्षा ज्ञान अनेक प्रकार का है । ज्ञान विश्वरूप है सर्व को जानता है तब ज्ञानी भी विश्वरूप कहा गया है । जैसे ज्ञान सर्वव्यापक है वैसे ज्ञानी आत्मा भी ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी है अर्थात् ज्ञान सर्व को जानने वाला है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य बोधपाहुड मे कहते हैं –

संजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ॥२०॥

भावार्थ :– सयम से युक्त और ध्यान के योग्य जो मोक्ष का मार्ग है उसका लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है सो सम्यग्ज्ञान से ही प्राप्त होता है इसलिये ज्ञान का स्वरूप जानना योग्य है ।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसंजुत्तो ।
णाणेण लहदि लक्खं लक्खंतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

भावार्थ :– ज्ञान का लाभ पुरुष को होता है परन्तु जो मानव विनय सहित है वही ज्ञान का प्रकाश कर सकता है । ज्ञान के ही मनन से मोक्ष के मार्ग को पहचानता हुआ ध्यान का लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप उसको भली प्रकार समझ लेता है ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड में कहते है :–

णित्थयरभासियत्थ गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं ।
भावहि अणुदिणु अतुलं विशुद्धभावेण सुयणाणं ।।९२।।

भावार्थ :– हे मुने ! तू रात दिन निर्मल भाव से भक्ति पूर्वक शास्त्र-रूपी श्रुतज्ञान का मनन कर, जो अनुपम है व जिसे मूल मे तीर्थंकरो ने कहा है उसको जानकर गणधरो ने भली प्रकार शास्त्र मे गूथा है ।

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
हुति सिवालयवासी तिहुवणचूडामणि सिद्धा ।।९३।।

भावार्थ – आत्मज्ञान रूपी जल को पीकर कठिनता से दूर होने योग्य तृष्णा की दाह व जलन को मिटाकर भव्यजीव सिद्ध हो जाते है और तीन लोक के शिखर पर सिद्धालय मे अनन्तकाल वास करते है ।

णाणमयविवलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
वाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होति ।।१२५।।

भावार्थ – भव्यजीव भावसहित आत्मज्ञानमयी निर्मल शीतल जल को पीकर व्याधरूप मरण की वेदना की दाह को शमनकर सिद्ध हो जाते है ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते है –

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवल णाणं ।।३५।।

भावार्थ :– यह आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है तथा यही केवलज्ञान स्वरूप है ऐसा जानो, ऐसा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है ।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेई अन्तोमुहुत्तेण ।।५३।।

भावार्थ :– मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन कर्मों को बहुत जन्मो मे क्षय करता है उन कर्मों को आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि मन, वचन, काय को रोक करके ध्यान के द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त मे क्षय कर डालता है ।

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू ।
सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ ।।५४।।

भावार्थ -- शुभ पदार्थों के सयोग होने पर जो कोई साधु राग भाव से पर पदार्थ मे प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है। जो सम्यग्ज्ञानी है वह शुभ सयोग होने पर भी राग नही करते है समभाव रखते है।

तवरहियं ज णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेणं संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५९॥

भावार्थ :-- तप रहित जो ज्ञान है व सम्यग्ज्ञान रहित जो तप है सो दोनो ही मोक्ष साधन मे अकार्यकारी हैं इसलिये जो साधु सम्यग्ज्ञान सहित तप पालते हैं वे ही निर्वाण को पा सकते है।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

भावार्थ -- जब तक यह मनुष्य इंद्रियो के विषयो मे आसक्त होकर प्रवर्तता है तब तक वह आत्मा को नही पहचान सकता है। जो योगी विषयो से विरक्त चित्त होते है वे ही आत्मा को जानकर अनुभव कर सकते है।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

भावार्थ :-- जो कोई साधु विषयो से विरक्त होकर आत्मा को जानकर उसकी बार बार भावना करते है और तप व मूलगुणो को पालते है वे चार गति रूप ससार से मुक्त हो जाते हैं।

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥६९॥

भावार्थ :-- जो कोई मोह से परद्रव्यो मे परमाणु मात्र भी रागभाव रखता है वह मूढ अज्ञानी है, वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत वर्तन करता है। आत्मज्ञानी वही है जो आत्मा को आत्मारूप जाने और अपना मोह किसी भी पर द्रव्य से रचमात्र भी न करे।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार प्रत्याख्यान अधिकार मे कहते है :--

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥

भावार्थ :— जो साधु जिनवाणी मे परम भक्तिवत है तथा जो भक्ति पूर्वक गुरु की आज्ञा को मानते है वे मिथ्यात्व से अलग रहते हुए व शुद्ध भावो मे रमते हुए ससार से पार हो जाते है ।

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणिमरणाणि ।
मरिहंति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणंति ॥७३॥

भावार्थ — जो जिनवाणी के रहस्य को नही जानते है ऐसे सम्यग्ज्ञान रहित प्राणी बार बार अज्ञान मरण करते है, वे बार बार बिना चाहे हुए ही अकाल में मरते हैं । उन विचारो को मरण का दु ख बार-बार सहना पडता है।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अमिदभूवं ।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥६५॥

भावार्थ :— यह जिनवाणी का पठन, पाठन, मनन एक ऐसी औषधि है जो इन्द्रिय विषय के सुख से वैराग्य पैदा कराने वाली है, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत को पिलाने वाली है, जरा मरण व रोगादि से उत्पन्न होने वाले सर्व दुःखो को क्षय करने वाली है ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के पचाचार अधिकार मे कहते है :—

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्यविसुद्धं च तदुभयविसुद्धं ।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ॥८८॥

भावार्थ :— जो कोई शास्त्रों के वाक्यो को व शास्त्रो के अर्थ को तथा दोनो को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध पढता है उसी को ज्ञान की शुद्धता होती है ।

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥८६॥

भावार्थ :— जिसने विनयपूर्वक शास्त्रो को पढ़ा हो और प्रमाद से कालातर में भूल भी जावे तो भी परभव में शीघ्र याद हो जाता है — थोडे परिश्रम से आ जाता है तथा विनय सहित शास्त्र पढने का फल केवलज्ञान होता है ।

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाण परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ॥१७१॥

भावार्थ — जो ज्ञानी होकर दूसरो को सिखाता है ज्ञान का पुन पुनः मनन करता रहता है, ज्ञान से दूसरो को धर्मोपदेश करता है, तथा ज्ञानपूर्वक चारित्र पालता है वही सम्यग्ज्ञान की विनय करता है ।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षडावश्यक में कहते है :-

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि ।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ ॥८९॥

भावार्थ :- सम्यग्ज्ञानी ही मोक्ष जाता है, सम्यग्ज्ञानी ही पाप को त्यागता है, सम्यग्ज्ञानी ही नए कर्म नही बाधता है । सम्यग्ज्ञान से ही चारित्र होता है इसलिये ज्ञान की विनय करनी योग्य है ।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगारभावना मे कहते है :-

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा ।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू ॥६२॥

भावार्थ - जो साधु ज्ञान के प्रकाश को रखने वाले है वे ज्ञान की ज्योति से परमार्थ जो परमात्म तत्त्व है उसको जानने वाले होते हैं । उनके भीतर जिन भाषित पदार्थों मे शका नही होती है तथा वे ग्लानिरहित होते है तथा वे ही आत्मबल से साहस पूर्वक मोक्ष का साधन करते है ।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी ।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥६७॥

भावार्थ - वे ही मुनि मोक्षरूपी परम पद के स्वरूप को जानने वाले होते हैं जो अपने कानों को शास्त्र रूपी रत्नो से विभूषित रखते है अर्थात् जो जिनवाणी को सुरुचि से सुनते हैं, जो प्रमाण और नय के ज्ञाता हैं विशाल बुद्धिशाली हैं तथा सर्व शास्त्र के ज्ञान मे कुशल है ।

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य ।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥६८॥

उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला ।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ॥६९॥

भावार्थ :- जो मुनि मान के स्तम्भ से रहित है, जाति, कुल आदि के मद से रहित है, उद्धतता रहित है, शातपरिणामी है, इन्द्रियविजयी है, मार्द्दव धर्म से युक्त है, आत्मा व अनात्मा के ज्ञाता हैं, विनयवान है, पुण्य पाप के स्वरूप के ज्ञाता हैं, जिनशासन मे दृढ़ श्रद्धानी है, द्रव्यपर्यायो के ज्ञाता है, तेरह

प्रकार चारित्र से सवरयुक्त है अथवा दृढ आसन के धारी हैं वे ही साधु ध्यान के लिये उद्यमी रहते हैं।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार अधिकार मे कहते है :-

सज्झायं कुव्वंतो पंचिदियसपुडो तिगुत्तो य।
हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खू ॥७८॥

भावार्थ :- शास्त्र स्वाध्याय करने वाले के स्वाध्याय करते हुए पाचो इन्द्रिय वश मे होती है, मन, वचन, काय स्वाध्याय मे रत हो जाते है, ध्यान मे एकाग्रता होती है, विनय गुण से युक्त होता है, स्वाध्याय परमोपकारी है।

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठ।
ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं ॥७९॥

भावार्थ :- तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित बाहरी, भीतर बारह प्रकार तप मे स्वाध्याय तप के समान कोई तप नही है न होवेगा, इसलिये स्वाध्याय सदा करना योग्य है।

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सवि दु पमाददोसेण।
एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सवि तहा पमाददोसेण ॥८०॥

भावार्थ :- जैसे सूत के साथ सुई हो तो कभी प्रमाद से भी खोई नहीं जा सकती है वैसे ही शास्त्र अभ्यासी पुरुष प्रमाद के दोष होते हुए भी कभी ससार में पतित नही होता है – अपनी रक्षा करता रहता है। ज्ञान बड़ी अपूर्व वस्तु है।

(१२) श्री समतभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र में कहते है --

बंधश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु- बद्धश्च मुक्तश्च फल च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता। १४॥

भावार्थ -- हे सभवनाथ भगवान ! आपने अनेकात वस्तु का स्वरूप स्याद्वाद नय से उपदेश किया है इसीलिये आपके दर्शन मे बधतत्व, मोक्षतत्व, सिद्ध होता है, दोनो का साधन भी ठीक २ सिद्ध होता है। बद्ध व मुक्त आत्मा की भी सिद्धि होती है व मुक्ति का फल भी सिद्ध होता है। परन्तु जो वस्तु को एकान्त मानते है उनके यहा ये सब बाते सिद्ध नही हो सकती है।

सर्वथा नित्य व सर्वथा अनित्य मानने से ही ये सब बातें नही बनेंगी, द्रव्य की अपेक्षा नित्य व पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानने से ही बन्ध व मोक्ष सिद्ध हो सकते हैं।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकःस्तुवतोऽस्तु नाथ ॥२५॥

भावार्थ :– हे सुमतिनाथ भगवान ! आपका यह कथन ठीक सिद्ध होता है कि पदार्थ मे किसी अपेक्षा से अस्तिपना है व दूसरी किसी अपेक्षा से नास्तिपना है। इनका वर्णन स्याद्वाद द्वारा मुख्य व गौण रूप से किया जाता है। इसी से हमारे द्वारा आप स्तुति योग्य हैं।

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षक ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषमात्मविद्विषाम् ॥१०२॥

भावार्थ :– हे अरहनाथ ! आपके स्याद्वाद न्याय मे जो स्यात् शब्द है वह एक स्वभाव को जिसकी ओर वर्णन है यथार्थ प्रकाश करता है, तो भी पदार्थ सर्वथा ऐसा ही है इस एकान्त को निषेध करता है। यही वस्तु का स्वरूप है। जो एकाती स्याद्वाद के ज्ञान से शून्य है वे अपने आपके अनिष्ट करने वाले हैं। एकान्त मान के यथार्थ वस्तु स्वरूप को नही पाते है।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहते है :–

अन्यूनमनतिरिक्त याथातथ्य विना च विपरीतात् ।
नि सदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

भावार्थ :– जो वस्तु के स्वरूप को न कम जाने, न अधिक जाने, न विपरीत जाने, किन्तु जैसा का तैसा सन्देह रहित जाने उसको आगम के ज्ञाता सम्यग्ज्ञान कहते है।

प्रथमानुयोगमर्थाख्यान चरित पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोध समीचीन. ॥४३॥

भावार्थ :– प्रथमानुयोग को सम्यग्ज्ञान इस प्रकार जानता है कि इसमे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थो के साधन का कथन है, जीवन चरित्र है व त्रेसठ महापुरुषो का पुराण है। जिससे पुण्य का आश्रय मिलता है व जिसमे

रत्नत्रय व ध्यान का भंडार है। चौबीस तीर्थंकर बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण को त्रेसठ महापुरुष कहते हैं।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोग च ॥४४॥

भावार्थ :— करणानुयोग उसको कहते हैं जो लोक और अलोक के विभाग को, काल की पलटन को, चार गति के स्वरूप को दर्पण के समान प्रगट करता है — सम्यग्ज्ञान ऐसा जानता है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम्।
चरणानुयोगसमय सम्यग्ज्ञान विजानाति ॥४५॥

भावार्थ — जिसमे गृहस्थ और मुनियो के आचरण की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा का कथन हो वह चरणानुयोग है ऐसा सम्यग्ज्ञान जानता है।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बंधमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

भावार्थ :— द्रव्यानुयोग रूपी आगम वह है जो जीव, अजीव तत्वो को, पुण्य व पाप के स्वरूप को, बंध तथा मोक्ष को तथा भावश्रुत के प्रकाश को अर्थात् आत्मज्ञान को प्रगट करे।

(१४) श्री समंतभद्राचार्य आप्तमीमासा मे कहते है —

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनय संस्कृतम् ॥१०१॥

भावार्थ :— हे जिनेन्द्र ! आपका केवलज्ञान प्रमाण ज्ञान है। इसमें एक ही साथ सर्व पदार्थ झलकते है। जो अल्प ज्ञानियो मे क्रमवर्ती ज्ञान होता है वह भी प्रमाणीक है, यदि वह ज्ञान स्याद्वाद नय द्वारा सस्कृत हो अर्थात् स्याद्वाद से सिद्ध हो सके।

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्य स्वगोचरे ॥१०२॥

भावार्थ :— केवलज्ञान होने का फल वीतराग भावो का होना है। अन्य अल्पज्ञानियों के होने वाले प्रमाण रूप ज्ञान का फल त्यागने योग्य व ग्रहण

योग्य के भीतर विवेक बुद्धि का प्राप्त करना है तथा वीतराग भाव भी है । सर्व ही मतिज्ञान आदि का फल अपने अपने विषय मे अज्ञान का नाश है ।

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यम्प्रतिविशेषकः ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

भावार्थ :– हे जिनेन्द्र ! आपके मत मे तथा श्रुत केवलियो के मत मे स्याद्वाद में जो स्यात् शब्द है वह अव्यय है उसका अर्थ किसी अपेक्षा से है। यह शब्द बताया है कि जो वाक्य कहा गया है उसमें किसी विशेष स्वभाव की तो मुख्यता है, दूसरे स्वभावो की गौणता है । यह वाक्य ही प्रगट करता है कि वस्तु अनेकान्त है, अनेक धर्मों को रखने वाली है जैसे स्यात् अस्ति घट. इस वाक्य मे किसी अपेक्षा से घट है ऐसा कहते हुए घट में भावपने की मुख्यता है तब अभावपने की गौणता है, ऐसा स्यात् शब्द बताता है ।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

भावार्थ – यह स्याद्वाद न्याय है वह किसी अपेक्षा से एक स्वभाव को कहने वाला है तथापि वस्तु सर्वथा ऐसी ही है इस एकात को निषेध करने वाला है । मुख्य गौण कथन की अपेक्षा उसके सात भग हो जाते हैं, जैसा पहले बताया जा चुका है ।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

भावार्थ :– जैसे केवलज्ञान सर्व तत्त्वो को प्रकाश करता है वैसे स्याद्वाद नय गर्भित श्रुतज्ञान भी सर्व तत्वो को प्रकाश करता है । इन दोनो मे भेद इतना ही है कि केवलज्ञान जब प्रत्यक्ष जानता है तब श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है । इनके सिवाय जो कुछ ज्ञान है वह वस्तु का स्वरूप यथार्थ नही है ।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

भावार्थ – वस्तु द्रव्य की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न व्यय होती है वह बराबर नित्य प्रगटरूप से बनी रहती है तथापि पर्याय की अपेक्षा उपजती विनशती है । आपके सिद्धात मे जो सत् पदार्थ है वह एक ही समय मे

उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है । अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा नित्य है उसी समय पर्याय की अपेक्षा अनित्य है ।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

भावार्थ :– वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है इसी का दृष्टांत है कि कोई मानव सुवर्ण के घट को तोडकर मुकुट बना रहा था उसी समय तीन आदमी आए, जो सुवर्ण के घट को लेना चाहता था, वह घट को तोडते हुए देखकर शोक मे हो जाता है । जो मुकुट का अर्थी है वह हर्षित होता है परन्तु जो केवल स्वर्ण को ही लेना चाहता है वह उदासीन है । क्योकि सुवर्ण द्रव्य घटरूप से नष्ट होकर मुकुट रूप मे बदल रहा है तथापि सुवर्ण वही है ।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

भावार्थ :– दूसरा दृष्टात है कि कही पर दही और दूध दोनो रक्खे थे । जिस किसी को दही का त्याग या दूध का त्याग न था वह दूध को पीता है । जिसे दूध का त्याग था दही का त्याग न था वह दही को पीता है । परन्तु जिसे गोरस का ही त्याग था वह दोनो को नही खाता है । दूध की पर्याय पलट कर दही बना तथापि गोरसपना दोनो मे है । इसलिये हर एक वस्तु सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है, नित्य अनित्यरूप है जिसकी सिद्धि स्याद्वाद से भली प्रकार की जाती है ।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है –

णिउणं विउल सुद्धं, णिकाचिदमणुत्तर च सव्वहिदं ।
जिणवयणं कलुसहरं, अहो व रत्ति च पठिदव्वं ॥१०१॥

भावार्थ – हे आत्मन् ! इस जिनवाणी को रात्रि दिन पढना चाहिये । यह जिनेन्द्र का वचन प्रमाण के अनुकूल पदार्थों को कहने वाला है, इससे निपुण है तथा बहुत विस्तारवाला है, पूर्वापर विरोध से रहित दोषरहित शुद्ध है, अत्यन्त दृढ है अनुपम है तथा सर्व प्राणी मात्र का हितकारी है और रागादि मैल को हरने वाला है ।

आदहिदपरिण्णाणभा, वसंवरोणवणवो य संवेगो ।

णिक्कपदा तवोभावणा, य परदेसिगत्तं च ॥१०२॥

भावार्थ — जिनवाणी के पढने से आत्महित का ज्ञान होता है, सम्यक्त आदि भावसवर की दृढता होती है, नवीन नवीन धर्मानुराग बढता है, धर्म मे निश्चलता होती है, तप करने की भावना होती है और पर को उपदेश देने की योग्यता आती है ।

छट्ठट्ठमदसमदुवावसेहि अण्णाणियस्स जा सोधी ।

तत्तो बहुगुणदरिया, होज्ज हु जिमिदस्स णाणिस्स ॥१११॥

भावार्थ :— शास्त्रज्ञान के मनन बिना जो अज्ञानी को वेला, तेला, चौला आदि उपवास के करने से शुद्धता होती है उससे बहुतगुणी शुद्धता सम्यग्ज्ञानी को आत्मज्ञान को मनन करते हुए जीमते रहने पर भी होती है ।

अक्खेविणी कहा सा, विज्जाचरण उवदिस्सदेजत्थ ।

ससमयपरसमयगदा, कहा दु विक्खेविणी णाम ॥६५९॥

सवेयणी पुण कहा, णाणचरित्ततवविरियइट्टिगदा ।

णिव्वेयणी पुण कहा, सरीरभोगे भउघेए ॥६६०॥

भावार्थ — सुकथा चार प्रकार की होती है :— (१) **आक्षेपिणी** — जो ज्ञान का, चारित्र का स्वरूप बताकर दृढता कराने वाली हो । (२) **विक्षेपिणी** — जो अनेकात मत की पोषक व एकात मत को खडन करने वाली हो । (३) **संवेगिनी कथा** — जो ज्ञान चारित्र तप वीर्य मे प्रेम बढ़ाने वाली व धर्मानुराग कराने वाली कथा हो । (४) **निर्वेदिनी** — जो ससार शरीर भोगो से वैराग्य बढाने वाली हो ।

णाणोओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं ।

णाणं अंकुसभूदं, मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७६३॥

भावार्थ :— ज्ञान का उपयोग सदा करना चाहिये । जो शास्त्रज्ञान का मनन नही करते वे चित्त को रोक नही सकते । मनरूपी मदोन्मत्त हाथी के लिये ज्ञान ही अकुश है ।

उवसमइ किण्हसप्पो, जह मतेण विधिणा पउत्तेण ।

तह हिदयकिण्हसप्पो, सुट्ठुवउत्तेण णाणेण ॥७६५॥

भावार्थ :-- जैसे विधि से प्रयोग किये हुये मत्र से काला साप भी शात हो जाता है वैसे भली प्रकार मनन किये हुए ज्ञान के द्वारा मनरूपी काला साप शात हो जाता है ।

णाणपदीवो पज्जलइ जस्स हियए वि सुद्धलेसस्स ।
जिणविट्ठमोक्खमग्गे, पणासयभय ण तस्सत्थि ।।७७०।।

भावार्थ :-- जिस शुद्ध लेश्या या भावो के धारी के हृदय मे सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक जलता है उसको जिनेन्द्रकथित मोक्षमार्ग मे चलते हुए कभी भी भ्रष्ट होने का व कुमार्ग मे जाने का भय नही है ।

णाणुज्जोएण विणा, जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगंतुं ।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि, अंधलयो अंधयारम्मि ।।७७४।।

भावार्थ -- जो कोई सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के विना मोक्षमार्ग मे जाना चाहता है वह अधा होकर महान अधकार मे अति दुर्गम स्थान मे जाना चाहता है ।

भावे सगविसयत्थे, सूरो जुगवं जहा पयासेइ ।
सव्व वि तधा जुगव केवलणाण पयासेदि ।।२१३८।।

भावार्थ :-- जैसे सूर्य अपने विषय मे तिष्ठते हुए सर्व पदार्थों को एक साथ प्रकाश करता है वैसे केवलज्ञान समस्त पदार्थों को प्रकाश करता है ।

(१६) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश मे कहते है --

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
देहादि यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ।।२३ ।

भावार्थ -- अज्ञान स्वरूप शरीरादि की या अज्ञानी गुरु की या मिथ्या शास्त्र की आराधना करने से मोह भ्रम से देहादि अज्ञान की प्राप्ति होगी किंतु ज्ञान स्वभावी आत्मा की या सम्यग्ज्ञानी गुरु की या सम्यक् शास्त्र की आराधना करने से आत्मज्ञान व आत्मानुभव की प्राप्ति होगी ।

(१७) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक मे कहते है --

अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मन. ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैं स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ।।३७।।

भावार्थ -- अविद्या या मिथ्याज्ञान के अभ्यास से यह मन अपने वश मे न रहकर अवश्य आकुलित होगा, पर पदार्थ मे रमेगा, वही मन सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के बल से स्वय ही आत्मतत्त्व के रमण मे ठहर जायेगा ।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

भावार्थ -- ज्ञानी को उचित है कि आत्मज्ञान के सिवाय और कार्य को बुद्धि मे चिरकाल धारण न करे । प्रयोजनवश कुछ दूसरा काम करना पडे तो वचन व काय से करले, मन को उसमे आसक्त न करे ।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण. ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

भावार्थ -- जो कोई अव्रती हो वह व्रती होकर आत्मज्ञान के अभ्यास मे लीन हो । जिसको परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वह इसी का अनुभव करता है वह अवश्य परमात्मा हो जाता है ।

विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

भावार्थ -- जो देह मे आत्मा की बुद्धि रखता है ऐसा बहिरात्मा अज्ञानी जीव सर्व शास्त्रो को पढ चुका है तथा जाग रहा है तो भी वह कर्मो से मुक्त नही हो सकता है किन्तु जो आत्मज्ञानी है वह सोते हुए है व कदाचित् उन्मत्त है -- गृहस्थ मे फँसा है तो भी कभी न कभी मुक्त हो जायेगा ।

(१८) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है :--

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ।
समुत्तुङ्गे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ॥१७०॥

भावार्थ :-- बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह इस मनरूपी बदर को शास्त्र रूपी वृक्ष मे प्रतिदिन रमावें । इस शास्त्र रूपी वृक्ष मे अनेकात स्वरूप अनेक स्वभाव व गुण व पर्याय रूपी फलफूल है उनसे यह नम्रीभूत है । यह वृक्ष वचन रूपी पत्रो से व्याप्त है । सैकडो महान नयो या अपेक्षाओ की शाखाओ से शोभित

है, तथा इस शास्त्ररूपी वृक्ष का वहुत बडा विस्तार है तथा इसका मूल प्रखर मतिज्ञान है ।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृत. ।
अ गारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ॥१७६॥

भावार्थ :– जैसे रत्न अग्नि मे पडकर विशुद्ध हो जाता है व शोभता है वैसे भव्यजीव रुचिवान शास्त्र मे रमण करता हुआ विशुद्ध होकर मुक्त हो जाता है । परन्तु जैसे अगारा अग्नि मे पडकर कोयला हो जाता है या राख हो जाता है वैसे दुष्ट मानव शास्त्र को पढता हुआ भी रागीद्वेषी होकर कर्मो से मैला हो जाता है ।

मुहु. प्रसार्य्य सज्ज्ञान पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनि. ॥१७७॥

भावार्थ :– अध्यात्म का ज्ञाता मुनि वारवार सम्यग्ज्ञान को फैलाकर जैसे पदार्थों का स्वरूप है वैसा उनको देखता हुआ राग व द्वेप को दूर करके आत्मा को ध्याता है ।

(१९) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार मे कहते है --

सत्थ पढतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणति ।
तिह कारण ऐ जीव फुडु ण हु णिव्वाण लहति ॥५२॥

भावार्थ :– जो कोई शास्त्रो को पढते ह परन्तु आत्मा को नही जानते है वे जीव कभी भी निर्वाण को नही पा सकते है ।

जह लोयम्मिय णियडहा तह सुणाम्मिय जाणि ।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवंति हु णाणि ॥७१॥

भावार्थ :– वे ही ज्ञानी है जो पुण्य पाप को सुवर्ण की तथा लोहे की वेडी जानते है दोनो को बन्धन मानते है ।

सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ॥९८॥

भावार्थ :– सर्व ही जीव शुद्ध ज्ञानमयी है ऐसा जो जानता है वही समभाव का धारी है इसी को सामायिक जानो ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते है ।

(२०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन मे कहते है –

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमति निश्चल ।
स्वर्गापवर्गफलद ध्यानामातर्मुहूर्ततः ॥६६॥

भावार्थ :– आत्मध्यान श्रुतज्ञान का ध्यान है। द्वादशाग वाणी का सार आत्मज्ञान है। उसी का अनुभव श्रुतज्ञान का अनुभव है तथा वही ध्यान है। यह वीतराग रूप, यथार्थ, अति निश्चल एक अन्तर्मुहूर्त तक रह सकता है जिसका फल स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति है।

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यानं श्रुतज्ञान च तात्त्विक ॥६८॥

भावार्थ :– क्योकि योगीगण मन द्वारा श्रुतज्ञान के बल से ध्यान करते है, इसीलिये स्थिर मन ही ध्यान है, यही निश्चय तत्त्वरूप श्रुतज्ञान है।

ज्ञानदर्यांतरावात्मा तस्माज्ज्ञानं न चान्यतः ।
एकं पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्तित ॥६६॥

भावार्थ :– ज्ञान कहो चाहे आत्मा कहो दोनो एक ही बात है क्योकि ज्ञान आत्मा का गुण है, आत्मा से ही होता है, किसी अन्य द्रव्य से नही होता है। यह ज्ञानगुण जो बराबर पूर्वापर चला आ रहा है वही आत्मा है ऐसा कहा गया है।

स्वरूपं सर्वजीवाना स्वपरस्य प्रकाशनं ।
भानुमंडलवत्तेषा परस्मादप्रकाशनं ॥२३५॥

भावार्थ :– सर्व जीवो का स्वभाव अपने को व पर को एक साथ उसी तरह प्रकाश करता है जैसा सूर्य मडल अपने को तथा पर को प्रकाश करता है। उन जीवो मे ज्ञान का प्रकाश स्वाभाविक है, दूसरे पदार्थ से नही है जैसे सूर्य स्वय प्रकाश रूप है।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सासर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ :– जब सर्व कर्म का क्षय हो जाता है तब यह आत्मा अपने स्वरूप मे ही ठहर जाता है, और एक समय मे ही स्वपर को जानता है। जैसे

योग्य कारणो से संसर्ग मे आया हुआ मल निकल जाने पर मणि स्वभाव से चमक उठती है।

न मुह्यति न सशेते न स्वार्थानध्यवस्यति।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षण ॥२३७॥

भावार्थ :— अरहत व सिद्ध परमात्मा घातिया कर्मों के क्षय होने पर न तो किसी पर मोह करते है, न सशय किसी वात मे करते है, न उनके भीतर अनध्यवसाय (ज्ञान मे प्रमाद) है न राग करते है न द्वेप करते हैं। किन्तु सदा ही प्रतिक्षण ही अपने ही शुद्ध स्वरूप मे स्थित हैं।

त्रिकालविषय ज्ञेयमात्मान च यथास्थित।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभु. ॥२३८॥

भावार्थ :— वे केवलज्ञानी परमात्मा अपने आत्मा को तथा तीन काल के ज्ञेय पदार्थों को जैसा उनका स्वरूप है वैसा पूर्ण रूप से जानते हुए वीतरागी रहते है।

(२१) श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे कहते है :—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि ससार ॥५॥

भावार्थ :— निश्चयनय वह है जो सत्यार्थ मूल पदार्थ को कहे। व्यवहारनय वह है जो असत्यार्थ पदार्थ को कहे। प्रायः सर्व ही ससारी प्राणी निश्चयनय से कथन योग्य सत्यार्थ वस्तु के ज्ञान से वाहर हो रहे है।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥

भावार्थ :— जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो को जानकर मध्यस्थ हो जाता है वही शिष्य जिनवाणी के उपदेश का पूर्ण फल पाता है।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

भावार्थ — जिनेन्द्र भगवन्तो ने सम्यग्ज्ञान को कार्य तथा सम्यग्दर्शन को कारण कहा है। इसलिये सम्यग्दर्शन के पीछे ज्ञान की आराधना करना उचित है।

कारणकार्य विधानं समकालं जायमानयोरपि हि ।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्व ज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

भावार्थ :– यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी तरह जैसे दीपक से प्रकाश होता है तो भी जैसे दीपक कारण है, प्रकाश कार्य है, वैसे सम्यग्दर्शन कारण है, सम्यग्ज्ञान कार्य है ।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु ।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तातमात्मरूपं तत् ॥३५॥

भावार्थ :– व्यवहार नय से सत्‌रूप व अनेक धर्म स्वरूप तत्त्वो को सशय विपर्यय व अनध्यवसाय रहित जानना चाहिये । यही सम्यग्ज्ञान है । निश्चयनय से यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है ।

ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च ।
बहुमानेन समन्वितमनिन्हवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

भावार्थ :– सम्यग्ज्ञान को आठ अग सहित सेवन करना चाहिये । (१) ग्रन्थशुद्धि-शुद्ध पढना (२) अर्थ शुद्धि-अर्थ शुद्ध करना, (३) उभय शुद्धि-शब्द व अर्थ शुद्ध पढना, (४) कालाध्ययन–ठीक समय पर पढ़ना, (५) विनय, (६) उपधान–धारणा सहित पढना, (७) बहुमानेन समन्वित-बहुत मान से पढना, (८) अनिन्हव-गुरु को व ज्ञान को न छिपाना ।

येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१३॥

भावार्थ .– जितने अश किसी के परिणाम मे सम्यग्ज्ञान होता है उतने अश से कर्म का बन्ध नही होता है किन्तु जितने अश राग होता है उतने अश कर्म का बन्ध होता है । सम्यग्ज्ञान बन्ध का कारण नही है, बन्ध का कारण औदयिक भाव रागद्वेष मोह है ।

(२२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थसार मे कहते है –

वाचनापृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पंचधा जिनैः ॥१६-७॥
वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम् ।
ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा ॥१७-७॥

तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा ।
परं प्रत्यनुयोगाय प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः ॥१८-७॥

आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम् ।
कथाधर्माद्यनुष्ठानं विज्ञेया धर्मदेशना ॥१६-७॥

----ेरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत् ।
अनुप्रेक्षिति निर्दिष्ट. स्वाध्यायः स जिनेशिभि ॥२०-७॥

भावार्थ -- शास्त्रो का स्वाध्याय व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, सो स्वाध्याय पाच प्रकार का जिनेन्द्रो ने कहा है । वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मदेशना, अनुप्रेक्षा । किसी ग्रन्थ का व उसके पद्य का तथा उसके अर्थ का या दोनो का दूसरे पात्र को सुनाना या स्वय पढना, वाचना है । सशय दूर करने को, पदार्थ के निश्चय करने को व दूसरो को समझाने के लिये जो पूछना उसे जिनो ने पृच्छना कहा है । शुद्ध-शब्द व अर्थ को घोखकर कठ करना आम्नाय कहा जाता है । धर्म कथा आदि का उपदेश करना धर्मदेशना है । भली प्रकार जाने हुए पदार्थ का मन से बार-बार अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासस्मरणादीनि कुर्वतः ।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत् ॥३२-७॥

भावार्थ :-- ज्ञान को वहुत मान व आदर से ग्रहण करना व स्मरण करना, मनन करना आदि ज्ञान की विनय कही जाती है ।

(२३) श्री अमृतचन्द्राचार्य श्री समयसार कलश मे कहते है :--

उभयनय विरोधध्वसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

भावार्थ :-- निश्चय नय और व्यवहार नय के विरोध को मेटने वाली स्याद्वाद रूप जिनवाणी मे जो रमण करते है, उनका मिथ्यात्व भाव स्वय गल जाता है । तब वे शीघ्र ही अतिशय करके परम ज्योति स्वरूप, प्राचीन, किसी भी खोटी युक्ति से अखडित शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ही लेते है ।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेय किलेति बुद्ध्या।
आत्मानमात्मनि निविश्य सुनिःप्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

भावार्थ :— शुद्ध निश्चय नय के द्वारा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है वही निश्चय सम्यग्ज्ञान अनुभव है ऐसा जानकर जब कोई अपने आत्मा को अपने आत्मा मे निश्चल रूप से धारण करता है तब वहा सर्व तरफ से नित्य ही एक ज्ञानघन आत्मा ही स्वाद मे आता है।

ज्ञानद्विवेचकतया तु परमात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेष।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ॥१४-३॥

भावार्थ — ज्ञान के ही प्रताप से आत्मा और पर का भेद विज्ञान जाना जाता है। जैसे दूध पानी अलग अलग है। ज्ञानी अपनी निश्चल चैतन्य धातुमयी मूर्ति मे सदा दृढ निश्चय रखता हुआ जानता ही है, कुछ भी कर्त्ता नही है।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५-३॥

भावार्थ :— ज्ञान के ही प्रताप से गर्म पानी में यह झलकता है कि पानी का स्वभाव शीतल है तथा उष्णता अग्नि की है। ज्ञानी के ही प्रताप से किसी बने हुए साग मे साग का स्वाद अलग और लवण का स्वाद अलग भासता है। यह ज्ञान का ही प्रभाव है जिससे क्रोध का मै कर्त्ता हू, इस अज्ञान का नाश होकर ऐसा झलकता है कि मै क्रोधादिकी कलुषता से भिन्न अपने आत्मिक रस से नित्य भरा हुआ चैतन्य धातुमय आत्मा मात्र हूँ।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यत. स्यात्सर्वरागसवर्ज्जनशीलः।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्म्ममध्यपतितोऽति ततो न ॥१७-७॥

भावार्थ :— सम्यग्ज्ञानी अपने स्वभाव से ही सर्व रागादि भावो से भिन्न अपने को अनुभव करता है । इसलिये कर्मों के मध्य पड़े रहने पर भी कर्म बध से नही बँधता है । यह आत्मज्ञान की महिमा है ।

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यता ।
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यता ज्ञानिता ॥५-१०॥

भावार्थ :— अज्ञानी सदा ही कर्म की प्रकृतियो के स्वभावो मे अर्थात् जैसा कर्म का उदय होता है उसमे लीन होकर सुख-दुःख का भोक्ता हो जाता है । ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव से अर्थात् कर्मों के उदय से विरक्त रहता है, इसलिये कभी भी भोक्ता नही होता है, वह ज्ञाता रहता है । ऐसा नियम समझकर अज्ञानपना त्याग देना चाहिये और शुद्ध एक आत्मा की निश्चल ज्योति मे थिर होकर ज्ञानभाव का सेवन करना चाहिये ।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः ।
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२२-१०॥

भावार्थ — जो शुद्ध द्रव्य के विचार मे है और तत्त्व को देखनेवाला है उसके मत मे एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कभी भी प्रवेश नही कर सकता है । जो शुद्ध आत्मा का ज्ञान सर्व ज्ञेय या जानने योग्य पदार्थों को जानता है सो यह उस ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है तब फिर अज्ञानी जन आत्मा को छोडकर पर द्रव्य के ग्रहण के लिए आकुल व्याकुल होकर आत्म तत्त्व के अनुभव से क्यों पतन कर रहे है ? ज्ञान मे कोई पदार्थ आता नही, ज्ञान किसी पदार्थ मे जाता नही, तो भी ज्ञान सर्व ज्ञेयो को अपने स्वभाव से जानता है । यह ज्ञान के प्रकाश का महात्म्य है ।

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥६-१२॥

भावार्थ :– स्याद्वाद के द्वारा मेरे भीतर आत्म तेज का प्रकाश हो गया है। जब मेरे मे शुद्ध स्वभाव की महिमा प्रगट हो रही है तब वहा बध मार्ग व मोक्ष मार्ग सम्बन्धी भावो से क्या प्रयोजन रहा ? कुछ भी नही। इसलिए सदा ही यह मेरा उत्कृष्ट स्वभाव मेरे मे प्रकाशमान रहो। शुद्ध निश्चयनय से आत्मा सदा ही एकाएक शुद्ध अनुभव मे आता है। वहा बध व मोक्ष के विचार की कोई जगह नही है।

(२४) श्री अमितिगति महाराज तत्त्वभावना मे कहते है :–

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतर· सम्यक्त्ववातेरितो।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्त्वसमितिर्दंग्धे विपार्थधसि॥
दत्तोत्त्प्तिमनस्तमस्ततिहतेर्देदीप्यते सर्वदा।
नाश्चर्यं रचयति चित्रचरिताश्चारित्रिणाः कस्य ते॥९५॥

भावार्थ – जिनके भीतर सम्यक्दर्शन की पवन से प्रेरित सम्यग्ज्ञान-रूपी अग्नि की तीव्र ज्वाला सर्व तत्त्वो को स्पष्ट दिखाती हुई, पापरूपी ईंधन को जलाती हुई, मन के अन्धकार के प्रसार को दूर करती हुई सदा जलती है वे नाना प्रकार चारित्र का पालन करते है। जिनको देखकर किसको आश्चर्य न आयेगा ? अर्थात् वे अद्‌भुत चारित्र का पालन करते हैं।

ये लोकोत्तरतां च दर्शनपरां दूतीं विमुक्तिश्रिये।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पति श्रृण्वति च॥
लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः।
ये कुर्वंति तदर्थमुत्तमधियस्तेषां किमत्रोच्यते॥१०५॥

भावार्थ – जो कोई परमार्थ स्वरूप को बताने वाली, उत्कृष्ट सम्यक्-दर्शन को देने वाली, मोक्षरूपी लक्ष्मी की दूती के समान अनुपम जिनवाणी को पढते है, सुनते है व उस पर रुचि करते है ऐसे सज्जन इन कषायो के दोषो से मलीन लोक मे दुर्लभ है – कठिनता से मिलते है और जो उस जिनवाणी के अनुसार आचरण करने की उत्तम वृद्धि करते है उनकी बात क्या कही जावे ? वे तो महान दुर्लभ हैं। ऐसी परोपकारिणी जिनवाणी को समझकर उसके अनुसार यथाशक्ति चलना हमारा कर्तव्य है।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपाय ।।
दक्षैः सकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षै ।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः ।।१२०।।

भावार्थ -- परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, जन्म, मरण, जरा, रोग व शोकादि दोषो से रहित है, अपने स्वभाव से पूर्ण है, सर्व कर्म मलरहित है, नाशरहित नित्य है । जो लोग चतुर है, इन्द्रियो के विजयी है, जन्म मरण से भयभीत है, ससार की यात्रा को नही चाहते है उनको ऐसे शुद्ध आत्मा का चिन्तवन बाधा रहित, अतीन्द्रिय, स्थिर व शुद्ध सुख की प्राप्ति के लिए करना योग्य है । निश्चय से अपना आत्मा भी ऐसा ही है । अपने आत्मा को भी परमात्मा के समान जानकर सदा अनुभव करना चाहिये, जिससे सहज सुख का लाभ हो ।

(२५) श्री पद्मनदि मुनि सिद्धस्तुति मे कहते है .--

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो
धौता यस्य मतिः स एव मनुते तत्त्वं विमुक्तात्मन ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमतेः साक्षादुपादेयतां
भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वं रूपमेक परम् ।।१४।।

भावार्थ -- जिस पुरुष की मति स्याद्वादरूपी जल के भरे समुद्र मे स्नान करने से धोई गई है -- निर्मल हो गई है वही शुद्ध व मुक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, तथा वह उसी स्वरूप को ग्रहण करने योग्य साक्षात् मानता है । व्यवहार से सिद्ध मे व संसारी में भेद किया हुआ है । यदि निश्चय से इस भेद को दूर कर दिया जावे तो जो सिद्ध स्वरूप है वही इस अपने आत्मा का स्वभाव है, उसी को ही अनुभव करना योग्य है ।

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणी ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो
उद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ।।२४।।

भावार्थ .-- जो पुरुष विस्तीर्ण ज्ञानाकार श्रीसिद्ध परमात्मा को जानता है वही सर्व बुद्धिमानो मे शिरोमणि है । जो सिद्ध परमात्मा के ज्ञान से शून्य

होकर तर्क व्याकरण आदि शास्त्रो को जानता है तो उससे क्या प्रयोजन होगा ? बाण तो उसे ही कहते हैं जो निशाने को वेध सके अन्यथा व्यर्थ है। आत्मज्ञान ही यथार्थज्ञान है, उसके विना अनेक विद्याए आत्महितकारी नही हैं।

(२६) श्री पद्मनदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय मे कहते हैं —

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः।
यावदत्र परमात्मसविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः ॥३६॥

भावार्थ -- इस जगत मे जब तक परमात्मा का ज्ञान मानव के हृदय मे नही विराजता है तब तक ही बुद्धि रूपी नदी, शास्त्र रूपी समुद्र की तरफ आगे आगे दौडती रहती है। आत्मा का अनुभव होते ही बुद्धि स्थिर हो जाती है।

बाह्य शास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता ॥३८॥

भावार्थ :— जो बुद्धि अपने **चैतन्यरूपी** कुल घर से निकलकर बाहरी शास्त्रो के वन मे बिहार करती हुई नाना विकल्प करने वाली है वह बुद्धि सती स्त्री के समान पतिव्रता नही है किन्तु खोटी स्त्री के समान व्यभिचारिणी है। बुद्धि वही सफल है जो अपने ही आत्मा मे रमण करे, अनेक शास्त्रो के विकल्प भी न करे।

सुप्त एव बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः।
शास्त्रमेतदधिगम्य साप्रतं सुप्रबोध इह जायतामिति ॥४६॥

भावार्थ -- यह मानव दीर्घकाल से लगातार मोहरूपी निद्रा से सो रहा है। अब तो उसे अध्यात्म शास्त्र को जानना चाहिये और आत्मज्ञान को जागृत करना चाहिये।

(२७) श्री पद्मनदि मुनि निश्चयपचाशत मे कहते हैं :—

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित् ॥८॥

भावार्थ :— व्यवहारनय अज्ञानी को समझाने के लिए है परन्तु शुद्ध निश्चय नय कर्मो के क्षय के लिए है। इसलिए मैं मोक्ष का इच्छुक होकर अपने आत्मा के कल्याण के लिए "उस शुद्ध निश्चय नय के आश्रित ही कुछ कहूँगा।"

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिद्ध्यति सम्यग्बोधाद्वृते जातु ॥१६॥

भावार्थ :– जो मुनि अहिंसा धर्म पालता हुआ, एकाकी सर्व प्रकार के कष्टो को व उपसर्गो को सहता हुआ वन मे रहता है परन्तु आत्मज्ञानमयी सम्यग्ज्ञान से शून्य है वह मुक्त नही हो सकता । वह वन मे वृक्ष के समान ही रहने वाला है ।

(२८) श्री पद्मनदि मुनि परमार्थविंशति मे कहते हैं :–

यत्सातं यदसातमङ्गिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं तत-
स्तत्कर्मैवतदन्यदात्मन इदं जानन्ति ये योगिन ।
ईदृग्भेदविभावनाकृतधियां तेषां कुतोहं सुखी ।
दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ॥१२॥

भावार्थ .– प्राणियो को साता तथा असाता होती है सो कर्मो के उदय का कार्य है । इसलिए वह कार्य भी कर्म्मरूप ही है । वह आत्मा के स्वभाव से भिन्न है ऐसा योगीगण जानते हैं उनके भीतर भेदज्ञान की वृद्धि होती है तब यह विकल्प कि मैं सुखी हूँ या मै दु खी हूँ उनके मन मे कैसे हो सकता है ।

(२९) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय मे कहते है –

ज्ञानभावनया जीवो लभंते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥४॥

भावार्थ :– यह जीव पाचो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होकर विनय और आचार सहित ज्ञान की भावना करने से आत्मा के कल्याण को प्राप्त करता है ।

आत्मानं भावयेन्नित्यं ज्ञानेन विनयेन च ।
मा पुनर्म्रियमाणस्य पश्चात्तापो भविष्यति ॥५॥

भावार्थ :– हे भव्य जीव ! नित्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना ज्ञान के साथ विनय पूर्वक करो नही तो मरने पर बहुत पश्चात्ताप होगा कि कुछ न कर सके । मरण का समय निश्चित नही है इससे आत्मज्ञान की भावना सदा करनी योग्य है ।

न जन्मन फलं सार यदेतज्ज्ञानसेवनम् ।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ॥७॥

भावार्थ :— मानव जन्म का यही सार फल है जो सम्यग्ज्ञान की भावना की जावे और अपने वीर्य को न छिपाकर संयम को धारण किया जावे ।

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो ध्याने चाध्ययने तथा ।
तपसो रक्षणं चैव यदीच्छेद्धितमात्मनः ॥६॥

भावार्थ — हे भाई ! यदि अपने आत्मा का हित चाहते हो तो ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा सदा ही ज्ञान का मनन करो और तप की रक्षा करो ।

ज्ञानादीत्यो हृदियस्य नित्यमुद्योतकारकः ।
तस्य निर्मलता याति पंचेन्द्रियदिगङ्गना ॥१०॥

भावार्थ :— जिसके हृदय मे ज्ञान सूर्य सदा प्रकाशमान रहता है उसकी पाचो इन्द्रियो की दिशारूपी स्त्री निर्मल रहती है । अर्थात् इन्द्रियाँ विकार रहित अपना २ काम ऐसा करती है जिससे आत्मा का अहित न हो ।

सर्वद्वन्द्व परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना ।
ज्ञानामृत सवापेयं चित्ताल्हादमुत्तमम् ॥१२॥

भावार्थ :— अतरात्मा सम्यग्दृष्टि को निश्चिन्त होकर सर्व रागद्वेषादि के झगडे को छोडकर चित्त को आनन्द देनेवाले उत्तम आत्मज्ञानरूपी अमृत का पान सदा करना चाहिये ।

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
ससारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ॥१३॥
अधुना तत्त्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसंयुतम् ।
प्रमाद मा पुनः कार्षीविषयास्वादलालस ॥१४॥

भावार्थ :— आत्मज्ञानरूपी महा रत्न है उसको अब तक कभी भी तूने इस अनेक दु खो से भरे हुए भयानक ससार मे भ्रमते हुए नही पाया । उस महा-रत्न को आज तूने सम्यग्दर्शन सहित प्राप्त कर लिया है अब आत्मज्ञान का अनुभव कर विषयो के स्वाद की लालसा मे पडकर प्रमादी मत बन ।

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं ज्ञानं कर्मपरिक्षये ।
उपयोगिधनं पात्रे यस्य याति स पंडितः ॥१८॥

भावार्थ – वही पडित है जिसका आत्मा का वीर्य शुद्ध तप मे खर्च होता है, जो ज्ञान को कर्मो के क्षय मे लगाता है तथा जिसका धन योग्य पात्रो के काम आता है ।

गुरुशुश्रूषया जन्म चित्तं सद्ध्यानचिन्तया ।
श्रुतं यस्य समे याति विनियोगं स पुण्यभाक् ॥१६॥

भावार्थ :-- वही पुण्यात्मा है जिसका जन्म गुरु की सेवा करते हुए बीतता है, जिसका मन धर्मध्यान की चिता मे लीन रहता है तथा जिसके शास्त्र का अभ्यास साम्यभाव की प्राप्ति के लिये काम में आता है ।

नियतं प्रशमं याति कामदाह सुदारुणः ।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्याद्विषं मंत्रपदैर्यथा ॥११३॥

भावार्थ -- भयानक भी काम का दाह, आत्मध्यान व स्वाध्याय मे ज्ञानोपयोग के बल से नियम से शात हो जाता है जैसे मत्र के पदो से सर्प का विष उतर जाता है ।

प्रज्ञाङ्गना सदा सेव्या पुरुषेण सुखावहा ।
हेयापादेयतत्वज्ञा या रता सर्वकर्मणि ॥२५८॥

भावार्थ – प्रज्ञा या भेदविज्ञानमयी विवेक बुद्धि सर्व कार्यो मे त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्व को जानने वाली रहती है । इसलिये हर एक पुरुष को उचित है कि इस सुखकारी प्रज्ञारूपी स्त्री की सदा सेवा करे ।

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञाने नशुद्ध्यति ।
गुरुशुश्रूषया कायः शुद्धिरेष सनातनः ॥३१७॥

भावार्थ :– वाणी की शुद्धि सत्य वचन से रहती है, मन सम्यग्ज्ञान से शुद्ध रहता है, गुरु सेवा से शरीर शुद्ध रहता है, यह अनादि से शुद्धि का मार्ग है ।

(३०) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है :–

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुता ।
यत्र भावा स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥१-७॥

भावार्थ :– जिसमें तीन काल के गोचर अनन्त गुण पर्याय सयुक्त पदार्थ अतिशय रूप से प्रतिभासित होते हैं उसी को ज्ञानियो ने ज्ञान कहा है । ज्ञान वही है जो सर्व ज्ञेयो को जान सके ।

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः ।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् । १०-७॥

भावार्थ – केवलज्ञान ज्योति का स्वरूप योगियो ने ऐसा कहा है कि जिस ज्ञान के अनन्तानन्त भाग मे ही सर्व चर अचर लोक तथा अलोक प्रतिभासित हो जाता है । ऐसे अनन्त लोक हो तो भी उस ज्ञान मे झलक जावे । इतना विशाल व आश्चर्यकारी केवलज्ञान है ।

अगम्य यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।
तद्दुर्वोधोद्धतं ध्वान्त ज्ञानभेद्यं प्रकीर्त्तितम् ॥११-७॥

भावार्थ :– जिस मिथ्यात्व के अधकार को चन्द्रमा नही मेट सकता, सूर्य नही भेद सकता उस अज्ञानाधकार को सम्यग्ज्ञान मेट देता है, ऐसा कहा गया है ।

बोध एव दृढ. पाशो हृषीकमृगबन्धने ।
गारुडश्च महामंत्रः त्रित्तभोगिविनिग्रहे ॥१४-७॥

भावार्थ :– इन्द्रिरूपी मृगो को बाधने लिये सम्यग्ज्ञान ही दृढ फांसी है, और चित्तरूपी सर्प को वश करने के लिये सम्यग्ज्ञान ही एक गारुडी महामत्र है ।

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।
स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिरं ॥१६-७॥

भावार्थ :– इस पृथ्वी पर जो साधु अज्ञानपूर्वक आचरण पालता है वह दीर्घकाल तक तप करता रहे तो भी अपने को कर्म से बाधेगा । अज्ञानपूर्वक तप बन्ध ही का कारण है ।

ज्ञानपूर्वमनुष्ठान निःशेषं यस्य योगिनः ।
न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥२०-७॥

भावार्थ :– जिस मुनि का सर्व आचरण ज्ञानपूर्वक होता है उसके कर्मों का बंध किसो भी क्षण मे नही होता है ।

दुरिततिमिरहंसं मोक्षलक्ष्मीसरोजं ।
मदनभुजगमन्त्रं चित्तमातङ्गसिंहं ।
व्यसनघनसमीरं विश्वतत्त्वैकदीपं ।
विषयशफरजालं ज्ञानमाराधय त्वं ॥२२-७॥

भावार्थ :– हे भव्य जीव ! सम्यग्ज्ञान की आराधना करो। यह सम्यग्ज्ञान पाप रूपी अंधकार के हरने को सूर्य के समान है, मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास के लिये कमल के समान है, कामरूपी सर्प के कीलने को मंत्र के समान है, मनरूपी हाथी के वश करने को सिंह के समान है, आपदारूपी मेघों को उड़ाने के लिये पवन के समान है, समस्त तत्त्वों को प्रकाश करने के लिये दीपक के समान है, तथा पाँचों इन्द्रियों के विषयों को पकड़ने के लिये जाल के समान है।

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय ।
विशुष्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ॥२२-२३॥

भावार्थ :– भली प्रकार विचार करके हे धीर प्राणी ! तू निश्चय से आत्मज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश का आश्रय ले, जिस सूर्य के प्रकाश के होने से रागरूपी नदी सूख जाती है।

अलब्धपूर्वमासाद्य तदासौ ज्ञान दर्शने ।
वेत्ति पश्यति निःशेष लोकालोकं यथास्थितम् ॥३१-४२॥
तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः ।
अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिम पदम् ॥३२-४२॥

भावार्थ – केवली भगवान चार घातिय कर्म के नाश होने पर जिनको पहले कभी प्रगट नहीं किया था उन केवलज्ञान व केवलदर्शन गुणों को प्रगट कर सर्व लोक और अलोक यथावत् देखते जानते हैं तब ही वे भगवान् सर्व काल प्रकाश करने वाले सर्वज्ञ देव होते हैं और अनन्त सुख और अनंत वीर्य आदि विभूति के प्रथम स्वामी होते हैं।

(३१) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्त्वज्ञानतरंगिणी में कहते हैं :–

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् सम जानाति पश्यति ।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ॥३-१॥

भावार्थ -- जो सर्व पदार्थो को जैसा उनका स्वरूप है इसी रूप से एक ही साथ देखता है व जानता है तथा जो निराकुल है और गुणो का भण्डार है, उसे शुद्ध चैतन्य प्रभु परमात्मा कहते है ।

> दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः ।
> ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादक ।।८-८।।
>
> ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशक ।
> ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ।।९-८।।

भावार्थ – इस लोक मे शुद्ध चैतन्य के स्वरूप की रुचि रखने वाला मानव दुर्लभ है, उससे भी कठिन चैतन्य स्वरूप के बताने वाले शास्त्र का मिलना है । उससे भी कठिन उसके उपदेशक गुरु का लाभ होना है । वह भी मिल जाय तो भी चिन्तामणि रत्न के समान भेदविज्ञान का प्राप्त होना दुर्लभ है । यदि कदाचित् भेद विज्ञान हो जाय तो आत्म कल्याण मे प्रमाद न करना चाहिये ।

> अच्छिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः ।
> शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै सर्वशास्त्रविशारदः ।।१३-८।।

भावार्थ :– सर्व शास्त्रो के ज्ञाता विद्वान को उचित है कि शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिये लगातार धारावाही भेदविज्ञान की भावना करे, आत्मा को अनात्मा से भिन्न मनन करे ।

> सता वस्तूनि सर्वाणि स्याच्छब्देन वचांसि च ।
> चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ।।७-१२।।

भावार्थ :– वह सम्यग्दृष्टि व सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है जिसको विश्वास है कि सर्व वस्तु सत्रूप है तथा जो स्यात् शब्द के साथ वाणी बोलता है अर्थात् जो अनेकान्त पदार्थ को समझाने के लिये भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक एक स्वभाव को बढाता है तथा जिसको यह विश्वास है कि ज्ञान अपने विषय की अपेक्षा जगत व्यापी है ।

> स्वस्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञानं निश्चयाद् वरं ।
> कर्मरेणूच्चये बातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ।।१२-१२।।

भावार्थ :-- अपने शुद्ध आत्म स्वरूप का जानना वह श्रेष्ठ निश्चय सम्यग्ज्ञान है। इस ही से कर्मों का क्षय होता है तथा इसी को मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति का साधन जानो।

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजेत्तत्त्वात्।
तत्परमज्ञानं स्याद्वहिरंतरसगमुक्तस्य ।।१३-१२।।

भावार्थ :-- वाहरी भीतरी दोनो प्रकार के परिग्रह से रहित साधु के मोह के अभाव होने पर जो अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप का अनुभव होता है वह उत्कृष्ट निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ।।१०-१५।।

भावार्थ :-- शास्त्र को मननकर, सद् गुरु के उपदेश से व साधर्मी भाइयो की सगति से अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के उसी का आलम्बन लेकर तिष्ठ, उसी का मनन ध्यान और चितवन कर, पर पदार्थों की सगति छोड।

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविना भवेत्।
आद्याना निर्विकल्प तु परेषा सविकल्पकं ।।८-१७।।

भावार्थ -- जानने योग्य पदार्थो का देखना व जानना सिद्ध और ससारी दोनो को होता है। सिद्धो के वह ज्ञान दर्शन निर्विकल्प है, निराकुल स्वाभाविक समभाव रूप है, जब कि ससारी जीवो के ज्ञान दर्शन सविकल्प है, आकुलता सहित है।

(३२) प० वनारसीदासजी समयसारनाटक मे कहते है --

[सवैया तेईसा]

जोग धरे रहे जोगसु भिन्न, अनत गुणातम केवलज्ञानी।
तासु हृदे द्रहसो निकसी, सरिता समव्है श्रुत सिधु समानी ।।
याते अनत नयातम लक्षण, सत्य सरूप सिद्धात बखानी।
बुद्धि लखे न लखे दुरबुद्धि, सदा जममाँहि जगे जिनवाणी ।।३।।

[सवैया इकतीसा]

निहचे में एक रूप व्यवहार मे अनेक,
याही नय विरोध ने जगत भरमायो है।
जग के विवाद नाशिवे को जिनआगम है,
ज्या मे स्याद्वाद नाम लक्षण सुहायो है।।
दर्शन मोह जाको गयो है सहजरूप,
आगम प्रमाण ताके हिरदे मे आयो है।
अनय सो अखडित अनूतन अनत तेज,
ऐसो पद पूरण तुरन्त तिन पायो है।।५।।

परम प्रतीति उपजाय गणधर कीसी,
अतर अनादि की विभावता विदारी है।
भेदज्ञान दृष्टि सो विवेक को शकति साधि,
चेतन अचेतन की दशा निरवारी है।।
करम को नाशकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिये मे हरखि निज शुद्धता सभारी है।
अतराय नाश गयो शुद्ध परकाश भयो,
ज्ञान को विलास ताको वदना हमारी है।।२।।

[कवित्त[

ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति, पै वह ज्ञान ज्ञेय नहिं होय।
ज्ञेयरूप षट् द्रव्य भिन्न पद, ज्ञानरूप आतम पद सोय।।
जाने भेद भाव सुविचक्षण, गुण लक्षण सम्यक् दृग जोय।
मूरख कहे ज्ञान महि आकृति, प्रगट कलक लखे नहिं कोय।।५२।।

(३३) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते हैं –

[सवैया तेईसा]

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत है जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयौ दुखदाता।।

सो जडरूप सरूप नही मम, मै निज सुद्ध सुभावहि राता ।
नाश करौ पल मे सबकौ अब, जाय बसौ सिवखेत विख्याता ।।६५।।

सिद्ध हुए अब होइ जु होइगे, ते सब ही अनुभौगुनसेती ।
ताविन एक न जीव लहै सिव, घोर करौ किरिया बहु केती ।।
ज्यौ तुपमाहि नही कनलाभ, किये नित उद्यम की विधि जेती ।
यौ लखि आदरिये निजभाव, विभाव विनाश कला शुभ एती ।।६६।।

[सवैया इकतीसा]

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निजभाव दूजौ परउतपात है ।
तातै एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ,
जातै सिवपद लहौ यही ठीक बात हे ।।
भावकौ दुखायौ जीव भाव ही सौ सुखी होय,
भाव ही कौ फेरि फेरै मोखपुर जात है ।
यह तौ नीकौ प्रसग लोक कहै सरवग,
आगही कौ दाधौ अग आग ही सिरात है ।।१०७।।

केई केई बार जीव भूपति प्रचड भयौ,
केई केई बार जीव कीटरूप धरचो है ।
केई केई बार जीव नौ ग्रीवक जाय वस्यौ,
केई बार सात मे नरक अवतरचो है ।।
केई केई बार जीव राघौ मच्छ होइ चुक्यौ,
केई बार साधारन तुच्छ काय वरचो है ।
सुख और दु ख दोऊ पावत है जीव सदा,
यह जान ग्यानवान हर्ष सोक हरचौ है ।।११५।।

बार बार कहै पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तू तौ सौयौ मोह झगमैं ।
आतमासेती विमुख गहै राग दोषरूप,
पचइन्द्रीविषैसुखलीन पग पगमे ।।

पावत अनेक कष्ट होत नाहि अष्ट नष्ट,
महा पद मिष्ट भयौ भमै सिष्ट मगमैं ।
जागि जगवासी तू उदासी व्हैके विषयसौ,
लागि शुद्ध अनुभौ ज्यौ आवै नाहिं जगमैं ।।११७।।

[छप्पय]

तिय मुख देखनि अंध, मूक मिथ्यात मननकौ ।
बधिर दोप पर सुनन, लुज षटकाय हननकौ ।।
पगु कुतीरथ चलन, सुन्न हिय लेन धरनकौ ।
आलसि विषयनि माहि, नाहि बल पाप करनकौ ।।
यह अंगहीन किह कामकौ, करै कहा जग बैठकै ।
द्यानत तातै आठौ पहर, रहै आप घर पैठकै ।।५।।
होनहार सो होय, होय नहिं अन-होना नर ।
हरष सोक क्यो करै, देख सुख दुःख उदैकर ।।
हाथ कछू नहिं परै, भाव-ससार बढावै ।
मोह करमकौ लियौ, तहा सुख रच न पावै ।।
यह चाल महा मूरखतनी, रोय रोय आपद सहै ।
ग्यानी विभाव नासन निपुन, ग्यानरूप लखि सिव लहै ।।६।।

[कवित्त]

देव गुरु सुभ धर्म कौं जानियै, सम्यक आनियै मोखनिसानी ।
सिद्धनितै पहलै जिन मानियै, पाठ पढै हूजियै श्रुतग्यानी ।।
सूरज दीपक मानक चदतै, जाय न जो तम सो तम हानी ।
द्यानत मोहि कृपाकर दो वर, दो कर जोरि नमौ जिनवानी ।।२०।।

[सवैया तेईसा]

जाहीकौ ध्यावत ध्यान लगावत, पावत हैं रिसि परम पदीकौं ।
जा थुति इन्द फनिंद नरिंद, गनेस करै सब छाडि मदीकौ ।।
जाहीकौ वेद पुरान बतावत, धारि हरै जमराज वदीकौ ।
द्यानत सो घट माहि लखौ नित, त्याग अनेक विकल्प नदीकौ ।।२३।।

(३४) भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास मे कहते है –

[सवैया इकतीसा]

जो पै तोहि तरिबे की इच्छा कछू भई भैया,
तौ तौ वीतरागजू के वच उर धारिये।
भौसमुद्रजल मे अनादि ही तै बूडत हो,
जिननाम नौका मिली चित्ततै न टारिये ॥
खेवट विचारि शुद्ध थिरतासो ध्यान काज,
सुख के समूह को सुदृष्टिसौ निहारिये।
चलिये जो इह पथ मिलिये श्यौ मारग मे,
जन्मजरामरन के भय को निवारिये ॥८॥

+ + +

वीतराग वानीकी न जानी बात प्राणी मूढ,
ठानी तै क्रिया अनेक आपनी हठाहठी।
कर्मन के बध कौन अन्ध कछू सूझै तोहि,
रागदोष परिणतसो होत जो गठागठी ॥
आतमा के जीत की न रीत कहुँ जानै रच,
ग्रन्थन के पाठ तू करै कहा पठापठी।
मोहको न कियौ नाश सम्यक न लियो भास,
सूत न कपास करै कोरीसौ लठालठी ॥१०॥

+ + +

सुन जिनवानी जिहँ प्रानी तज्यो रागद्वेष,
तेई धन्य धन्य जिन आगम मे गाये है।
अमृत समानी यह जिहँ नाहि उर आनी,
तेई मूढ प्रानी भावभँवरि भ्रमाये है ॥
याही जिनवानी को सवाद सुख चाखो जिन,
तेही महाराज भये करम नसाये है।

तातै दृग खोल 'भैया' लेहु जिनवानी लखि,
सुख के समूह सब याही मे बताये है ।।४।।

\+ + +

केवली के ज्ञान में प्रमाण आन सब भासै,
लोक औ अलोकनकी जेती कछु बात है ।
अतीत काल भई है अनागत मे होयगी,
वर्तमान समैकी विदित यो विख्यात है ।।
चेतन अचेतन के भाव विद्यमान सबै,
एक ही समै मे जो अनत होत जात है ।
ऐसी कछु ज्ञान की विशुद्धता विशेप बनी,
ताको धनी यहे हस कैसे विललात है ।।२५।।

[छप्पय]

ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कपायें ।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखाये ।।
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै नित मानत ।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ।।
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम ।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, चिदानद चेतन धरम ।।८।।

[कवित्त]

ग्यारह अग पढै नव पूरव, मिथ्या बल जिय करहिं बखान ।
दे उपदेश भव्य समुझावत, ते पावत पदवी निर्वान ।।
अपने उर मे मोह गहलता, नहिं उपजै सत्यारथ ज्ञान ।
ऐसे दरवश्रुत के पाठी, फिरहिं जगत भाखें भगवान ।।११।।

नवां अध्याय

सम्यक्चारित्र और उसका महात्म्य

यह बात बताई जा चुकी है कि यह ससार असार है, दुःखो का सागर है, शरीर अपवित्र व नाशवत है, भोग अतृप्तिकारी व आकुलतामय हे। अतीन्द्रिय सहज सुख ही ग्रहण करने योग्य सच्चा सुख है। वह सुख आत्मा ही का स्वभाव है। इसलिये सहज सुख का साधन आत्मानुभव है या आत्मध्यान है। इसी आत्मानुभव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता कहते है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का निश्चयनय तथा व्यवहारनय से कुछ स्वरूप कहा जा चुका है। अब इस अध्याय मे सम्यक्चारित्र का कुछ सक्षिप्त कथन किया जाता है।

निश्चयनय से सम्यक्चारित्र :– अपने शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थिरता प्राप्त करना, रागद्वेप मोह के विकल्पो से रहित हो जाना, निश्चय सम्यक्चारित्र है। आत्मा का स्वभाव यदि विचार किया जावे तो वह शुद्ध अखड ज्ञानानन्दमय द्रव्य है। वही परमात्मा, वही भगवान, वही ईश्वर, वही परब्रह्म, वही परम ज्योतिस्वरूप है। उसका यह स्वभाव कभी मिटा नही, मिटता नही, मिटेगा नही। उस आत्मा के स्वभाव मे न कुछ बध है जिससे मुक्ति करने की कल्पना हो, न कोई रागादिभाव है जिनको मिटाना हो, न कोई ज्ञानावरणादि कर्म है जिनसे छूटना हो, न कोई शरीरादि नौकर्म है जिनकी सगत हटाना हो।

यह आत्मा विकारो से रहित यथार्थ एक ज्ञायक स्वरूप परम शुद्ध समय सार है, स्वसमय है, निराबाध है, अमूर्तिक है। शुद्ध निश्चयनय से उनमे किसी साधन की आवश्यकता नही है। वह सदा ही सहजानद स्वरूप है। वहा सहज सुख के साधन की कोई कल्पना नही है। यह सब द्रव्यार्थिकनय से शुद्ध द्रव्य का विचार है। इस दृष्टि मे किसी भी साधन की जरूरत नही है।

पर्यायार्थिकनय या पर्याय की दृष्टि देख रही है कि इस संसारी आत्मा के साथ तैजस कार्माण दो सूक्ष्म शरीर प्रवाह रूप से साथ साथ चले आ रहे है। इस कार्माण शरीर के ही कारणो से रागद्वेष, मोह आदि भाव कर्म पाये जाते हैं तथा औदारिक, वैक्रियक, आहारक व अन्य बाहरी सामग्री रूपी नोकर्म का सयोग है। इस अवस्था के कारण ही इस जीव को जन्म मरण करना पडता है, दु ख व सुख के जाल मे फॅसना पडता है, बार बार कर्म बध करके उसका फल भोगते हुए इस ससार मे ससरण करना पडता है। इसी पर्यायदृष्टि या व्यवहारनय से सहज सुख साधन का विचार है। रत्नत्रय का साधन इसी दृष्टि से करने की जरूरत है, सम्यग्दर्शन से जब आत्मा का सच्चा स्वरूप श्रद्धा मे, प्रतीति मे, रुचि मे जम जाता है, सम्यग्ज्ञान से जब आत्मा का स्वरूप सशयादि रहित परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा आनदमय जाना जाता है, तब सम्यक्चारित्र से इसी श्रद्धा व ज्ञान सहित शुद्ध आत्मिक भाव मे रमण किया जाता है, चला जाता है, परिणमन किया जाता है, तिष्ठा जाता है। यही सम्यक्चारित्र है।

इसीलिये चारित्र की बडी भारी आवश्यकता है। किसी को मात्र श्रद्धा व ज्ञान करके ही सतोपित न हो जाना चाहिये। किन्तु चारित्र का अभ्यास करना चाहिये। विना चारित्र के श्रद्धान और ज्ञान अपने अभीष्ट फल को नहीं दे सकते।

एक मनुप्य को श्रद्धान व ज्ञान है कि यह मोती की माला है, पहिनने योग्य है, पहिनने से शोभा होगी परन्तु जब तक वह उसको पहिनेगा नही तब तक उसकी शोभा नही हो सकती, विना पहिने हुए ज्ञान श्रद्धान व्यर्थ है। एक मानव के सामने रसीले पकवान बरफी, पेडा, लाडू आदि पदार्थ रक्खे हैं। वह उनका ज्ञान व श्रद्धान रखता है कि ये सेवन योग्य हैं, इसका सेवन लाभकारी है, स्वादिप्ट हैं, परन्तु जब तक वह उन मिप्ट पदार्थों का सेवन एकाग्र होकर न करेगा तब तक उसका श्रद्धान व ज्ञान कार्यकारी नही है।

एक मानव के सामने पुप्पो का गुच्छा पड़ा हुआ है। वह जानता है व श्रद्धान रखता है कि यह सू घने योग्य है। सू घने से शरीर को लाभ होगा परन्तु यदि वह सू घे नही तो उसका ज्ञान व श्रद्धान कुछ भी काम का नही होगा। एक

मानव को श्रद्धान है व ज्ञान है कि वम्बई नगर देखने योग्य है । परन्तु जव तक वह बम्बई मे आकर देखेगा नही तव तक उसका ज्ञान श्रद्धान सफल न होगा।

एक मानव को श्रद्धान व ज्ञान है कि लाला रतनलाल जी वडा ही मनोहर गाना वजाना करते है, वहुत अच्छे भजन गाते है । जव तक उनको सुनने का प्रवन्ध न किया जाय तव तक यह गाने वजाने का ज्ञान व श्रद्धान उपयोगी नही हो सकता है । विना चारित्र के ज्ञान व श्रद्धान की सफलता नही ।

एक मन्दिर पर्वत के शिखर पर है । हमको यह श्रद्धान व ज्ञान हे कि उस मन्दिर पर पहुँचना चाहिये व उसका मार्ग इस प्रकार हे, इस प्रकार चलेगे तो अवश्य मन्दिर मे पहुँच जावेंगे, परन्तु हम आलसी वने बैठे रहे, चलने का पुरुषार्थ न करे तो हम कभी भी पर्वत के मन्दिर पर पहुँच नही सकते है । जो कोई अयथार्थ तत्वज्ञानी अपने को परमात्मावत् ज्ञाता दृष्टा अकर्त्ता अभोक्ता वन्ध व मोक्ष से रहित मानकर, श्रद्धान कर, जानकर ही सतुष्ट हो जाते हे और स्वच्छद होकर रागद्वेष वर्द्धन कारक कार्यों मे प्रवृत्ति रखते रहते है कभी भी आत्मानुभव का या आत्मध्यान का साधन नही करते है वे कभी भी अपने श्रद्धान व ज्ञान का फल नही पा सकते । वे कभी भी सहज सुख का लाभ नहीं कर सकते । वे कभी भी कर्मों से मुक्त स्वाधीन नही हो सकते ।

यथार्थ तत्त्वज्ञानी स्वतत्त्व को ही मुख्य सहज सुख का साधन व मुक्ति का मार्ग मानते है । यही जैन सिद्धात का सार हे । अतएव निश्चय सम्यक्-चारित्र के लाभ की आवश्यकता है, स्वात्म रमण की जरूरत है, आत्मध्यान करना योग्य है । इसका स्वरूप पहले वताया जा चुका है । आत्मा का यथार्थ ज्ञान व यथार्थ श्रद्धान होते हुए जितने अश मे स्वस्वरूप मे थिरता, एकाग्रता, तन्मयता होगी वही निश्चय सम्यक्चारित्र है ।

जैन सिद्धात ने इसीलिये स्वात्मानुभव की श्रेणिया वताकर अविरत सम्यग्दृष्टि स्वात्मानुभव को दोज का चन्द्रमा कहा है । वही पाचवे देशविरत गुणस्थान मे अधिक प्रकाशित होता है । छठे प्रमत्तविरत मे इससे अधिक, अप्रमत्त विरत मे इससे अधिक-श्रेणी मे उससे अधिक, क्षीण मोह गुणस्थान मे उससे अधिक, सयोग केवलि परमात्मा के पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान स्वात्मानुभव

प्रकाशित हो जाता है । इसी स्वानुभव को ही धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कहते हैं । इसी को शुद्ध योग कहते है । इसी को कारण समयसार कहते हैं, परमात्मा के स्वानुभव को कार्य समयसार कहते है । इसी को सहज सुख साधन कहते हैं । परमात्मा के स्वानुभव पूर्ण अनतसुख को सहज सुख साध्य कहते हैं।

वास्तव मे मन, वचन, कायों की चचलता रागद्वेष मोह से या कषायो के रग से रगी हुई स्वात्मानुभव मे बाधक है । जितनी २ यह चचलता मिटती जाती है उतनी उतनी ही स्वात्मानुभव की कला अधिक अधिक चमकती जाती है । जैसे पवन के झोको से समुद्र क्षोभित होकर थिर नही रहता है, जितना २ पवन का झोका कम होता जाता है उतना २ क्षोभपना भी कम हो जाता है । जब पवन का सचार बिलकुल नही रहता है तब समुद्र बिलकुल थिर हो जाता है उसी तरह रागद्वेष या कषायो के झकोरे जितने अधिक होते हैं उतना ही आत्मा का उपयोग रूपी जल क्षोभित व चचल रहता है । जितना २ कषायो का उदय घटता जाता है, चचलता कम होती जाती है, कषायो का अभाव शुद्धात्मचर्या को निष्कम्प प्राप्त करा देता है ।

निश्चय सम्यक्चारित्र या आत्मानुभव की प्राप्ति का एक सहज उपाय यह है कि विश्व को व स्वपर को व्यवहार नय से देखना बद करके निश्चयनय से देखा जावे । निश्चयनय की दृष्टि मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छहो द्रव्य पृथक् २ अपने मूल स्वभाव मे ही दिखलाई पड़ेंगे । धर्म, अधर्म, काल, आकाश तो सदा ही स्वभाव मे रहते है, वे वैसे ही दिख पडेंगे । पुद्गल रूप शुद्ध परमाणु रूप दिखलाई देंगे । उनकी शोभनीक व अशोभनीक मकान मन्दिर महल वस्त्र आभूषण बर्तन आदि की अवस्थाए बिलकुल नही दिखलाई देगी तथा जितने जीव है सब शुद्ध परमात्मा के समान दिखलाई पडेगे । आप भी परमात्मा रूप अपने को मालूम पडेगा । इस दृष्टि से देखते हुए रागद्वेष की उत्पत्ति के सब कारण हट जावेगे । छोटे बड़े ऊच, नीच की, स्वामी सेवक की, मित्र शत्रु की, बधु अबधु की, स्त्री पुरुष की, मानव या पशु की सर्व कल्पनाएँ दूर हो जायेंगी । सिद्ध ससारी का भेद भी मिट जायेगा । अशुचि व शुचि पदार्थ की कल्पना भी चली जायेगी । फल यह होगा कि परम समताभाव जागृत हो जायेगा, समभावरूपी सामायिक का उदय हो जायेगा ।

यह स्वात्मानुभव की प्राप्ति की सीढी है। फिर वह समदृष्टि ज्ञाता आत्मा केवल अपने ही आत्मा की तरह उपयुक्त हो जाता है। कुछ देर के पीछे निर्विकल्पता आ जाती है, स्वरूप मे स्थिरता हो जाती है, स्वानुभव हो जाता है, यही निश्चय सम्यक्चारित्र है। निश्चय सम्यक्चारित्र स्वात्मानुभवरूप ही है। न यहा मन का चिन्तवन है न वचन का जल्प या मनन है, न काय का हलन चलन है – मन, वचन, काय की क्रिया से अगोचर है। वास्तव मे स्वात्मानुभव होते हुए मन का मरण ही हो जाता है या लोप ही हो जाता है या अस्त ही हो जाता है। मन, वचन, काय के विकारो के मध्य मे पडा हुआ निर्विकार आत्मा आत्मारूप से झलक जाता है, विकार सब मिट जाते है।

सम्यक्चारित्र बडा ही उपकारी है। इसी का अभ्यास वीतराग विज्ञानमय भाव की उन्नति करता है व सराग व अज्ञानमय भाव को दूर करता है। यह बात साधक को बराबर ध्यान मे रखनी चाहिये कि जब तक आत्मानुभव न हो तब तक निश्चय सम्यक्चारित्र का उदय नही हुआ। जैसे व्यापारी को हर एक व्यापार करते हुए धनागम पर लक्ष्य है, कुटुम्ब के भीतर सर्व प्राणियो का परिश्रम करते हुए, मकान मे अन्नादि सामग्री एकत्र करते हुए, वर्तनादि व लकड़ी जमा करते हुए, रसोई का प्रबध करते हुए, यही लक्ष्य रहता है कि हमारा सबका क्षुधारोग मिटे। इसी तरह साधक का लक्ष्य स्वात्मानुभव रहना चाहिये। सम्यक्चारित्र जितने अश है वह एक अपूर्व आत्मिक भाव का झलकाव है जिसमे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान भी गर्भित है।

वास्तव मे उपयोगात्मक या भाव निक्षेपरूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान वही होते है जहा सम्यक्चारित्र होता है। जब स्वानुभव मे एकाग्रता होती है वही सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र तीनो की एकता है, वही मोक्षमार्ग है, वही कर्मों के सवर करने का उपाय है, वही ध्यान की अग्नि है जो पूर्व बद्ध कर्मों को दग्ध करती है। जैसे अग्नि की ज्वाला जलती हुई किसी चूल्हे में एक साथ दाहक, पाचक, प्रकाशक का काम कर रही है, वैसे स्वात्मानुभव की ज्योति जलती हुई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्रमयी परिणमन करती हुई अपना काम कर रही है।

अग्नि की ज्वाला एक साथ लकडी को जला रही है, भोजन को पका रही है, अधकार को नाश कर रही है। इसी तरह स्वात्मानुभवरूप सम्यक्-चारित्र से एक साथ ही कर्म जलते है, आत्मबल बढते हुए आत्मानन्द का स्वाद आता है तथा आत्मज्ञान की निर्मलता होती है, अज्ञान का अंधकार मिटता जाता है। इसी सम्यक्चारित्र से धारावाही अभ्यास से मोहकर्मदग्ध हो जाता है। फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अतराय कर्म जल जाते है। अनत बल, अनत सुख का प्रकाश हो जाता है, अनत दर्शन व अनत ज्ञान झलक जाता है, आत्मा परमात्मा हो जाता है। सम्यक्चारित्र ही जीव को ससारी से सिद्ध अवस्था मे वदल देता है।

निश्चय सम्यक्चारित्र की तरफ प्रेमभाव, प्रतिष्ठाभाव, उपादेयभाव, भक्तिभाव, आराधकभाव, तीव्र रुचिभाव रहना चाहिये, तब ही इसकी वृद्धि होती जायेगी। यह भी याद रखना चाहिये कि निश्चय सम्यक्चारित्र आत्मा के पूर्ण थिरतारूप चारित्र का उपादान कारण है – मूल कारण है। जैसे सुवर्ण की थोडी शुद्धता अधिक शुद्धता का उपादान कारण है। जैसे सुवर्ण की शुद्धता के लिये मसाले की व अग्नि की सहायता की जरूरत है, केवल सुवर्ण अपने आप ही शुद्ध नही हो सकता। हर एक कार्य के लिये उपादान तथा निमित्त दो कारणो की आवश्यकता है। उपादान कारण कार्यरूप वस्तु स्वय हुआ करती है, निमित्तकारण वहुत से सहकारी कारण होते है। गेहूँ से रोटी अपने ही उपादान कारण से पलटती हुई बनी है परन्तु निमित्त कारण चक्की वेलन, तवा, अग्नि आदि मिले है। इसी तरह निश्चय सम्यक्चारित्र के लिये कितने ही निमित्तो की जरूरत है, जिससे उपयोग, निश्चिन्त होकर – निराकुल होकर स्वरूप रमण कर सके। ऐसे निमित्तो को मिलाने के लिये व्यवहार सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्चारित्र की सहायता से जितना जितना मन व इन्द्रियो पर विजय लाभ किया जायेगा, जितना जितना मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोका जायेगा, जितना जितना इच्छा को घटाया जायेगा, जितना जितना जगत के चेतन व अचेतन पदार्थों से सम्पर्क या सयोग दूर किया जायेगा, जितना जितना ममता का घटाव किया जायेगा, जितना जितना समता का बढाव किया

जायेगा, उतना उतना निश्चय सम्यक्चारित्र के प्रकाश का साधन बनता जायेगा। इसीलिये व्यवहार सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्चारित्र :– जो असली चारित्र तो न हो परन्तु चारित्र के प्रकाश मे सहायक हो उसको ही व्यवहार चारित्र कहते है। यदि कोई व्यवहारचारित्र पाले परन्तु उसके द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्र का लाभ न कर सके तो वह व्यवहारचारित्र यथार्थ नही कहा जायेगा, सम्यक् नही कहा जायेगा। जैसे कोई व्यापार वाणिज्य तो बहुत करे परन्तु धन का लाभ नहीं कर सके तो उस व्यापार को यथार्थ व्यापार नही कहा जायेगा।

जैसे कोई भोजनादि सामग्री तो एकत्र करे परन्तु रसोई बनाकर पेट मे भोजन न पहुचा सके तो उसका आरम्भ यथार्थ नही कहा जायेगा। निश्चय सम्यक्चारित्र रूप स्वात्मानुभव पर लक्ष्य है, उसी की खोज है, उसी के रमण का प्रेम है और तब उसमे निमित्त साधनो का सग्रह किया जाता है तो उसको व्यवहार सम्यक्चारित्र कहा जायेगा। व्यवहार सम्यक्चारित्र दो प्रकार का है – एक अनगार या साधुचारित्र दूसरा सागार या श्रावकचारित्र।

अनगार या साधुचारित्र :– यहा सक्षेप से सामान्य कथन किया जाता है। यह प्राणी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायो के वशीभूत होकर रागी, द्वेषी होता हुआ अपने स्वार्थ साधन के लिये पाँच प्रकार के पापकर्म किया करता है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह (धन धान्यादि मे मूर्च्छा) इन्ही का पूर्ण त्याग करना साधु का चारित्र है। इन्ही के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं, इन्ही की दृढता के लिये पाच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन किया जाता है। अतएव तेरह प्रकार का व्यवहारचारित्र साधु का धर्म कहलाता है। इनमे पाच महाव्रत मुख्य है :–

पांच अहिंसादि महाव्रत :– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, ये पाच महाव्रत हैं। यद्यपि ये पाच है तथापि एक अहिसा महाव्रत मे शेष चार गर्भित हैं, असत्य बोलने से, चोरी करने से, कुशील भाव से, परिग्रह की तृष्णा से आत्मा के गुणो का घात होता है। अतएव ये सब हिंसा के ही भेद हैं। जहां हिंसा का सर्वथा त्याग है वहा इनका भी त्याग हो जाता है। शिष्य को खुलासा करने के लिये इनका विस्तार इस प्रकार है :–

अहिंसा का बहुत साधारण स्वरूप तो यह है कि जो बात हम अपने लिये नही चाहते हैं वह बात हम दूसरो के लिये न चाहे, हम नही चाहते है कि हमारे सम्बन्ध मे कोई बुरा विचार करे, कोई हमे झूठ बोल के व अन्य तरह से ठगे, हमे अपशब्द कहे, हमे मारे पीटे व हमारी जान लेवे व हमारी स्त्री पर कोई कुदृष्टि करे, वैसे उनको भी दूसरो का बुरा न विचारना चाहिये । दूसरो को असत्य बोलकर व अन्य तरह न ठगना चाहिये, अपशब्द न कहना चाहिये, न दूसरो को मारना पीटना चाहिये, न प्राण हरण करना चाहिये, न पर की स्त्री पर कुभाव करना चाहिये ।

इन सब बुरे कामो की प्रेरणा भीतर अशुद्ध भावो से होती है । इसलिये जिन रागद्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभादि या प्रमाद भाव से आत्मा के शुद्ध शातभाव का घात होता है उन भावो को "भावहिसा" कहते है तथा अपने व दूसरों के द्रव्य प्राणो का घात करना "द्रव्य हिसा" है । द्रव्य प्राणो का स्वरूप जीव द्रव्य के वर्णन मे हो चुका है । भावहिसा द्रव्यहिसा का कारण है । जिस समय क्रोध भाव उठता है वह उस आत्मा के शातभाव का घात कर देता है । क्रोधी के मन, वचन, काय आदि द्रव्य प्राणो मे भी निर्बलता हो जाती है । पीछे जब वह क्रोधवश किसी को मारता पीटता है व हानि पहुंचाता है तब दूसरे के भाव प्राणो की व द्रव्य प्राणो की हिसा होती है । जब सब जीव सुख शाति चाहते हैं व जीते रहना चाहते है । तब अहिसा महाव्रत ही सबकी इस भावना को सिद्ध कर सकता है जो पूर्ण अहिसा को पालेगा, वह अपने भावो मे क्रोधादि न आने देगा, वह ऐसा बर्ताव करेगा जिससे कोई भी स्थावर व त्रस प्राणी के प्राण न घाते जावें ।

यही साधुओ का परम धर्म है जो अनेक प्रकार कष्ट दिये जाने पर भी कष्टदाता पर क्रोधभाव नही लाते हैं, जो भूमि निरखकर चलते हैं व वृक्ष की एक पत्ती भी नही तोडते हैं । हिसा दो प्रकार की होती है – "सकल्पी और आरभी" । जो प्राण घात हिसा के सकल्प से किया जावे वह सकल्पी हिंसा है, जैसे धर्म के नाम से पशुबलि करना, शिकार खेलना, मासाहार के लिये पशुओ को कटवाना आदि ।

आरंभी :– हिंसा वह है जो गृहस्थी को आवश्यक ससारी कामो मे करनी पडती है । वहा हिंसा करने का सकल्प नहीं होता है किन्तु सकल्प अन्य आवश्यक आरम्भ का होता है, परन्तु उनमे हिंसा हो जाती है । इस हिंसा को आरम्भी हिंसा कहते है । इस हिंसा के तीन भेद है :–

(१) **उद्यमी :–** जो आजीविका साधन के हेतु असिकर्म (शस्त्र कर्म), मसिकर्म (लिखना), कृपिकर्म, वाणिज्यकर्म, शिल्पकर्म और विद्याकर्म इन छ प्रकार के कामो को करते हुए होती है ।

(२) **गृहारंभी** – जो गृह मे आहार पान के प्रवन्धार्थ, मकान वनाने, कूप खुदाने, वाग लगाने आदि मे होती है ।

(३) **विरोधी** – जो दुष्टो के द्वारा व शत्रुओ के द्वारा आक्रमण किये जाने पर उनसे अपनी, अपने कुटुम्व की, अपने माल की, अपने देश की रक्षार्थ और कोई उपाय न होने पर उनको मारकर भगाने मे होती है ।

अहिंसा महाव्रती इस सकल्पी और आरभी दोनो ही प्रकार की हिंसा को त्याग कर देते है । त्रस व स्थावर सर्व की रक्षा करते है, भावो मे अहिंसात्मक भाव को पालते है, कषाय भावो से अपनी रक्षा करते है ।

सत्य महाव्रत :– मे चार तरह का असत्य नहीं कहते है :– (१) जो वस्तु हो उसको नही है ऐसा कहना । (२) जो वस्तु न हो उसको है ऐसा कहना । (३) वस्तु कुछ हो कहना कुछ और (४) गर्हित, अप्रिय व सावद्य वचन जैसे कठोर, निंदनीक, गाली के शव्द व हिंसामयी आरभ वढाने वाले वचन । महाव्रती साधु सदा हितमित मिष्ट वचन शास्त्रोक्त ही बोलते है ।

अचौर्य महाव्रत :– मे विना दिये हुए किसी की कोई वस्तु नही ग्रहण करते है, जल मिट्टी भी व जगल की पत्ती भी बिना दी नही लेते है ।

ब्रह्मचर्य महाव्रत :– मे मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदना से कभी भी कुशील का सेवन नही करते है । काम भाव से अपने परिणामो की रक्षा करते है ।

परिग्रह त्याग महाव्रत :– मे मूर्च्छा भाव का त्याग करते हैं, चौबीस प्रकार परिग्रह को त्यागते है । चौदह अतरग विभाव भाव जैसे मिथ्यादर्शन,

क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद नपुंसकवेद । दस प्रकार बाहरी, परिग्रह जैसे क्षेत्र, मकान, चाँदी, सोना, धन (गो आदि), धान्य, दासी, दास, कपडे, बर्तन ।

पांच समिति – इन पाच महाव्रतो की रक्षा के हेतु पाच समिति पालते हैं । प्रमाद रहित बर्ताव को समिति कहते है ।

ईर्या समिति :– जतु रहित प्राशुक व रौदी भूमि पर दिन के प्रकाश मे चार हाथ आगे देखकर चलना ।

भाषा समिति :– शुद्ध, मिष्ट, हितकारी, भाषा बोलना ।

एषणा समिति :– शुद्ध भोजन भिक्षा वृत्ति से लेना जो साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो ।

आदान निक्षेपण समिति :– कोई वस्तु को देखकर रखना व उठाना ।

प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति :– मलमूत्र निर्जंतु भूमि पर देखकर करना ।

तीन गुप्ति :– मन को वश रख के धर्मध्यान मे जोड़ना **मनोगुप्ति** है । मौन रहना या शास्त्रोक्त वचन कहना **वचन गुप्ति** है – एकासन से बैठना व ध्यान स्वाध्याय मे काय को लगाना **कायगुप्ति** है, यह तेरह प्रकार साधु का चारित्र है । साधु निरतर ध्यान व स्वाध्याय मे लीन रहते हैं । इन पाच महाव्रतो की दृढता के लिये एक एक व्रत की ५-५ भावनाए है जिन पर व्रती ध्यान रखते हैं ।

(१) अहिंसाव्रत की पांच भावनाएं :– (१) वचनगुप्ति, (२) मनोगुप्ति, (३) ईर्या समिति, (४) आदान निक्षेपण समिति, (५) आलोकित पान भोजन – भोजन देखभाल कर करना ।

(२) सत्यव्रत की पांच भावनाएं :– (१) क्रोध का त्याग, (२) लोभ का त्याग, (३) भय का त्याग, (४) हास्य का त्याग । क्योकि इन्ही चारो के वश असत्य बोला जाता है, (५) अनुवीची भाषण, शस्त्रोक्त वचन कहना ।

(३) अचौर्यव्रत की पांच भावनाएं – शून्यागार – सूने स्थान मे ठहरना, **(२) विमोचिता बास** – छोड़े हुए-उजडे हुए स्थान पर ठहरना **(३) परो-**

परोपाकरण आप जहां हो दूसरा आवे तो मना न करना व जहां कोई मना करे वहां न ठहरना, (४) **भैक्ष्यशुद्धि** – भिक्षा शुद्ध अन्तराय व दोष टालकर लेना (५) **साधर्मी अविसंवाद** – साधर्मी धर्मात्माओं से विसम्वाद या झगड़ा न न करना ।

(४) **ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनाएं** – (१) स्त्री राग कथा श्रवण त्याग – स्त्रियों के राग बढ़ाने वाली कथाओं के सुनने का त्याग (२) मनोहर-रागनिरीक्षण त्याग – स्त्रियों के मनोहर अंगों के देखने का त्याग (३) पूर्व-रतानुस्मरण – पहले किये हुए भोगों का त्याग (४) वृष्येष्टरस त्याग – कामोद्दीपक पुष्ट रस का त्याग, (५) स्वशरीर संस्कार त्याग – अपने शरीर के श्रृंगार का त्याग ।

(५) **परिग्रह त्याग व्रत की पांच भावनाएं** – मनोज्ञ व अमनोज्ञ पांचों इन्द्रियों के पदार्थों को पाकर रागद्वेष न करके संतोष पालना । साधुओं का कर्तव्य है कि दशलाक्षणी धर्म को, बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना भावे, बाईस परीषहों को जीते, पांच प्रकार चारित्र को बढ़ावे तथा बारह प्रकार तप का साधन करे । उनका संक्षिप्त स्वरूप यह है –

दशलाक्षणी धर्म – कषायों को पूर्णपने निग्रह करके दश धर्मों को पूर्णपने पाले । कष्ट पाने पर भी उनकी विराधना न करें । (१) उत्तम क्षमा, (२) उत्तम मार्दव – मान का अभाव, (३) उत्तम आर्जव – माया चार का अभाव, (४) उत्तम सत्य, (५) उत्तम शौच – लोभ का अभाव (६) उत्तम संयम – मन इन्द्रियों पर विजय व छह काय के प्राणियों पर दया । (७) उत्तम तप – इच्छानिरोध करके तप पालना, (८) उत्तम त्याग – ज्ञानदान व अभय-दान देना, (९) उत्तम आकिंचन्य – सर्व से ममता छोड़कर एकाकी स्वरूप को ही अपना मानना, (१०) उत्तम ब्रह्मचर्य ।

बारह भावनाएं – (१) अनित्य – धन, धान्य, स्त्री, पुत्र शरीरादि सर्व क्षणभंगुर हैं, नाशवत है, (२) अशरण – मरण से व तीव्र कर्मोदय से कोई बचाने वाला नहीं, (३) संसार – चार गतिरूप संसार दुःखों का भंडार है, (४) एकत्व – यह जीव अकेला है । अपनी करणी का आप ही मालिक

है, (५) अन्यत्व – इस जीव से शरीरादि सब पर हैं, (६) अशुचि – यह शरीर अपवित्र है, (७) आश्रव – इन इन भावो से कर्म आते है, (८) सवर- इन इन भावो से कर्म रुकते है, (९) निर्जरा – तप से कर्म झडते है, (१०) लोक यह जगत अनादि अनत अकृत्रिम है, छ द्रव्यो का समूह है, द्रव्यापेक्षा नित्य व पर्यायापेक्षा अनित्य है । (११) बोधिदुर्लभ – रत्नत्रय का लाभ बहुत कठिन है, (१२) धर्म – आत्मा का स्वभाव धर्म है, यही परम हितकारी है ।

बाईस परीषह जय – नीचे लिखी बाईस परीषहो के पडने पर शाति से सहना [१] क्षुधा, [२] तृषा, [३] शीत, [४] उष्ण, [५] दशमशक-डास मच्छरादि पशु बाधा, [६] नग्नता,]७] अरति, [८[स्त्री, [९] चर्या-चलने की, [१०] निषद्या-बैठने की, [११] शय्या, [१२] आक्रोश-गाली, [१३] वध, [१४] याचना, मागने के अवसर पर भी न मागना, [१५] अलाभ-भोजन अन्तराय पर सतोष, [१६] रोग, [१७] तृण स्पर्श, [१८] मल, [१९] सत्कार पुरस्कार-आदर निरादर, [२०] प्रज्ञा-ज्ञान का मद न करना, [२१] अज्ञान-अज्ञान पर खेद न करना, [२२] अदर्शन-श्रद्धा न बिगाड़ना ।

चारित्र पांच प्रकार :– (१) सामायिक :– समभाव रखना (२) छेदोपस्थापना :– सामायिक से गिरने पर फिर सामायिक मे स्थिर होना (३) परिहार विशुद्धि – ऐसा आचरण जिसमे विशेष हिसा का त्याग हो (४) सूक्ष्म सापराय :– दशवे गुणस्थानवर्ती का चारित्र, जहा मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है, (५) यथाख्यात – पूर्ण वीतराग चारित्र ।

बारह तप :– छ. बाहरी [१] अनशन – उपवास खाद्य, स्वाद्य लेह्य, [चाटने की] पेय चार प्रकार आहार का त्याग, [२] ऊनोदर – भूख से कम खाना, दो भाग अन्नादि से एक भाग जल से एक भाग खाली रखना । [३] वृत्तिपरिसख्यान :– भिक्षा को जाते हुए कोई प्रतिज्ञा लेना, पूर्ण होने पर ही आहार लेना । [४] रसपरित्याग – मीठा, लवण, दूध, घी, दही, तेल इन छ रसो मे से एक व अनेक का त्याग । [५] विविक्त शय्यासन – एकात मे

शयन व आसन रखना। [६] कायक्लेश :– शरीर का सुखियापन मेटने को कठिन कठिन स्थानो पर जाकर तप करना। छ अन्तरग [७] प्रायश्चित्त :– कोई दोष लगने पर दड लेकर शुद्ध होना। [८] विनय :– धर्म व धर्मात्माओ की प्रतिष्ठा। [९] वैय्यावृत्य – धर्मात्माओ की सेवा करनी। [१०] स्वाध्याय :– शास्त्रों का पठन पाठन व मनन। [११] व्युत्सर्ग :– शरीरादि से ममता त्याग। [१२] ध्यान :– धर्मध्यान व शुक्लध्यान करना।

साधुओ का कर्तव्य है कि इन पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, बारह प्रकार तप से मन, वचन, काय को ऐसा स्वाधीन करे जिससे निश्चय सम्यक्चारित्र का लाभ कर सके। स्वरूप मे रमण ही सामायिक चारित्र है। गृहस्थ का कारावास चिन्ताओ का स्रोत है। अतएव निराकुल होने के लिये गृहस्थ त्यागकर साधुवृत्ति मे रहकर विशेष सहज सुख का साधन कर्तव्य है।

सागार या श्रावक का एक देश चारित्र – अनगार का चारित्र जैसे पाच महाव्रत हैं वैसे सागार का एक देश चारित्र पाच अणुव्रत पालन है। महाव्रत व अणुव्रत का अतर इस तरह जानना योग्य है कि यदि १०० एक सौ अश महाव्रत के करे उनमे से १ अश से लेकर ९९ अश तक अणुव्रत है १०० अश महाव्रत है।

पांच अणुव्रत :– जहा सकल्पी हिसा का त्याग हो, आरभी हिंसा का त्याग न हो वह अहिसा अणुव्रत है। अहिसा अणुव्रत धारी राज्य कार्य, राज्य प्रबन्ध, देश रक्षार्थ युद्ध, सज्जन पालन, दुर्जन दमन, कृषि, वाणिज्य, शिल्पादि सर्व आवश्यक गृहस्थ के कर्म कर सकता है। समुद्र यात्रा, विदेश गमन आदि भी कर सकता है। वह सकल्पी हिंसा से बचे, शिकार न खेले, मास न खाए, मास के लिये पशुवध न करावे। जिस असत्य से राज्यदड हो जो दूसरो के ठगने के लिये, विश्वासघात के लिये कहा जावे ऐसा असत्य वचन न कहना, तथा प्रिय हितकारी सज्जनो के योग्य वचन कहना सत्य अणुव्रत है। ऐसा श्रावक जिस सत्य वचन से कलह हो जावे, हिंसा की प्रवृत्ति हो जावे, परका

बुरा हो जावे उस सत्य वचन को भी नही बोलता है । न्याय व धर्म की प्रवृत्ति में हानि न आवे व वृथा किसी प्राणी का वध न हो, उसको कष्ट न पहुँचे इस बात को विचार कर मुख से वचन निकालता है ।

गिरी, पडी, भूली किसी की वस्तु को नही लेना अचौर्य अणुव्रत है । विश्वासघात करके, छिप करके, धमकी देकर के, वध करके किसी की सम्पत्ति को श्रावक नही हरता है । न्यायपूर्वक अल्प धन मे सतोष रखता है । अन्याय से सग्रहीत विपुल धन की इच्छा नही करता है । जिस वस्तु की राज्य से व प्रजा से मनाही नही है केवल उन्ही वस्तुओ को बिना पूछे लेता है । जैसे नदी का जल, हाथ धोने को मिट्टी, जगल के फल व लकड़ी आदि । यदि मनाई हो तो वह ग्रहण नही करेगा ।

अपनी विवाहिता स्त्री मे सतोष रखकर सर्व पर स्त्रियो को बडो को माता समान, बराबर वाली को बहिन के समान, छोटी को पुत्री के समान जो समझता है वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत को पालता है । श्रावक वीर्य को शरीर का राजा समझकर स्वस्त्री मे परिमित सतोष के साथ उपभोग करता है जिससे निर्बलता न हो ।

दश प्रकार के परिग्रह का जो अपनी आवश्यकता, योग्यता व इच्छा के अनुकूल जन्मपर्यंत के लिये प्रमाण कर लेना उससे अधिक की लालसा त्याग देना सो परिग्रह प्रमाण अणुव्रत है । जितनी सम्पत्ति का प्रमाण किया हो उस प्रमाण के पूरा हो जाने पर वह श्रावक व्यापारादि बन्द कर देता है फिर सतोष से अपना समय धर्म साधन व परोपकार मे व्यतीत करता है । इन पाच अणुव्रतो के मूल्य को बढाने के लिये श्रावक सात शील, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत भी पालता है ।

तीन गुणव्रत :– जो पाँच अणुव्रतो का मूल्य गुणन करे बढादे उनको गुणव्रत कहते हैं जैसे ४ को ४ से गुणा करने से १६ और १६ को १६ से गुणा करने से २५६ होते हैं।

दिग्विरति :– जन्म पर्यन्त के लिये लौकिक प्रयोजन के हेतु दश दिशाओ मे जाने का व व्यापारादि करने का नियम कर लेना उससे अधिक मे जाने की

व व्यापार की लालसा को त्याग देना दिग्विरति है । इससे फल यह होता है कि श्रावक नियम किये हुए क्षेत्र के भीतर ही आरम्भ करेगा उनके बाहर आरभी हिसा भी नही करेगा ।

देशविरति – जन्म पर्यन्त के लिये जो प्रमाण किया था उसमे से घटाकर एक दिन, दो दिन, एक सप्ताह के लिये जाने का व्यवहार करने का नियम करना देशविरति है । इससे इतना अधिक लाभ होगा कि वह नियमित काल के लिये नियमित क्षेत्र ही मे आरम्भ करेगा, उसके बाहर आरभी हिसा से बचेगा ।

अनर्थदंड विरति :-- नियमित क्षेत्र मे भी प्रयोजन भूत कार्य के सिवाय व्यर्थ के आरम्भ करने का त्याग अनर्थदंड विरति है । इसके पाच भेद है :– १ 'पापोपदेश' :– दूसरो को पाप करने का उपदेश देना, २ 'हिसादान' – हिंसाकारी वस्तुए दूसरो को मागे देना, ३ 'प्रमादचर्या' – प्रमाद या आलस्य से वृथा वस्तुओ को नष्ट करना, जैसे वृथा वृक्ष के पत्ते तोडना, ४ 'दुःश्रुति' – राग द्वेष वढाने वाली, विपय भोगो मे फसाने वाली खोटी कथाओ को पढना सुनना, ५ 'अपध्यान' – दूसरो के अहित का विचार करके हिसक परिणाम रखना । वृथा पापो के त्याग से व सार्थक काम करने से अणुव्रतो का मूल्य विशेष बढ जाता है ।

चार शिक्षाव्रत – जिन व्रतो के अभ्यास से साधुपद मे चारित्र पालने की शिक्षा मिले उनको शिक्षा व्रत कहते हैं । (१) सामायिक :-- एकात मे बैठकर रागद्वेष छोडकर समता भाव रखकर आत्मध्यान का अभ्यास करना प्रातः काल, मध्यान्हकाल या सायकाल यथासभव ध्यान करना सामायिक है ।

(२) प्रोषधोपवास – एक मास मे दो अष्टमी, दो चौदस प्रोषध दिन है । उनमे उपवास या एकासन करके धर्मध्यान मे समय को विताना प्रोषधोपवास है ।

(३) भोगोपभोग परिमाण :-- जो एक दफे भोगने मे आवे सो भोग है । जो बार बार भोगने मे आवे सो उपभोग है । ऐसे पाचो इन्द्रियो के भोगने योग्य पदार्थों की सख्या प्रतिदिन प्रात काल एक दिन रात के लिये सयम की वृद्धि हेतु कर लेना भोगोपभोग परिमाणव्रत है ।

(४) अतिथि सविभाग :-- साधुओ को या अन्य धर्मात्मा पात्रों को भक्तिपूर्वक तथा दु खित भुखित को करुणापूर्वक दान देकर आहार कराना अतिथि सविभाग शिक्षाव्रत है । इस तरह एक श्रावक को पाच अणुव्रत और सात शील ऐसे बारह व्रत पालने चाहिये । तथा तेरहवे व्रत की भावना भाना चाहिये । वह है --

(१३) **सल्लेखना** :-- मरण के समय आत्मसमाधि व शात भाव से प्राण छूटे ऐसी भावना करनी सल्लेखना या समाधिमरण व्रत है । ज्ञानी श्रावक अपने धर्मात्मा मित्रो का वचन ले लेते हैं कि परस्पर समाधिमरण कराया जावे ।

इन तेरह व्रतो को दोष रहित पालने के लिये इनके पाच पाच अतिचार प्रसिद्ध हैं । उनको दूर करना श्रावक का कर्त्तव्य है ।

(१) **अहिंसा अणुव्रत के पांच अतिचार** '-- १ बन्ध '-- कषाय द्वारा किसी को बाधना या बन्धन मे डाल देना, ३ वध -- कषाय से किसी को पीटना, घायल करना, ३. छेद :-- कषाय से किसी के अग व उपांग छेदकर स्वार्थ साधना, ४. अति भारारोपण :-- मर्यादा से अधिक भार लाद देना, ५. अन्नपान निरोध '-- अपने आधीन मानव या पशुओ का अन्नपान रोक देना ।

(२) **सत्य अणुव्रत के पांच अतिचार** :-- १ मिथ्योपदेश -- दूसरे को मिथ्या कहने का उपदेश दे देना, २ रहोभ्याख्यान '-- स्त्री पुरुष की एकात गुप्त बातों का प्रकाश कर देना, ३ कूट लेख क्रिया -- कपट से असत्य लेख लिखना, ४. न्यासापहार '-- दूसरे की धरोहर को असत्य कहकर कुछ न देना ५ साकार मत्र भेद .-- किसी की गुप्त सम्मति को अंगो के हलन चलन से जानकर प्रकाश कर देना । इन सब मे कपाय भाव हेतु होना चाहिये ।

(३) **अचौर्य अणुव्रत के पांच अतिचार** :-- १. स्तेन प्रयोग :-- दूसरे को चोरी करने का मार्ग बता देना, २ तदाहृतादान :-- चोरी का लाया हुआ माल जानबूझ करके लेना व शका से लेना, ३. विरुद्ध राज्यातिक्रम :-- राज्य का प्रबन्ध न होने पर मर्यादा को उल्लघ करके अन्यायपूर्वक लेना देना, ४ हीनाधिकमानोन्मान :-- कमती तौल नाप के देना व बढती तौल नाप के लेना

५ प्रतिरूपक व्यवहार – झूठा सिक्का चलाना व खरी मे खोटी मिलाकर खरी कहकर विक्रय करना ।

(४) **ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पांच अतिचार** :– १ पर विवाह करण :– अपने पुत्र पौत्रादि सिवाय दूसरो के सम्बन्ध जोडना २ परिग्रहीता इत्वरिका गमन :– विवाही हुई व्यभिचारिणी स्त्री के पास आना जाना । ३ अपरिग्रहीता इत्वरिका गमन :– विना विवाही वेश्यादि के पास आना जाना । ४ अनगक्रीडा :– काम सेवन के अ ग छोडकर अन्य अंगो से काम सेवन करना, ५ कामतीव्राभिनिवेश :– काम सेवन की तीव्र लालसा स्व स्त्री मे रखना ।

(५) **परिग्रह प्रमाण व्रत के पांच अतिचार** :– दस प्रकार के परिग्रह के पाच जोडे होते है जगह मकान, चादी सोना, धन धान्य, दासी दास, कपडे बर्तन, इनमे से किसी एक जोड़े मे एक को घटाकर दूसरे की मर्यादा बढा लेना ऐसे पाच दोप है ।

(६) **दिग्विरति के पांच अतिचार** :– १ ऊर्ध्व व्यतिक्रम :– ऊपर जितनी दूर जाने का प्रमाण किया था उसको किसी कषाय वश उल्लघकर आगे चले जाना, २ अध. व्यतिक्रम :– नीचे के प्रमाण को उल्लघकर आगे चले जाना, ३ तिर्यक व्यतिक्रम :– अन्य आठ दिशाओ के प्रमाण को उल्लघकर आगे चले जाना, ४. क्षेत्रवृद्धि :– क्षेत्र की मर्यादा एक तरफ घटाकर दूसरी ओर बढा लेना, ५. स्मृत्यन्तराधानमर्यादा को याद न रखना ।

(७) **देशविरति के पांच अतिचार** :– १ आनयन :– मर्यादा के बाहर से वस्तु मंगाना । २ प्रेष्य प्रयोग :– मर्यादा के बाहर कुछ भेजना । ३ शब्दानुपात :– मर्यादा के बाहर बात कर लेना । ४ रूपानुपात :– मर्यादा के बाहर रूप दिखाकर प्रयोजन बता देना । ५. पुद्‌गलक्षेप – मर्यादा से बाहर पत्र व ककड आदि फेंककर प्रयोजन बता देना ।

(८) **अनर्थ दंड विरति के पांच अतिचार** – १. कन्दर्प :– भड वचन असभ्यतापूर्ण बोलना । २ कौत्कुच्य – भड वचनो के साथ साथ काय की कुचेष्टा भी करना । ३ मौखर्य – बहुत बकवाद करना । ४ असमीक्ष्य अधिकरण :– बिना विचारे काम करना । ५ उपभोग परिभोगानर्थक्य :– भोग व उपभोग के पदार्थ वृथा सग्रह करना ।

(९) सामायिक के पांच अतिचार -- १ मनः दुःप्रणिधान -- सामायिक की क्रिया से बाहर मन को चचल करना। २. वचन दुःप्रणिधान :-- सामायिक के पाठादि सिवाय और कोई बात करना। ३ काय दु:प्रणिधान -- शरीर को थिर न रखकर आलस्य मय प्रमादी रखना। ४ अनादर -- सामायिक करने मे आदरभाव न रखना। ५ स्मृत्यनुपस्थान -- सामायिक करना या सामायिक का पाठादि भूल जाना।

(१०) प्रोषधोपवास के पांच अतिचार :-- १ २. ३ अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग, आदान, सस्तरोपक्रमण -- बिना देखे बिना झाडे मलमूत्रादि करना, उठना व चटाई आदि बिछाना, ४ अनादर -- उपवास मे अनादरभाव रखना। ५ स्मृत्यनुपस्थान -- उपवास के दिन धर्मक्रिया को भूल जाना।

(११) भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पांच अतिचार :-- जो कोई श्रावक किसी दिन सचित्त का बिलकुल त्याग करे या कुछ का त्याग करे उसकी अपेक्षा ये पाच अतिचार है। १ सचित्त :-- त्यागे हुए सचित्त को भूल से खा लेना। २ सचित्त सबध :-- त्यागे हुए सचित्त से मिली हुई वस्तु को खा लेना। ३ सचित्त सम्मिश्र :-- त्यागे हुए सचित्त को अचित्त मे मिलाकर खाना। ४. अभिपव -- कामोद्दीपक पौष्टिक रस खाना। ५ दु पक्वाहार -- कम पका व अधिक पका व न पचने लायक आहार करना।

(१२) अतिथि संविभाग व्रत के पांच अतिचार -- साधु को आहार देते हुए ये अतिचार है। १. सचित्त निक्षेप -- सचित्त पर रखकर कुछ देना। २ सचित्त अपिधान :-- सचित्त से ढकी हुई वस्तु दान करना। ३ परव्यपदेश :-- आप दान न देकर दूसरो को दान की आज्ञा करनी। ४. मात्सर्य :-- दूसरे दातार से ईर्षाभाव रखकर दान देना। ५ कालातिक्रम -- दान का काल उल्लघकर अकाल मे देना।

(१३) सल्लेखना के पाच अतिचार :-- १. जीवित आशसा -- अधिक जीते रहने की इच्छा करना। २ मरणाशसा :-- जल्दी मरने की इच्छा करना। ३ मित्रानुराग -- लौकिक मित्रो से सासारिक राग बढाना। ४ सुखानुबन्ध -- भोगे हुए इन्द्रिय सुखो की याद करना। ५. निदान -- आगामी विषय भोगो की इच्छा करना।

ये साधारण तेरह व्रत श्रावक के है । विशेष यह है कि दि० जैन शास्त्रो मे ग्यारह प्रतिमाएं व श्रेणिया श्रावक की बताई हैं जिनको क्रम से पार करते हुए साधुपद की योग्यता आती है । ये ग्यारह श्रेणिया पचमदेशविरति गुणस्थान मे है । चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान मे यद्यपि चारित्र का नियम नही होता है तथापि वह सम्यक्ती अन्याय से बचकर न्यायरूप प्रवृत्ति करता है । पाक्षिक श्रावक के योग्य कुछ स्थूलरूप नियमो को पालता है । वे नियम निम्न प्रकार है :—

१ मास नही खाता है, २ मदिरा नही पीता है, ३ मधु नही खाता है, ४ बरगद का फल नही खाता है, ५ पीपल का फल नही खाता है, ६ गूलर का फल नही खाता है, ७ पाकर का फल नही खाता है, ८ अजीर का फल नही खाता है, ९. जुआ नही खेलता है, १० चोरी नही करता है, ११ शिकार नही खेलता है, १२. वेश्या का व्यसन नही रखता है, १३ परस्त्री सेवन का व्यसन नही रखता है । पानी दोहरे कपडे से छानकर शुद्ध पीता है, रात्रि के भोजन के त्याग का यथाशक्ति उद्योग रखता है । गृहस्थ के निम्न छ कर्म साधता है ।

१ देवपूजा — श्री जिनेन्द्र की भक्ति करता है, २ गुरुभक्ति — गुरु की सेवा करता है, ३ स्वाध्याय :— शास्त्र नित्य पढता है, ४ तप :— रोज सामायिक प्रतिकमण करता है, ५ सयम — नियमादि लेकर इन्द्रिय दमन करता है. ६. दान .— लक्ष्मी को आहार, औषधि, विद्या, अभयदान मे व परोपकार मे लगाता है, दान करके भोजन करता है ।

ग्यारह प्रतिमा स्वरूप—ग्यारह श्रेणियो में पहले का चारित्र आगे आगे बढता जाता है । पहले के नियम छूटते नही है ।

१. दर्शन प्रतिमा—इस श्रेणी मे पाक्षिक श्रावक के योग्य नियम जो ऊपर कहे है उनको पालता हुआ सम्यग्दर्शन को निर्मल रखता है, उसको आठ अग सहित पालता है । नि शकितादि का वर्णन सम्यग्दर्शन के अध्याय मे किया जा चुका है । यहा अहिसा, सत्य, अचौर्य, स्वस्त्रीसतोष तथा परिग्रह प्रमाण इन पाच अणुव्रतो का अभ्यास करता है, स्थूलपने पालता है, अतिचार नही बचा सकता है ।

२. व्रत प्रतिमा—इस श्रेणी मे पहले के सर्व निगमो को पालना हुआ पाँच अणुव्रतो के पच्चीस अतिचारो को बचाता है तथा सात शीलो को भी पालता है । उनके अतिचार पूरे नही टलते है अभ्यास करता है । सामायिक शिक्षाव्रत को रागादिक के कारण न भी करे व प्रोषधोपवास न कर सके, तो न करे, एकासन या उपवास शक्ति के अनुसार करे ।

३. सामायिक प्रतिमा—इस श्रेणी मे पहले के नियम पालता हुआ श्रावक नियम से प्रात काल मध्यान्हकाल व सायकाल सामायिक करता है । दो घडी या ४८ मिनट से कम नही करता है किसी विशेष कारण के होने पर अतर्मुहूर्त ४८ मिनट से कुछ कम भी कर सकता है । सामायिक के पाचो अतिचारो को बचाता है ।

४ प्रोषधोपवास प्रतिमा—इस श्रेणी मे नीचे के नियमो को पालता हुआ नियम से मास मे चार दिन प्रोषधपूर्वक उपवास करता है । अतिचारो को बचाता है, धर्मध्यान मे समय विताता है । इसकी दो प्रकार की विधि है । एक तो यह है कि पहले व आगे के दिन एकासन करे, बीच के दिन उपवास करे, १६ प्रहर तक धर्मध्यान करे । यह उत्तम है । मध्यम यह है कि १२ प्रहर का उपवास करे, सप्तमी की सध्या से नौमी के प्रातः काल तक आरभ छोडे, धर्म मे समय वितावे । जघन्य यह है कि उपवास तो १२ प्रहर तक करे परन्तु लौकिक आरभ आठ पहर ही छोडे—अष्टमी को दिन रात ।

दूसरी विधि यह है कि उत्तम तो पूर्ववत् १६ प्रहर तक करे । मध्यम यह है कि १६ प्रहर धर्मध्यान करे परन्तु तीन प्रकार के आहार का त्याग करे आवश्यकतानुसार जल लेवे । जघन्य यह है कि १६ प्रहर धर्मध्यान करे, जल आवश्यकतानुसार लेते हुए बीच मे एक भुक्त भी करले । इन दो प्रकार की विधियो मे अपनी शक्ति व भाव को देखकर प्रोषधोपवास करे ।

५ सचित्त त्याग प्रतिमा—इस श्रेणी मे नीचे के नियमो को पालता हुआ सचित्त पदार्थ नही खावे । कच्चा पानी, कच्चा साग आदि न खावे, प्राशुक या गर्म पानी पीवे । सूखी, पकी गर्म की हुई व छिन्नभिन्न की हुई वनस्पति लेवे । पानी का रग लवगादि डालने से बदल जाता है तब वह पानी प्राशुक हो जाता है । सचित्त के व्यवहार का इसके त्याग नही है ।

६. रात्रिभोजन त्याग—इस श्रेणी में नीचे के नियमो को पालता हुआ रात्रि को नियम से न तो आप चार प्रकार का आहार करता है न दूसरो को कराता है। मन, वचन, काय से रात्रि भोजन के करने कराने से विरक्त रहता है।

७. ब्रह्मचर्य प्रतिमा—स्वस्त्री का भी भोग त्याग कर ब्रह्मचारी हो जाता है, सादे वस्त्र पहनता है, सादा भोजन खाता है, घर मे एकात मे रहता है या देशाटन भी कर सकता है। पहले के सब नियमो को पालता है।

८. आरंभ त्याग प्रतिमा—पहले के नियमो को पालता हुआ इस श्रेणी मे सर्व ही लौकिक आरभ व्यापार कृषि आदि त्याग देता है। आरभी हिंसा से विरक्त हो जाता है। देखकर भूमि पर चलता है, वाहनो का उपयोग नही करता है, निमत्रण पाने पर भोजन कर लेता है, परम सतोषी हो जाता है।

९ परिग्रह त्याग—पहले के नियमो को पालता हुआ इस श्रेणी में धनधान्य, रुपया पैसा मकानादि परिग्रह को बाट देता है या दान कर देता है। थोड़े से आवश्यक कपड़े व खान पान के दो तीन बर्तन रख लेता है। घर से बाहर उपवन या नसियो मे रहता है। निमत्रण से भोजन करता है।

१०. अनुमति त्याग प्रतिमा—यह श्रावक यहा से पहले तक लौकिक कार्यों मे गुण दोष बताता हुआ सम्मति देता था, अब यहा सासारिक कार्यों की सम्मति देना भी त्याग देता है। भोजन के समय निमत्रित होकर जाता है। पहले के सब नियम पालता है।

११ उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा—इस श्रेणी मे पहले के नियम पालता हुआ निमत्रण से भोजन नही करता हैं। भिक्षा वृत्ति से जाकर ऐसा भोजन लेता है जो गृहस्थी ने अपने ही कुटुम्ब के लिये तैयार किया हो। उनके उद्देश्य से न बनाया हो। तब ही इस प्रतिमा को उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा कहते है।

इसके दो भेद है :– १ क्षुल्लक—जो श्रावक एक लगोट व एक ऐसी चद्दर रक्खें जिससे सर्व अ ग न ढका जावे। मस्तक ढका हो तो पग खुला रहे, पग ढके हो तो मस्तक खुला हो जिससे इसको सरदी दशमशक आदि की बाधा सहने का अभ्यास हो। यह श्रावक नियम से जीवदया के लिये मोर की पिच्छिका रखता है, क्योकि वे बहुत ही मुलायम होते है, उनसे क्षुद्र जन्तु भी नही मरता

है तथा कमडल शौच के लिये जल के वास्ते रखते है। जो कई घरो से एकत्र कर भोजन करते है वे एक भोजन का पात्र भी रखते है। पाच सात घरो से एकत्र कर अन्तिम घर मे जल लेकर भोजन करके अपने बर्तन को साफ कर साथ रख लेते है। जो क्षुल्लक एक ही घर मे आहार करते हैं वे भिक्षा को जाकर आदर से भोजन दिये जाने पर एक ही घर मे थाली मे बैठ कर जीम लेते है। यह भोजन का पात्र नही रखते है। ये मुनिपद की क्रियाओ का अभ्यास करते है। स्नान नही करते है। एक दफे ही भोजनपान लेते है।

२ ऐलक—जो चदर भी छोड देते है, केवल एक लगोटी ही रखते हैं। ये साधुवत् भिक्षार्थ जाते है। एक ही घर मे बैठकर हाथ मे ग्रास रक्खे जाने पर भोजन करते है। ये कमडल काठ का ही रखते है, केशो का लोच भी ये नियम से करते है। अपने हाथो से केश उपाडते है।

इस तरह उन ग्यारह श्रेणियो के द्वारा उन्नति करते २ श्रावक व्यवहार चारित्र के आश्रय से निराकुलता को पाकर अधिक २ निश्चय सम्यक्चारित्ररूप स्वानुभव का अभ्यास करता है। पचम श्रेणी मे अनतानुबन्धी और अप्रत्याख्यान कषाये तो रहती ही नही व प्रत्याख्यान कषायो का भी उदय मद मद होता जाता है, ग्यारहवी श्रेणी मे अति मद हो जाता है। जितनी-जितनी कषाय कम होती है वीतरागभाव बढता है उतना-उतना ही निश्चय सम्यक्चारित्र प्रगट होता जाता है। फिर प्रत्याख्यान कषाय के उदय को बिलकुल जीतकर साधुपद मे परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ होकर स्वानुभव का अभ्यास करते करते गुण स्थान क्रम से अरहत हो फिर गुणस्थान से बाहर सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

सहज सुख साधन—वास्तव मे निश्चय रत्नत्रयमयी आत्मा की एक शुद्ध परिणति ही है। जब ही मन वचन काय के सयोगो को छोडकर आत्मा आत्मस्थ हो जाता है तब ही सहज सुख का स्वाद पाता है – चारित्र के प्रभाव से आत्मा मे थिरता बढती जाती है तब अधिक अधिक सहज सुख अनुभव मे आता जाता है। साधु हो या श्रावक सबके लिये स्वानुभव ही सहज सुख का साधन है।

इसी हेतु को सिद्ध करने के लिये जो कुछ भी प्रयत्न किया जावे वह सहकारी है। वास्तव मे सहज सुख आत्मा मे ही है। आत्मा मे ही रमण करने

से वह प्राप्त होगा । आत्मरमणता का महात्म्य वर्णनातीत है – जीव को सदा सुखदाई बनाने वाला है । इस जैन धर्म का भी यही सार है । प्राचीन काल मे व आधुनिक जो जो महात्मा हो गए है उन्होने इसी गुप्त अध्यात्म विद्या का अनुभव किया व इसी ही का उपदेश दिया । इसी ही को अवक्तव्य कहो या सम्यग्दर्शन कहो या सम्यग्ज्ञान कहो या सम्यक्चारित्र कहो या केवल आत्मा कहो, या समयसार कहो, स्वसमय कहो, परमयोग कहो, धर्म ध्यान कहो, शुक्ल ध्यान कहो, सहज सुख साधन कहो सबका एक ही अर्थ है । जो जीवन को सफल करना चाहे उनको अवश्य अवश्य सहज सुख साधन के लिये आत्मविश्वास प्राप्त करके आत्मानुभव का अभ्यास करना चाहिये । जैनाचार्यों के सम्यक्-चारित्र सम्बन्धी वाक्य नीचे प्रकार मनन करने योग्य है :–

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते है :–

चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ।।७।।

भावार्थ :– चारित्र ही धर्म है । जो समभाव है, उसको ही धर्म कहा गया है । मोह क्षोभ या रागद्वेष मोह रहित जो आत्मा का परिणाम है वही समभाव है, वही चारित्र है ।

धम्मेण परिणदप्पा, अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसहं, सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ।।११।।

भावार्थ :– धर्म मे आचरण करता हुआ आत्मा यदि शुद्ध उपयोग सहित होता है तो निर्वाण के सुख को पाता है । यदि शुभ उपयोग सहित होता है तो स्वर्ग के सुख को पाता है ।

सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो, भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ।।१४।।

भावार्थ – जो साधु भली प्रकार जीवादि पदार्थों को और सिद्धात को जानने वाला है, सयम तथा तप से युक्त है, रागरहित है, सुख व दु.ख मे समान भाव का धारी है वही श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया है ।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जिजहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ।।८७।।

भावार्थ – मिथ्यात्व से रहित आत्मा अपने आत्मा के स्वरूप को भली प्रकार जानता हुआ जब रागद्वेष को भी छोड़ देता है तब शुद्ध आत्मा को पाता है ।

जो णिहदमोहदिट्ठी, आगमकुसलो विरागचरियम्मि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा, धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ।।९२।।

भावार्थ – जो दर्शनमोह को नाश करने वाला है, जिनप्रणीत सिद्धात के ज्ञान मे प्रवीण है, वीतराग चारित्र मे सावधान है वही महात्मा साधु धर्म-रूप है ऐसा विशेष रूप से कहा गया है ।

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्ख अक्खय लहदि ।।१०७-२।।

भावार्थ – जो मोह की गाठ को क्षय करके साधुपद मे स्थित होकर रागद्वेष को दूर करता है और दु ख तथा सुख मे समभाव का धारी होता है वही अविनाशी सुख को पाता है ।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ।।१०८-२।।

भावार्थ :– जो महात्मा मोहरूप मैल को क्षय करता हुआ तथा पाचो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होता हुआ, मन को रोकता हुआ चैतन्यस्वरूप मे एकाग्रता से ठहर जाता है सो ही आत्मा का ध्याता होता है ।

इहलोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ।।४२-३।।

भावार्थ :– जो मुनि इस लोक मे विषयो की अभिलाषा से रहित हैं व परलोक मे भी किसी पद की इच्छा नही रखते हैं, योग्य आहार तथा विहार के करने वाले है, कषाय रहित हैं वे ही श्रमण हैं ।

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेन्द्रियसंवुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो सजदो भणिदो ।।६१-३।।

भावार्थ :– जो महात्मा पाच समितियो को पालते है, तीन गुप्ति को रखते हैं, पाचो इन्द्रियो को वश मे रखने वाले है, कषायो के विजयी है तथा

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से पूर्ण है, सयम को पालने वाले है वे ही श्रमण या साधु है ।

समसत्तबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।६२-३।।

भावार्थ – जो शत्रु तथा मित्र वर्ग को समभाव से देखते है । जो सुख व दु ख मे समभाव के धारी है, जो प्रशसा तथा निन्दा किये जाने पर समभाव रखते है जो सुवर्ण और ककड को एक दृष्टि से देखते है, जिनके जीना तथा मरण एक समान है वही श्रमण कहलाते है ।

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ।।६३-३।।

भावार्थ :– जो महात्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भावो मे एक साथ भली प्रकार स्थित होते है व एकाग्र हो जाते है उन्ही के साधुपना पूर्ण होता है ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते है –

मुणिऊण एतदट्ठ तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो ।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ।।१०४।।

भावार्थ :– जो कोई जीवादि नव पदार्थों को जानकर उनके अनुसार आचरण करने का उद्यम करता है और मोह का क्षय कर डालता है वही जीव रागद्वेष के नाश होने पर ससार के पार पहु च जाता है ।

सम्मत्त सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाण ।
चारित्त समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।।१०७।।

भावार्थ :– सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित जो रागद्वेष रहित चारित्र है वही बुद्धि व योग्यता प्राप्त भव्यो के लिये मोक्ष का मार्ग है ।

जो सव्वसंगमुक्को णाण्णमणो अप्पणं सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ।।१५८।।

भावार्थ :– जो महात्मा सर्व परिग्रह को त्याग कर व एकाग्र होकर अपने आत्मा को शुद्ध स्वभावमय देखता जानता है वही नियम से स्वचारित्र या निश्चय चारित्र का आचरण करता है ।

तह्मा णिव्वुदिकामो राग सवत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायर तरदि ॥१७२॥

भावार्थ — राग मोक्ष मार्ग मे बाधक है । ऐसा समझकर सर्व इच्छाओ को दूर करके जो सर्व पदार्थों मे किंचित् भी राग नही करता है वही भव्य जीव ससारसागर को तर जाता है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है :–

आयारादीणाणं जीवादी वंसणं च विण्णेयं ।
छज्जीवाणं रक्खा भणदि चरित्तं तु ववहारो ॥२६४॥

आदा खु मज्झणाणे आदा मे वंसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे ॥२६५॥

भावार्थ — आचाराग आदि शास्त्रो का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान है । जीवादि तत्त्वो का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, छ काय के प्राणियो की रक्षा व्यवहार सम्यक्चारित्र है । निश्चय से मेरा ही आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है । मेरा आत्मा ही त्याग है सवर है व ध्यानरूप है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशभावना मे कहते है :–

एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वय भणियं ।
सागारणगाराणा उत्तमसुहसपजुत्ते हि ॥६८॥

भावार्थ :– उत्तम सुख के भोक्ता गणधरो ने श्रावक धर्म ग्यारह प्रतिमारूप व मुनि का धर्म दशलक्षण रूप सम्यग्दर्शन पूर्वक कहा है ।

दंसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ॥६९॥

भावार्थ — देशविरत नाम पचम गुणस्थान मे ग्यारह प्रतिमाए या श्रेणिया इस प्रकार है :– (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्त त्याग, (६) रात्रि भुक्ति त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरभ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग, (११) उद्दिष्ट त्याग ।

उत्तमखमामद्दवज्जवसच्चसउच्च च संजमं चेव ।
तवतागमकिंचण्हं बम्हा इदि दसविहं होदि ॥७०॥

भावार्थ :– उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार मुनि धर्म है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।
मज्झत्थभावणाए सुद्धप्पा चितये णिच्च ॥८२॥

भावार्थ :– निश्चय से यह जीव श्रावक व मुनि धर्म दोनो से भिन्न है। इसलिये वीतराग भावना से मात्र शुद्धात्मा का नित्य अनुभव करना चाहिये। यही निश्चय सम्यक्चारित्र है।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्खं।
परिभाविऊण सम्मं पणमामि पुणो पुणो तेसिं ॥८६॥

भावार्थ :– अनादि काल से जितने महापुरुष मोक्ष गए हैं वे अनित्यादि बारह भावनाओ की बारबार भली प्रकार भावना करने से गए है, इसलिये इस प्रकार भावनाओ को बार बार नमन करता हू।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड मे कहते है :–

जं जाणइ त णाणं ज पिच्छइ त च दसणं भणियं।
णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ॥३॥

भावार्थ :– जो जानता है सो ज्ञान, जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दर्शन कहा गया है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के सयोग से चारित्र होता है।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणिय दुविह चारित्त ॥४॥

भावार्थ – ये तीन ही भाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र जीव के अक्षय और अनत स्वभाव है। इन्ही की शुद्धता के लिये चारित्र दो प्रकार का – सम्यक्त का आचरण तथा सयम का आचरण कहा गया है।

चारित्तसमारूढो अप्पासु पर ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुई अणोवमं जाण णिच्छयदो ॥४३॥

भावार्थ :– जो सम्यग्ज्ञानी महात्मा चारित्रवान है वे अपने आत्मा मे किसी भी परद्रव्य को नही चाहते है। अर्थात् किसी भी पर वस्तु मे रागद्वेष नही करते है। वे ही ज्ञानी अनुपम मोक्ष सुख को पाते है, ऐसा हे भव्य! निश्चय से जानो।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री बोधपाहुड मे कहते हैं :—

गिहगथमोहमुक्का बावीसपरीषहा जियकषाया ।
पावारंभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४५।।

भावार्थ :— दीक्षा वह कही गई है जहा गृह व परिग्रह का व मोह का त्याग हो, वाईस परीपहो का सहना हो, कपायो का विजय हो व पापारभ से विमुक्ति हो ।

सत्तूमित्ते य समा पससणिद्दाअलद्धिलद्धिसमा ।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४७।।

भावार्थ — जहा शत्रु व मित्र मे समभाव है, प्रशसा, निन्दा, लाभ व अलाभ मे समभाव है, तृण व कचन मे समभाव है, वही जैन मुनि दीक्षा कही गई है ।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४८।।

भावार्थ — जहा उत्तम राजमदिरादि व मध्यम घर-सामान्य मनुष्य आदि का इनमे कोई विशेष नही है । जो धनवान व निर्धन की कोई इच्छा नही रखते है, सर्व जगह भिक्षा लेते हैं वही जैन दीक्षा कही गई है ।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४६।।

भावार्थ — जो निर्ग्रंथ है, असग है, मान रहित है, आशारहित है, ममकार रहित है, अहकार रहित है, उन्ही के मुनि दीक्षा कही गई है ।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५०।।

भावार्थ :— जो स्नेह रहित है, लोभ रहित हैं, मोह रहित हैं, निर्विकार हैं, क्रोधादि कलुपता से रहित हैं, भय रहित हैं, आशा रहित हैं उन्ही के जैन दीक्षा कही गई है ।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसंक्कारवज्जिया रुक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५२।।

भावार्थ :-- जो शातभाव, क्षमा व इन्द्रिय सयम से युक्त है, शरीर के शृ गार से रहित है, उदासीन है, मद व राग व दोप से रहित है उन्ही के जिन दीक्षा कही गई है ।

पसुमहिलसढसंग कुसीलसंगं ण कुणइ विकहाग्रो ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५७॥

भावार्थ -- जो महात्मा पशु, स्त्री, नपु सक की सगति नही रखते है, व्यभिचारी पुरुषो की सगति नही करते है, विकथाए नही कहते है न सुनते है, स्वाध्याय तथा आत्मध्यान मे लीन रहते है, उन्ही के जिनदीक्षा कही गई है ।

तववयगुणेहि सुद्धा संजमसम्मत्तगुणविसुद्धा य ।
सुद्धा गुणेहि सुद्धा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥५८॥

भावार्थ -- जो महात्मा बारह तप, पाँच महाव्रत, मूलगुण व उत्तर-गुणो से शुद्ध है, सयम व सम्यग्दर्शन गुणो से निर्मल है व आत्मिक गुणो मे शुद्ध है उन्ही के शुद्ध दीक्षा कही गई है ।

(७) कुन्दाकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है --

बाहिरसंगच्चाग्रो गिरिसरिदरिकंदराइ ग्रावासो ।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्यग्रो भावरहियाण ॥८६॥

भावार्थ :-- जिन महात्माओ के भावो मे शुद्धात्मा का अनुभव नही है उनका बाहरी परिग्रह का त्याग, पर्वत गुफा, नदीतट, कदरा आदि स्थानो मे तप करना तथा सर्व ध्यान व आगम का पढना निरर्थक है ।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंयस्स कीरए चाग्रो ।
बाहिरचाग्रो विहलो अब्भंतरगंयजुत्तस्स ॥३॥

भावार्थ :-- बाहरी परिग्रह का त्याग भावो की शुद्धता के निमित्त किया जाता है, यदि भीतर परिणामो मे कषाय है या ममत्व है तो बाहरी त्याग निष्फल है ।

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइ बहुसो बाहिरणिग्गयरूवाइं ॥७॥

भावार्थ :-- शुद्धोपयोगमयी भाव को न पाकर हे भव्यजीव ! तूने अनादि काल से लगाकर इस अनत ससार मे बहुत बार निर्ग्रन्थरूप धार करके छोडा है ।

भावेण होइ लिंगी णहु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भाव किं कीरइ दव्वलिंगेण ।।४८।।

भावार्थ -- भाव सहित भेपधारी साधु का लिग हो सकता है, केवल द्रव्यलिग से या भेषमात्र से साधु नही हो सकता । इसलिये भाव रूप साधुपने को या शुद्धोपयोग को धार ग कर भाव बिना द्रव्यलिग कुछ नही कर सकता है ।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ।।५६।।

भावार्थ :-- जो साधु शरीर आदि की मूर्छा से रहित है, मान कषायादि से पूर्णपने अलग तथा जिसका आत्मा आत्मा मे मगन है वही भावलिंगी है ।

जो जीवो भावंतो जीवसहावं सुभावसंजुत्तो ।
सो जरमरणविणाम कुणइ फुडं लहइ णिव्वाणं ।।६१।।

भावार्थ :-- जो भव्य जीव आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ आत्मा के स्वभाव की भावना करता है सो जरा मरण का नाश करता है और प्रगटरूप से निर्वाण को पाता है ।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वंणिग्गंथा ।
न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ।।७२।।

भावार्थ -- जो केवल द्रव्य से निर्ग्रन्थ है भेष साधु का है परन्तु शुद्धोपयोग की भावना से रहित हैं । वे रागी होते हुए इस निर्मल जिन शासन मे रत्नत्रय धर्म को व आत्म समाधि को नही पा सकते है ।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदंति ।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्खं ।।१२२।।

भावार्थ :-- जो कोई भी द्रव्यलिगी साधु है और वे इन्द्रियो के सुखो मे आकुल है वे संसार के दु:खो को नही छेद सकते हैं परन्तु जो भावलिगी साधु हैं, शुद्धोपयोग की भावना करने वाले हैं वे ध्यानरूपी कुठारता से ससार के दु.खो के मूल कर्मों को छेद डालते हैं ।

(८) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते है :--

जो इच्छइ णिस्सरिहुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ।।२६।।

भावार्थ :— जो कोई महात्मा भयानक ससाररूपी महान समुद्र से निकलना चाहता है उसे उचित है कि कर्मरूपी ईन्धन को जलाने के लिये अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे यही चारित्र है ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ।।२८।।

भावार्थ :— मिथ्यादर्शन, अज्ञान, पुण्य व पाप इन सबको मन, वचन काय से त्यागकर योगी योग मे स्थित हो, मौनव्रत के साथ आत्मा का ध्यान करे ।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयण सदा कुणइ ।।३३।।

भावार्थ :— साधु को उचित है कि पॉच महाव्रत, पॉच समिति व तीन गुप्ति इस तरह तेरह प्रकार के चारित्र से युक्त होकर सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र सहित आत्मध्यान तथा शास्त्र पठन इन दो कार्यों मे सदा लगा रहे ।

जं जाणिऊण जोई परिहारं कुणइ पुण्णपावाणं ।
तं चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिएहिं ।।४२।।

भावार्थ :— कर्मरहित सर्वज्ञो ने उसे ही निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप चारित्र कहा है जिसको अनुभव करता हुआ योगी पुण्य तथा पाप बधकारक भावो का त्याग कर देवे ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ।।४९।।

भावार्थ :— दृढ सम्यग्दर्शन से परिपूर्ण योगी दृढ चारित्रवान होकर यदि आत्मा को ध्याता है तो वह परमपद को पाता है ।

चरण हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ।।५०।।

भावार्थ :— आत्मा का धर्म सम्यक्चारित्र है, वह धर्म आत्मा का समभाव है, वही रागद्वेष रहित आत्मा का अपना ही एकाग्र परिणाम है । आत्मस्थ भाव ही समभाव है व वही चारित्र है ।

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ।।६१।।

भावार्थ – जो साधु बाहरी लिंग या भेष सहित है परन्तु भीतरी भावलिंग से रहित है, शुद्ध भाव से शून्य है, वह निश्चय सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है।

उड्ढद्धमज्झलोये केई मज्झं ण अहयमेगागी।
इयभावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं ॥८१॥

भावार्थ – इस ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक मे कोई पदार्थ मेरा नही है, मै एकाकी हूँ। इस भावना से युक्त योगी ही अविनाशी स्थान को पाता है।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

भावार्थ – निश्चयनय से जो आत्मा अपने आत्मा मे अपने आत्मा के लिये मग्न हो जाता है वही योगी सम्यक्चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को पाता है।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार पंचाचार में कहते हैं :–

पाणिवहमुसावादअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदो।
एस चरित्ताचारो पंचविहो होदि णादव्वो ॥९१॥

भावार्थ – प्राणिवध, मृषावाद, अदत्तग्रहण, मैथुन, परिग्रह इनसे विरक्त होना चारित्राचार पांच तरह का जानना चाहिये।

सरवासेहिं पडंतेहिं जह दिढकवचो ण भिज्जदी सरेहिं।
तह समिदीहिं ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ॥१३१॥

भावार्थ :– जैसे संग्राम में दृढ कवच पहरे हुए सिपाही सैकडो बाणो के पडने पर भी बाणो से नही भिदता है वैसे साधु ईर्या समिति आदि से कार्य सावधानी से करता हुआ पापो से लिप्त नही होता है।

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्य णिरोहो ताओ गुत्तीउ साहुस्स ॥१३७॥

भावार्थ :– जैसे खेत की रक्षा को बाड होती है व नगर की रक्षा को खाई व कोट होता है, वैसे साधु के तीन गुप्तिया पापो से बचाने वाली है।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षडावश्यक मे कहते हैं :–

सामाइयह्मि दु कदे समणो इर सावओ हवदि जह्मा ।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइय कुज्जा ॥३४॥

भावार्थ :– सामायिक ही करने से वास्तव मे साधु या श्रावक होता है इसीलिये सामायिक को बहुत बार करना चाहिये ।

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो ।
णवकम्मं ण य बंधदि चरित्तविण ओत्ति णादव्वो ॥६०॥

भावार्थ – जो सम्यक्चारित्र पालने का उद्यम करता है उसके पुराने कर्म झडते जाते है व नए कर्म नही बनते है । चारित्र का प्रेम से पालन ही चारित्र विनय है ।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगारभावना मे कहते है --

वसुधम्मि वि विहरंता पीडं ण करेंति कस्सइ कयाई ।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभंडेसु ॥३२॥

भावार्थ :-- साधुजन पृथ्वी मे विहार करते हुए किसी को भी कभी भी पीडा नही देते है । वे सर्व जीवो पर ऐसी दया रखते है, जैसे माता का प्रेम पुत्र पुत्री आदि पर होता है ।

वेहे विरावियक्ला अप्पाणं दमरुई दमेमाणा ।
धिविपग्गहपग्गहिदा छिंदंति भवस्स मूलाइं ॥४३॥

भावार्थ – साधुजन शरीर मे ममत्व न रखते हुए, इन्द्रियो को निग्रह करते हुए, अपने आत्मा को वश में रखते हुए, धैर्य को धारते हुए, ससार के मूल कर्मों का छेदन करते है ।

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं ।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ॥४९॥

भावार्थ :– जैसे गाडी के पहिये मे तेल देकर रक्षा की जाती है वैसे मुनिगण प्राणो की रक्षार्थ भोजन करते है, प्राणो को धर्म के निमित्त रखते है, धर्म को मोक्ष के अर्थ आचरण करते है ।

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु संजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ॥१०५॥

भावार्थ :- जो साधु पांच महाव्रत के पालने वाले है, पांच समितियों मे प्रवर्तने वाले है, धीर वीर है, पाचो इन्द्रियों के विषयो से विरक्त है वे ही पचमगति जो मोक्ष उसके अधिकारी है ।

(१२) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार में कहते है --

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप ।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्ति भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ।।४।।
अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भव णिरारंभो ।
चत्ताकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ।।५।।

भावार्थ -- आचार्य शिष्यो को चारित्र के पालने का उपदेश देते है । भिक्षा से भोजन कर, वन मे रह, थोडा जीम, दु खो को सह, निद्रा को जीत, मैत्री और वैराग्यभावना को भले विचार कर, लोक व्यवहार न कर, एकाकी रह, ध्यान मे एकाग्रमन हो, आरम्भ मत कर, कषायरूपी परिग्रह का त्याग कर, उद्योगी हो, असंग रह अर्थात् निर्मोह रह या आत्मस्थ रह ।

थोवह्मि सिक्खदे जिणई बहुसुदं जो चरित्तसंपुण्णो ।
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ।।६।।

भावार्थ .-- थोड़ा शास्त्रज्ञ हो या बहु शास्त्रज्ञ हो जो चारित्र से पूर्ण है वही ससार को जीतता है । जो चारित्र रहित है, उसके बहुतशास्त्रो के जानने से क्या लाभ है ? मुख्य सच्चे सुख का साधन आत्मानुभव है ।

सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि ।
समणं भट्ठचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ।।१४।।
जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो ।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ।।१५।।

भावार्थ -- जो कोई साधु बहुत शास्त्र को जानता है, बहुत शास्त्रो का अनुभवी हो व बहुत शास्त्रों को पढने वाला हो तो भी यदि वह चारित्र से भ्रष्ट है तो वह सुगति को नही पा सकता है । यदि कोई दीप को हाथ मे रखकर भी कुमार्ग मे जाकर कूप मे गिर पडे तो उसका दीपक रखना निष्फल है वैसे ही जो शास्त्रो को सीखकर भी चारित्र को भग करता है उसको शिक्षा देने का कोई फल नही है ।

णो कप्पवि विरदाणं विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारवोसरणे ॥६१॥

भावार्थ .-- साधुओ को साध्वियो के (आर्यिकाओ के) उपाश्रय मे ठहरना उचित नही है । न तो उन्हे वहा बैठना चाहिये, न सोना चाहिये, न स्वाध्याय करना चाहिये, न साथ आहार करना चाहिये, न प्रतिक्रमणादि करना चाहिये ।

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ॥१०४॥

भावार्थ -- जो अतरग भावो से विरक्त है वही भावलिंगी साधु है । जो केवल बाहरी द्रव्यो से विरक्त है, अन्तरग रागद्वेषादि का त्यागी नही है, उस द्रव्यलिंगी साधु को सुगति कभी नही होगी । इसलिये पाचो इन्द्रियो के विषयो मे रमने वाले मन रूपी हाथी को सदा बाधकर रखना चाहिये ।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥१२२॥
जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो ।
णव ण बज्झदे कम्मं पोराण च विधूयदि ॥१२३॥

भावार्थ -- हे साधु ! यत्न पूर्वक देखके चल, यत्न से व्रत पाल, यत्न से भूमि शोधकर बैठ, यत्न से शयन कर, यत्न से निर्दोष आहार कर यत्नपूर्वक सत्य वचन बोल, इस तरह बर्तन से तुझे पाप का बन्ध न होगा । जो दयावान साधु यत्नपूर्वक आचरण करता है उसके नए पापकर्म का बन्ध नही होता है और पुरातन कर्म झडता है ।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयम्भूस्तोत्र मे कहते है --

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया तपस्विन केचन कर्म कुर्वते ।
भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया त्रयीं प्रवृत्ति शमधीरवारुणात् ॥४६॥

भावार्थ -- अज्ञानी कितने तपस्वी पुत्र, धन व परलोक की तृष्णा के वश तप करते है परन्तु हे शीतलनाथ ! आपने जन्म जरा मरण रोग के दूर करने के लिये मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोककर वीतरागभाव की प्राप्ति की ।

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया स्वतृष्णासरिदार्य शोषिता ।
असंगधर्मार्कगभस्तितेजसा पर ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥६८॥

भावार्थ :-- हे अनतनाथ ! आपने असग धर्म अर्थात् ममत्वरहित वीतराग धर्मरूपी सूर्य के तेज से अपनी तृष्णारूपी नदी को सुखा डाला । इस नदी मे आरभ करने की आकुलतारूप जल भरा है तथा भय की तरगे उठ रही है इसलिये आपका तेज मोक्षरूप है ।

वाह्य तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।
ध्यान निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन् ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥८३॥

भावार्थ :-- हे कुन्थुनाथ भगवान ! आपने आतमध्यानरूपी आभ्यतर तप की वृद्धि के लिये ही उपवास आदि वाहरी तप वहुत ही दुर्धर आचरण किया था तथा आर्तरौद्र दो खोटे ध्यानो को दूर कर आप अतिशय पूर्ण धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे वर्तन करते हुए ।

दुरितमलकलकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशातये ॥११५॥

भावार्थ :-- हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने अनुपम योगाभ्यास के वल से आठो कर्मों के महा मलीनकलक को जला डाला तथा आप मोक्षसुख के अधिकारी हो गए । आप मेरे भी ससार के नाश के लिये कारण हो ।

अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परम
न सातत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभय
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ॥११६॥

भावार्थ :-- सर्व प्राणियो पर अहिंसामयी भाव को ही जगत मे परम ब्रह्मभाव कहते है । जिसके आश्रम मे जरासा भी आरम्भ है वहा अहिंसा नही रहती है । इसलिए हे नमिनाथ ! आप बडे दयालु है, आपने अहिंसा ही के लिए भीतरी बाहरी परिग्रह का त्याग कर दिया और आप विकारी भेषो मे रत न हुए ।

(१४) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहते है --

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधुः ॥४७॥

भावार्थ :— मिथ्यादर्शन के अन्धकार के मिटने से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के लाभ हो जाने पर साधु रागद्वेष को दूर करने के लिये चारित्र को पालते है ।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।
पापप्रणालिकाभ्योविरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ।।४६।।

भावार्थ :— पाप कर्म के आने की मोरिया — पाच अशुभकर्म की सेवा है — हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इनका त्याग करना सम्यग्ज्ञानी के चारित्र है ।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसङ्गविरतानाम् ।
अनगाराणां विकलंसागाराणां ससङ्गानाम् ।।५०।।

भावार्थ :— चारित्र दो प्रकार का है — सकल और विकल । सर्व सग से रहित साधुओ के लिये सकल चारित्र है या महाव्रत है । सग सहित गृहस्थो के लिये विकल चारित्र या अणुव्रतरूपचारित्र है ।

गृहिणा त्रेधा तिष्ठत्याणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।
पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासङ्ख्यमाख्यातम् ।।५१।।

भावार्थ :— गृहस्थियों का चारित्र तीन प्रकार का है — पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत ।

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।
स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा ।।१३६।।

भावार्थ -- श्री गणधरादि देवों ने श्रावको के ग्यारह पद (प्रतिमाए) बनाये हैं । हरएक पद मे अपने चारित्र के साथ पूर्व के पद का चारित्र क्रम से बढता रहता है । जितना २ आगे पद मे जाता है पहला चारित्र रहता है और अधिक बढ़ जाता है ।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना में कहते है :—

वाहिरतवेण होवि हु, सव्वा सुहसीलता परिच्चत्ता ।
सल्लिहिदं च सरीरं, ठविदो अप्पा य सवेगे ।।२४२।।
दंताणि इंदियाणि य, समाधिजोगा य फासिया होंति ।
अणिगूहिदवीरियदा, जीविदतण्हा य वोच्छिण्णा ।।२४३।।

भावार्थ -- उपवास ऊनोदर आदि बाहरी तप के साधन करने से सुखिया रहने का स्वभाव दूर होता है। शरीर मे कृशता होती है। ससार देह भोगो से वैराग्यभाव आत्मा मे जमता है। पाचो इन्द्रिया वश में होती हैं, समाधि -- योगाभ्यास की सिद्धि होती है, अपने आत्मबल का प्रकाश होता है, जीवन की तृष्णा का छेद होता है।

णत्थि अणूदो अप्पं, आयासादो अणूणयं णत्थि।
जह तह जाण महल्लं, ण वयमहिंसासयं अत्थि ॥७८७॥

जह पव्वएसु मेरू, उच्चाओ होइ सव्वलोयम्मि।
तह जाणसु उच्चायं सीलसु वदेसु य अहिंसा ॥७८८॥

भावार्थ -- जैसे परमाणु से छोटा नही है और आकाश से कोई बडा नही है तैसे अहिंसा के समान महान व्रत नही है जैसे लोक मे सबसे ऊँचा मेरु पर्वत है वैसे सर्व शीलो मे व सर्व व्रतो मे अहिंसाव्रत ऊँचा है।

सव्वग्गथविमुक्को, सीदीभूदो पसण्णचित्तो य।
ज पावइ पीदसुहं, ण चक्कवट्टी वि त लहदि ॥११८२॥

रागविवागसत्तण्हा-, इगिद्धिअवितित्ति चक्कवट्टिसुह।
णिस्सगणिव्वुसुह-, स्स कह अग्घइ अणतभाग पि ॥११८३॥

भावार्थ :-- जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित है, शातचित्त है व प्रसन्न-चित्त है उसको जो सुख और प्रेम प्राप्त होता है उसको चक्रवर्ती भी नहीं पा सकता है। चक्रवर्ती का सुख राग सहित तृष्णा सहित व बहुत गृद्धता सहित है व तृप्ति रहित है जबकि असग महात्माओ को जो स्वाधीन आत्मिक सुख है उसका अनतवाँ भाग भी सुख चक्री को नही है।

इंदियकसायवसगो, बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि।
पक्खी व छिण्णपक्खो, ण उत्पददि इच्छमाणो वि ॥१३४३॥

भावार्थ -- जो कोई बहुत शास्त्रो का ज्ञाता भी है, परन्तु पाच इन्द्रियो के विषयो के व कषायो के अधीन है वह सम्यक्चारित्र का उद्यम नही कर सकता है। जैसे पख रहित पक्षी इच्छा करते हुए भी उड नही सकता है।

णासदि य सगं बहुग, पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्सं।
विससम्मिसिद दुद्ध, णस्सदि जध सक्कराकढिदं ॥१३४४॥

भावार्थ :-- इन्द्रिय विषय और कषायों से मिला हुआ बहुत बडा ज्ञान नाश हो जाता है जैसे मिश्री मिलाकर औटाया हुआ दूध भी विष के मिलने से नष्ट हो जाता है ।

अब्भंतरसोधीए, सुद्धं णियमेण बाहिरं करणं ।
अब्भतरदोसेण हु, कुणदि णरो बाहिरं दोस ॥१३५०॥

भावार्थ :-- अतरग आत्मा से परिणामो की शुद्धता से बाहरी क्रिया की शुद्धता नियम से होती है । भीतर भावों मे दोष होने से मनुष्य बाहर भी दोषो को करता है ।

होइ सुतवो य दीवो, अण्णाणतमंधयारचारिस्स ।
सव्वावत्थासु तवो, वट्टदि य पिदा व पुरिसस्स ॥१४६६॥

भावार्थ :-- अज्ञान रूपी अन्धेरे मे चलते हुए उत्तम तप ही दीपक है । सर्व ही अवस्था मे यह तप प्राणियो के लिये पिता के समान रक्षा करता है ।

रक्खा भएसु सुतवो, अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो ।
णिस्सेणी होइ तवो, अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ॥१४७१॥

भावार्थ :-- भयो से रक्षा करने वाला एक तप ही है । उत्तम तप सर्व ऐश्वर्यों की खान है । यही आत्मानुभव रूपी तप मोक्ष के अविनाशी सुख पर पहुँचने की सीढ़ी है ।

तं णत्थि जं ण लब्भइ, तवसा सम्मंकएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तण जलिउं, कम्मतणं डहदि य तवग्गी ॥१४७२॥

भावार्थ :-- जगत मे ऐसी कोई उत्तम वस्तु नही है जो सम्यक् तप करने वाले पुरुष को प्राप्त न होवे जैसे अग्नि तृण को जला देती है वैसे तपरूपी अग्नि कर्मरूपी तृणो को जला देती है ।

जिदरागो जिददोसो जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
रदिअरदिमोहमहणो झाणोवगओ सदा होइ ॥१६९८॥

भावार्थ :-- जिसने राग को जीता है, द्वेष को जीता है, इन्द्रियो को जीता है, भय को जीता है, कषायों को जीता है, रति अरति व मोहभाव को जिसने नाश किया है, वही पुरुष सदाकाल ध्यान मे उपयुक्त रह सकता है ।

(१६) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते है --

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते अदयाचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य ना यत्यचला धृति ॥७१॥

भावार्थ :-- जिसके चित्त मे निष्कम्प आत्मा मे थिरता है उसी को मोक्ष का लाभ होता है । जिसके चित मे ऐसा निश्चल धैर्य नही है उसको मुक्ति प्राप्त नही हो सकती है ।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमा. ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

भावार्थ '-- मानवो से वार्ता करने से मन की चञ्चलता होती है जिससे मन मे अनेक विकल्प रूप व भ्रम पैदा होता है, ऐसा जानकर योगी मानवो की सगति छोडे ।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

भावार्थ -- हिसादि पापो से पाप का बन्ध होता है । जीवदया आदि व्रतो से पुण्य बन्ध होता है । मोक्ष तो पुण्य पाप के नाश से होता है । इसलिये मोक्षार्थी जैसे हिंसादि पाच अव्रतो को छोड़ता है वैसे वह अहिसादि पाच व्रतो के पालने का भी विकल्प छोड देता है ।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परम पदमात्मन. ॥८४॥

भावार्थ -- ज्ञानी जीव पहले अव्रतो को छोडकर अहिसादि व्रतो मे अपने को जमाता है । पश्चात् आत्मा का श्रेष्ठ निर्विकल्प पद पाकर व्रतो को भी छोड देता है अर्थात् व्रतो के पालने का ममत्व भी उसके छूट जाता है ।

(१७) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है :--

अधीत्य सकल श्रुतं चिरमुपास्य घोर तपो ।
यदीच्छसि फल तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ॥

छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः
कथ समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥१८९॥

भावार्थ – सर्व शास्त्रो को पढकर तथा दीर्घ काल तक घोर तप साधन कर यदि तू शास्त्र ज्ञान और तप का फल इस लोक मे लाभ बडाई आदि चाहता है तो तू विवेक शून्य होकर सुन्दर तपरूपी वृक्ष के फूल को ही तोड डालता है। तब तू उस वृक्ष के मोक्षरूपी पक्के फल को कैसे पा सकेगा ? तप का फल मोक्ष है यही भावना कर्तव्य है।

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिहलोकपंक्तिं विना
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ।
कषायविषयद्विषो विजय ते तथा दुर्जयान्
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः ॥१६०॥

भावार्थ – हे भव्य ! तू इस लोक मे लोगो की सगति विना शास्त्रो को ऐसा पढ व महान कायक्लेश तप से शरीर को भी ऐसा शोष जिससे तू दुर्जय कषाय और विषय रूपी वैरी को विजय कर सके क्योकि महामुनि तप व शास्त्र का फल शातभाव को ही मानते है।

विषयविरतिः सगत्यागः कषायविनिग्रहः ।
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः ।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः संसाराब्धेस्तटे निकटे सति ॥२२४॥

भावार्थ – ससार समुद्र का तट निकट होते हुए विवेक पुण्यात्मा जीव को इतनी बातो की प्राप्ति होती है – (१) इन्द्रियो के विषय मे विरक्तभाव, (२) परिग्रह का त्याग, (३) कषायो का जीतना, (४) शातभाव, (५) आजन्म अहिंसादि व्रत पालन, (६) इन्द्रियो का निरोध, (७) तत्व का अभ्यास, (८) तप का उद्यम, (९) मन की वृत्ति का निरोध, (१०) जिनेन्द्र मे भक्ति, (११) जीवो पर दया।

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेवपदमव्ययम् ॥२३६॥

भावार्थ -- जब तक छोडने लायक मन वचन काय का सम्बन्ध है तब तक पर से निवृत्ति की या वीतरागता की भावना करनी चाहिये। जब पर पदार्थ से सम्बन्ध न रहा तब वहा न वृत्ति का विकल्प है और न निवृत्ति का विकल्प है, वही आत्मा का अविनाश पद है।

रागद्वेषौ प्रवृत्ति. स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसम्बन्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥२३७॥

भावार्थ -- राग द्वेष होना ही प्रवृत्ति है। उन्ही का न होना निवृत्ति है। ये रागद्वेष बाहरी पदार्थो के सम्बन्ध से होते है, इसलिये बाहरी पदार्थो का त्याग करना योग्य है।

सुख दु:ख वास्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुत इति विकल्पाद्यवि भवेत् ।
उदासीनस्तस्य प्रगलितपुराण न हि नवं
समारकन्दत्येष स्फुरतिसुविदग्धो मणिरिव ॥२६३॥

भावार्थ :-- अपने ही किये हुए कर्मों के उदय के वश से जब सुख या दु ख होता है तब उनमे हर्ष या विपाद करना किस लिये ? ऐसा विचार कर जो रागद्वेप न करके उदासीन रहते है उनके पुरातन कर्म झड जाते है और नए नही बँधते है। ऐसे ज्ञानी तपस्वी महामणि की तरह सदा प्रकाशमान रहते है।

(१८) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धय्युपाय मे कहते है --

चारित्रं भवति यत. समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्त विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३६॥

भावार्थ -- सर्व पाप सम्बन्धी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग व्यवहार सम्यक्चारित्र है। निश्चय सम्यक्चारित्र सर्व कषायो से रहित, वीतरागमय, स्पष्ट आत्मा के स्वरूप का अनुभव है अर्थात् आत्मा रूप ही है।

हिंसातोऽनृतवचननात्स्तेयादब्रह्मत परिग्रहत ।
कात्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्र जायते द्विविधम् ॥४०॥

भावार्थ -- चारित्र दो प्रकार का है -- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाच पापो से पूर्णतया विरक्त होना महाव्रतरूप चारित्र है तथा इन पापो से एकदेश विरक्त होना अणुव्रतरूप चारित्र है।

निरत कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

भावार्थ -- पाचो पापो से बिलकुल छूट जाने पर जब यह आत्मा समयसार या शुद्धानुभव रूप होता है तब वही यति या साधु है जो इनके एकदेश त्याग मे रत है। उसको श्रावक कहते है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

भावार्थ -- हिंसादि पाचो ही पापो मे आत्मा के शुद्ध भावो की हिंसा होती है, इसलिये ये सबही हिंसा मे गर्भित है । अनृतवचन चोरी आदि चार पापो के नाम उदाहरण रूप शिष्यो के समझाने के लिये है ।

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

भावार्थ -- जो क्रोधादि कषाय सहित मन वचन काय की प्रवृत्ति से भावप्राण और द्रव्यप्राणो का वियोग करना व उनको कष्ट पहुँचाना वास्तव मे हिंसा है ।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥४४॥

भावार्थ -- अपने परिणामो मे रागादि भावो का प्रगट न होने देना वही अहिंसा है और उन्ही का प्रगट होना सो ही हिंसा है । यह जिनागम का सार है ।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

भावार्थ -- जितने अंश परिणाम मे वीतरागरूप चारित्रगुण प्रगट होता है उतने अंश वह गुण बन्ध नही करता है । उसी के साथ जितना अंश राग रहता है उतना अंश बन्ध होता है ।

(१९) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसार कलश मे कहते है --

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥४-१२॥

भावार्थ :-- जो कोई ज्ञानी स्याद्वादनय के ज्ञान मे कुशल है और संयम के पालने मे निश्चल है और निरंतर अपने आत्मा को तल्लीन होकर ध्याता है वही एक आत्मज्ञान और चारित्र दोनो के साथ परस्पर तीव्र मैत्री करता हुआ इस एक शुद्धोपयोगी भूमि को प्राप्त करता है जो मोक्षमार्ग और कर्मनाशक है ।

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा सद्यः प्रणश्यति नदेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ।।७-१२।।

भावार्थ -- यह आत्मा नानाप्रकार की शक्तियो का समुदाय है । यदि इसको एक एक अपेक्षा से खड रूप देखा जाय तो इसका वास्तविक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है । इसलिये भेद रहते हुए भी मैं अपने को अभेदरूप अखड एक परम शात निश्चल चैतन्य ज्योतिरूप अनुभव करता हूँ । यही सम्यक्चारित्र है ।

(२०) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना मे कहते हैं :--

कामक्रोधविषादमत्परमदद्वेषप्रमादादिभिः ।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते ।।
काठिन्य परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यायविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः ।।५३।।

भावार्थ :-- क्योकि काम, क्रोध, विषाद, ईर्ष्या, मद, द्वेष, प्रमाद आदि दोषो के होने पर शुद्ध आत्मध्यान को बढानेवाली मन की स्थिरता बिगड जाती है इसलिये जैसे तापकारी अग्नि की ज्वालाओ से सुवर्ण की कठिनता मिटादी जाती है उसी तरह आत्मा के ध्यान करने वालो को उचित है कि वे इन कामादि विकारो को दूर से ही त्याग करे ।

स्वात्मारोपितशीलसयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः ।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायकं कुर्वता ।।
तप्यते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा ।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छति ते निर्वृतिम् ।।८६।।

भावार्थ :-- जो अपने मे शील व सयम के भार को रखते हैं, परपदार्थ की सहायता त्याग चुके है, जिनका मन शरीर से भी रागरहित है तथापि उस की सहायता से जो बहुत कठिन तप करते हैं तो भी जिनके भीतर कोई कामना नही हैं वे ही इस भयभीत ससार वन को उल्लघकर मोक्ष को चले जाते हैं ।

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं सौख्य शुभं निर्मितम् ।
विज्ञायेत्यशुभ निहंतु मनसो ये पोषयते तपः ।
जायते शमसयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो ।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषा किमत्रोच्यते ।।६०।।

भावार्थ :— पूर्व बाधा हुआ अशुभकर्म उदय मे आकर दु ख पैदा करता है तथा शुभ कर्म सुख को पैदा करता है । ऐसा जानकर जो महात्मा अशुभकर्म को क्षय करने के लिये तप करते है वे साम्यभाव व सयम के भडार योगी इस जगत मे दुर्लभ है । जिस पर भी जो पुण्य व पाप दोनो ही कर्मों के नाश मे तत्पर हैं, ऐसे योगियो के सम्बन्ध मे क्या कहा जावे ? उनका मिलना तो बहुत कठिन है ही ।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम ।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमा दत्ते तप संपदम् ।।
तच्चित्रं परमं यदत्र विषय गृहणाति हित्वा तपो ।
दत्तेऽसौय यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ।।९७।।

भावार्थ :— चक्रवर्ती तप करने के लिये सुदर्शन चक्र का त्याग कर देते है । इसमे सज्जनो को कोई आश्चर्य नही होता है क्योकि वह तप वीर साधुओ को अविनाशी अनुपम मोक्ष की सपदा को देता है । परम आश्चर्य तो इस बात मे आता है जो कोई तप को छोडकर इन्द्रिय विषय को ग्रहण कर लेता है, वह इस महान व भयानक ससार समुद्र मे पडकर अनेक दु खो मे अपने को पटक देता है ।

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखा ये यियासति सिद्धिः ।।
ते शिश्रीषन्ति नूनं निजपुरमुदधिं वाहुयुग्मेन तीर्त्वा ।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुमितजलचरासारकीर्णान्तिरालम् ।।९९।।

भावार्थ — जो मूढ प्राणी निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमयी मोक्ष-मार्ग को छोडकर मात्र ज्ञान से ही इस ससार के किले को उल्लघकर अनुपम सुखमयी मुक्ति की इच्छा करते है वे मानो कल्पकाल की उडी हुई वायु से क्षोभित और जलचरो से भरे हुए इस समुद्र को दोनो भुजाओ से तैरकर अपने नगर में पहुचना चाहते है सो कठिन है ।

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरतम् ।
क्वचिदुभयमनेक शुद्धबोधोऽपि गेहि ।।
कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना–
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि ।।११९।।

भावार्थ :- शुद्ध आत्मज्ञान धारी गृहस्थी भी घर मे रहकर कभी तो धर्म सेवता है, कभी महान अधर्म सेवता है, कभी दोनो को सेवता है, तब बताइये यह गृहवास किस तरह सर्व कर्ममल से शुद्ध करने वाला हो सकता है ? ऐसे निर्मल मनधारको ने विचार कर इस गृहवास को मन वचन काय से त्याग ही किया ।

(२१) श्री पद्मनदिमुनि पद्मनदीपच्चीसी के धर्मोपदेशामृत अधिकार मे कहते है :-

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चै. ।
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ।।
तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतिरतिरमल दर्शन यत्र पूज्यं ।
तद्गार्हस्थ्य बुधानामितरदिह पुनर्दु.खदो मोहपाशः ।।१३।।

भावार्थ - जिस गृहस्थपने में श्री जिनेन्द्र की आराधना की जावे, गुरुओ की विनय की जावे, पात्रो को भक्तिपूर्वक दान दिया जावे, आपदा से दु खित दीनो को दया से दान दिया जावे, अपने नियम व्रतो की रक्षा मे प्रेम किया जावे तथा निर्मल सम्यग्दर्शन पाला जावे वही गृहस्थपना बुद्धिमानो के द्वारा माननीय है । जहा ये सब बातें नही वह गृहस्थपना नही है किन्तु दु खदाई मोह का फदा है ।

अभ्यस्यतान्तरदृश किमु लोकभक्त्या मोह कृशीकुरुत किं वपुषाकृशेन ।
एतद्वयं यदि न किं बहुभिर्नियोगैः क्लेशैश्च किं किमपरै. प्रचुरैस्तपोभिः ।।५०।।

भावार्थ - हे मुने ! अपने भीतर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप का अभ्यास करो, लोगो के रिझाने से क्या लाभ ? मोह भाव को कृश करो, कम करो, शरीर को दुबला करने से क्या लाभ ? यदि मोह की कमी और आत्मानुभव का अभ्यास ये दो बातें न हो तो बहुत भी नियम, व्रत, सयम से व कायक्लेशरूप भारी तपो से क्या लाभ ?

(२२) श्री पद्मनदिमुनि पद्मनदीपच्चीसी के यतिभावना मे कहते है --

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो ।
जायेताद्भुतधाम धन्यशमिना केषाचिदत्राचलः ।।

वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा ।
येषा नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।।७।।

भावार्थ – इस जगत मे कितने ही साम्यभाव के धारक धन्य योगीश्वर है जिनके भीतर भेदविज्ञान के वल से मन की वृत्ति रुक जाने से उत्तम ध्यान का प्रकाश परम निश्चल हो रहा है जिसको देखकर आश्चर्य होता है । वे ऐसे निश्चल ध्यानी है कि कोई प्रकार के उपसर्ग आने पर भी ध्यान से चलायमान नही होते । यदि मस्तक पर वज्रपात पडे या तीन भुवन मे अग्नि जल जावे व प्राणो का नाश भी हो जावे तो भी उनके परिणामो मे विकार नही होता है ।

(२३) श्री पद्मनदिमुनि पद्मनदीपच्चीसी उपासक सस्कार मे कहते है –

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्याय सयमस्तपः ।
दानञ्चेति गृहस्थाना षट् कर्माणि दिने दिने ।।७।।

भावार्थ – देवपूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय, सयम, तप और दान ये गृहस्थो के नित्य प्रतिदिन करने के कर्म है ।

(२४) श्री पद्मनदि मुनि निश्चयपचाशत् मे कहते है –

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जम्भिते कुतो जन्म ।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशम् ।।१६।।

भावार्थ – चारित्र की शुद्धता से जव दर्शन ज्ञान गुण विस्तार को प्राप्त हो जाते है तव ससार कहाँ से रहेगा ? अर्थात् नही रहता है । जैसे सूर्य के उदय होने पर रात्रि सम्वन्धी अन्धकार का क्या नाश नही होगा ? अवश्य होगा ।

(२५) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय मे कहते है :–

छित्वा स्नेहमयान पाशान् भित्वा मोहमहार्गलाम् ।
सच्चारित्रसमायुक्तः शूरो मोक्षपथे स्थितः ।।२०।।

भावार्थ :– वही वीर पुरुष मोक्षमार्ग मे चलनेवाला है जो स्नेहमयी जालो को छेद करके व मोह की महान जजीरो को तोड करके सम्यक्चारित्र को धारण करता है ।

विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः ।
सयमो हि महामत्रस्त्राता सर्वत्र देहिनाम् ।।३०।।

भावार्थ :– जो इन्द्रिय विषयरूपी सर्प से डसा हो व जिसको कषायरूप विष से मूर्छा आ गई हो उसके लिये संयम ही महामंत्र है, यही सर्व जगह प्राणियो का रक्षक है ।

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते चारित्रं कुरु यत्नतः ।
सद्धर्मे च परां भक्तिं शमे च परमां रतिम् ॥४७॥

भावार्थ :– उत्तम नरजन्म पाया है तो यत्नपूर्वक चारित्र का पालन कर, रत्नत्रय धर्म मे दृढ भक्ति कर व शांतभाव मे श्रेष्ठ प्रीति कर ।

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्वं मृतोपमः ।
सद्धर्म चेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत् ॥६१॥

मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः ।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥६२॥

भावार्थ :– हे प्राणी ! तू यत्नपूर्वक धर्म का आचरण कर मृतक के समान मत बन । जिन मानवो के चित्त मे सच्चा धर्म है उन्ही का जीवन सफल है । जो धर्माचरण करने वाले हैं वे मरने पर भी अमर हैं परन्तु जो मानव पाप के मार्ग पर जाने वाले है वे जीते हुए भी मृतक के समान हैं ।

चित्तसंदूषकः कामस्तथा सद्गतिनाशनः ।
सद्वृत्तध्वंसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ॥१०३॥
दोषाणामाकरः कामो गुणानां च विनाशकृत् ।
पापस्य च निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ॥१०४॥

तस्मात्कुरुत सद्वृत्तं जिनमार्गरताः सदा ।
ये तल्लंघितां यांति स्मरशल्यं सुदुर्धरम् ॥१०२॥

भावार्थ – काम भाव मन को दूषित करने वाला है, सद्गति का नाशक है, सम्यक्चारित्र को नष्ट करने वाला है । यह काम परम्परा अनर्थकारी है । काम दोषो का भंडार है, गुणो का नाश करने वाला है, पाप का खास बन्धु है । बडी बड़ी आपत्तियो को बुलाने वाला है इसलिये सदा जैन धर्म में लीन होकर सम्यक्चारित्र का पालन करो जिससे अति कठिन काम की शल्य चूर्ण चूर्ण हो जावे ।

उपवासोऽवमोदर्यं रसानां त्यजनं तथा ।
अस्नानसेवनं चैव ताम्बूलस्य च वर्जनम् ॥११५॥
असेवेच्छानिरोधस्तु निरनुस्मरणं तथा ।
एते हि निर्जरोपाया मदनस्य महारियोः ॥११६॥

भावार्थ :– उपवास करना, भूख से कम खाना, रसो को छोड़ना, स्नान न करना, ताम्बूल को न खाना काम सेवन न करना, काम की इच्छा को रोकना, कामभाव का स्मरण न करना, ये सब कामरूपी महा शत्रु के नाश के उपाय हैं।

सम्पत्तौ विस्मिता नैव विपत्तौ नैव दुःखिताः ।
महतां लक्षणं ह्येतन्न तु द्रव्यसमागमः ॥१७०॥

भावार्थ :– महान पुरुषो का यह लक्षण है कि सम्पत्ति होने पर आश्चर्य न माने व विपत्ति पड़ने पर दुःखी न हो, केवल लक्ष्मी का होना ही महापुरुष का लक्षण नहीं है ।

गृहाचारकवासेऽस्मिन् विषयामिषलोभिनः ।
सीदंति नर शार्दूला बद्धा बान्धवबन्धनैः ॥१८३॥

भावार्थ :– नरसिंह के समान मानव भी बंधुजनों के बधनों में बँधे हुए, इन्द्रिय विषयरूपी मास के लोभी होकर इस गृहस्थी के कुवास मे कष्ट पाते रहते हैं ।

मानस्तंभं दृढं भंक्त्वा लोभाद्रिं च विदार्य वै ।
मायावल्लीं समुत्पाट्य क्रोधशत्रुं निहत्य च ॥१९४॥
यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्रं ध्यानतत्परः ।
कर्मणां प्रक्षयं कृत्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥१९५॥

भावार्थ :– जो कोई महात्मा दृढ़ मान के खभ को चूर्ण कर डालता है, लोभरूपी पर्वत के खंड खंड कर देता है, माया की बेल को उखाड़ के फेंक देता है, क्रोध शत्रु को मार डालता है वही ध्यान में लीन होकर परम हितकारी यथाख्यात वीतराग चारित्र को पाकर परमपद को प्राप्त कर लेता है ।

परीषहजये शूराः शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे ।
कषायविजये शूरास्ते शूरा गदिता बुधैः ॥२१०॥

भावार्थ :– जो महात्मा परिषहो को जीतने मे वीर हैं, इन्द्रियों के निरोध मे शूर हैं, कषायो के विजय में पराक्रमी हैं, उन्ही को बुद्धिमानो ने वीर पुरुप कहा है ।

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥२१३॥

भावार्थ :– जो सज्जन सुमनधारी सर्व प्राणीमात्र मे समताभाव रखता है और ममता के भाव को छोड देता है वही अविनाशी पद को पाता है।

रागादिवर्जनं सङ्गं परित्यज्य दृढव्रताः।
धीरा निर्मलचेतस्काः तपस्यन्ति महाधियः ॥२२३॥

ससारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम्।
सर्वसगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥२२४॥

भावार्थ :– जो महाबुद्धिमान रागद्वेषादि भावो को हटाकर, परिग्रहो को त्यागकर, महाव्रतो मे दृढ होकर निर्मल चित्त से तप करते हैं वे ही धीर हैं, जो ससार से वैराग्यवान है, मोक्ष सुख की भावना रखते है व सर्व परिग्रह से मुक्त है उन्ही का जीवन धन्य है।

संगात्संजायते गृद्धिर्गृद्धो वाञ्छति संचयम्।
संचयाद्वर्धते लोभो लोभाद्दुःखपरंपरा ॥२३२॥

भावार्थ :– परिग्रह से गृद्धता होती है। गृद्धता होने पर धन सचय करना चाहता है। धन के सचय से लोभ बढ़ता है, और लोभ से दु खो परम्परा बढ़ती जाती है।

सद्वृत्तः पूज्यते देवैराखण्डलपुरःसरैः।
असद्वृत्तस्तु लोकेऽस्मिन्निन्द्यतेऽसौ सुरैरपि ॥२७५॥

भावार्थ :– सम्यक्चारित्रवान की पूजा इन्द्रादि देव भी करते है, किन्तु जो चारित्रवान नहीं है उसकी इस लोक में देवगण भी निन्दा करते हैं।

व्रतं शीलतपोदानं संयमोऽर्हत्पूजनम्।
दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ॥३२२॥

भावार्थ :– दुःखो के नाश करने के लिये व्रत, शील, तप, दान सयम व अर्हत पूजा इन सबको कारणरूप कहा गया है इसमे कोई सशय नही है।

तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत्।
पररामा समा मातुः पश्यन् याति परं पदम् ॥३२३॥

भावार्थ :– जो परके धन को तृण समान, पर के शरीर को अपने शरीर के समान व पर की स्त्री को माता के समान देखता है वही परम पद को पाता है।

(२६) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं –

यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितम्।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणम् ॥१-८॥

भावार्थ – जो आत्मा की शुद्धता का उत्कृष्ट धाम है, जो योगीश्वरो का जीवन है, जो सर्व पापो से दूर रखने वाला है वही सम्यक्चारित्र है।

पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितम्।
श्रीवीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्र निर्मलम् ॥५-८॥

भावार्थ :– श्री वीर भगवान ने वर्णन किया है कि पाच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार का चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल है।

निः स्पृहत्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थकम् ॥२०-८॥

भावार्थ :– जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशारहित-पना, उनका कठिन तप, कायक्लेश तथा दान ये सर्व धर्मकार्य निष्फल हैं।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ॥३२-८॥

अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ॥३३-८॥

भावार्थ :– अहिसा ही जगत की रक्षिका माता है, अहिंसा ही आनद की सतान बढाने वाली है, अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है, अहिंसा से ही उत्तम गति होती है, अहिंसा ही मोक्षसुख को देती है, अहिंसा ही स्वर्ग सम्पदा देती है, अहिसा ही परम हितकारी है, अहिंसा ही सर्व आपदाओ को नाश करती है।

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणां।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ॥४२-८॥

भावार्थ :— तपस्या, शास्त्रज्ञान, महाव्रत, आत्मज्ञान, धर्मध्यान, दान आदि शुभकर्म, सत्य, शील, व्रत आदि की माता अहिंसा ही कही गई है। अहिंसा के होते हुये ये सब यथार्थ है।

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कदर्थिते।
स निर्दयः परस्याङ्गे कथं शस्त्रं निपातयेत् ॥४८-८॥

भावार्थ .— जो मनुष्य अपने शरीर मे तिनका चुभने पर भी अपने को दुःखी मानता है वह निर्दयी होकर पर के शरीर पर शस्त्रो को चलाता है यही बड़ा अनर्थ है।

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दिताम्।
पश्यात्मसदृशं विश्वं जीवलोकं चराचरम् ॥५२-८॥

भावार्थ — सर्व प्राणियो को अभयदान दो, उनके प्राणो की रक्षा करो, सर्व से प्रशसनीय मित्रता करो। जगत के सर्व स्थावर व त्रस प्राणियो को अपने समान देखो।

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणम्।
चरणज्ञानयोर्बीजं सत्यसंज्ञं व्रतं मतम् ॥२७ ६॥

भावार्थ — यह सत्य नाम व्रत सर्व व्रतो का शास्त्रज्ञान का व यम नियम का स्थान है। विद्या व विनय का यही आभूषण है। चारित्र व ज्ञान का यही बीज है।

विषयविरतिमूलं संयमोद्दामशाखम्, यमदलशमपुष्पं ज्ञानलीलाफलाढ्यम्।
विबुधजनशकुन्तै सेवितं धर्मवृक्षं दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ॥२०-१०॥

भावार्थ :— जिन धर्म वृक्ष की जड विषयो से विरक्ति है, जिसकी बडी शाखा सयम है, जिसके यम नियमादि पत्र है, व उपशम भाव पुष्प है। ज्ञानानन्दरूपी जिसके फल हैं। जो पण्डितरूपी पक्षियो से सेवित है ऐसे धर्म वृक्ष को मुनि भी हो तो भी चोरी रूपी तीव्र अग्नि से भस्म कर डालता है।

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम्।
योसित्संगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ॥६-११॥

भावार्थ :— ब्रह्मचर्य व्रत के पालने वाले को जो स्त्री के सग से विरक्त हैं, इस प्रकार मैथुन को अवश्य त्यागना चाहिये। इस मैथुन का फल अंत मे विरस होता है।

आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम् ।
तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संगस्तुर्यमिष्यते ॥७-११॥
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्त्तितम् ।
तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कारः सप्तमं मतम् ॥८-११॥
पूर्वानुभोगसभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनी चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षम् ॥६-११॥

भावार्थ :– दश प्रकार का मैथुन यह है (१) शरीर का शृंगार, (२) पुष्ट रस का सेवन, (३) गीत नृत्य वादित्र का देखना सुनना, (४) स्त्रियो की सगति, (५) स्त्रियो के विषयो का सकल्प करना, (६) स्त्रियो के अग देखना, (७) देखने का सस्कार मन में रखना, (८) पूर्व के भोगो का स्मरण, (६) काम भोग की भावना करनी, (१०) वीर्य का झडना ।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्धं
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसङ्गाः प्रत्यहं संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्यम् ॥४८-११॥

भावार्थ :– इस जगत को काम की अग्नि के प्रचड और अनन्त सतापो से पीड़ित देखकर विषयो से विरक्त योगीश्वर प्रतिदिन संयमरूपी उपवन मे शोभायमान ऐसे शातिसागर के तट का ही आश्रय लेते हैं । वाहरी काम से विरक्त होकर अंतरग आत्मानुभव करते हैं ।

सत्संसर्गसुधास्यन्दैः पुंसां हृदि पवित्रिते ।
ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ॥१४-१५॥

भावार्थ :– सत्पुरुषो की सत्संगति रूपी अमृत के झरने से पुरुषो का हृदय पवित्र हो जाता है तव उसमें विवेक से प्रसन्न हुई ज्ञानरूपी लक्ष्मी निवास करती है ।

शीतांशुरश्मिसंपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधिः ।
तथासद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधिः ॥१७-१५॥

भावार्थ :– जैसे चन्द्रमा की किरणो की सगति से समुद्र बढता है, वैसे सम्यक्चारित्र के धारी महात्माओ की सगति से मनुष्यो का प्रज्ञा (भेदविज्ञान) रूपी समुद्र बढता है ।

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पदः।
भवत्यपि च निर्लेपं मन क्रोधादिकश्मलम् ॥१९-१५॥

भावार्थ :– अनुभवी सुचारित्रवान वृद्धों की सेवा करने वालो के ही चारित्र आदि सम्पदाएं प्राप्त होती है तथा क्रोधादि कषायो से मैलापन भी निर्मल हो जाता है।

मनोऽभिमतनिःशेषफलसंपादनक्षमं।
कल्पवृक्षमिवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ॥३७-१५॥

भावार्थ :– महात्माओं की सगति कल्पवृक्ष के समान सर्व प्रकार के मनोवांछित फल देने को समर्थ है अतएव चारित्र की रक्षार्थ महान पुरुषो की सेवा कर्तव्य है।

दहति दुरितकक्षं कर्मबंधं लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥४१-१५॥

भावार्थ :– वृद्ध महात्माओ की सेवा मानवों के लिये निश्चय से परम कल्याणकारिणी है, पापरूपी वन को जलाती है, कर्मबंध को काटती है, चारित्र को सिद्ध कराती है, भावो को शुद्ध रखती है, ससार के पार पहुँचाती है तथा ज्ञान के राज्य को या केवलज्ञान को देती है।

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचं
विसृज विसृज मोहं विद्धि विद्धि स्वतत्त्वम्।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतोः ॥४२-१५॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू परिग्रह से विरक्त हो, जगत के प्रपच को छोड छोड, मोह को विदा कर विदा कर, आत्मतत्व को समझ समझ, चारित्र का अभ्यास कर, अभ्यास कर, अपने आत्मस्वरूप को देख देख तथा मोक्ष के सुख के लिये पुरुपार्थ को बार बार कर।

अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलंकं शान्तविश्वप्रचारम्।

गलितसकलशङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव ॥४३-१५॥

भावार्थ :— हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा के द्वारा, अनत सुख समुद्र केवल ज्ञान के बीज कलक रहित, निर्विकल्प, नि शक, ज्ञानापेक्ष विश्वव्यापी, महान तथा निर्विकार आत्मा को ही भज उसी का ध्यान कर ।

सर्वसंगविनिर्मुक्तः, संवृताक्षः स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीराः संयमी वीरवर्णिता ॥३३-१६॥

भावार्थ :— जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित है, इन्द्रियविजयी है, स्थिर चित्त है वही संयमी मुनि श्री महावीर द्वारा कथित आत्म ध्यान की धुरा को धारण कर सकता है ।

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूलं
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय ।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य-
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥४०-१६॥

भावार्थ :— हे आत्मन् ! यदि ससार के बन्ध का नाश करना चाहता है तो तू सर्व विषयो का मूल, सर्व पापो का बीज, नरकनगर की ध्वजा रूप परिग्रह के समूह को त्याग कर, मुनियो के समूह को आनन्द देने वाला सतोष-रूपी राज्य को अगीकार कर ।

आशा जन्मोग्रपङ्काय शिवायाशाविपर्ययः ।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ॥१९-१७॥

भावार्थ :— संसार के पदार्थों की आशा ससार रूपी कर्दम में फसाने वाली है । जबकि आशा का त्याग मोक्ष को देने वाला है, ऐसा भलो प्रकार विचार कर, जिसमें तेरा हित हो वैसा आचरण कर ।

निः शेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम् ॥३४-१७॥

भावार्थ :— हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा में स्थित सर्व क्लेशो से रहित अमूर्तिक, परम उत्कृष्ट, अविनाशी, निर्विकल्प और अतीन्द्रिय अपने ही आत्मस्वरूप का अनुभव कर । उसी को देख । यही निश्चयचारित्र है ।

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासु क्षमा नो तदानीं
भजति विफलभावं सर्वथैव प्रयासः ॥४६-१९॥

भावार्थ :- मुनिराज विचारते हैं कि इस जगत में हम परमात्मा के ध्यान मे लीन हैं, पदार्थों के स्वरूप के ज्ञाता हैं, ससार के मार्ग के त्यागी हैं। यदि हम ऐसा होकर के भी उपसर्ग परीषहों की कसौटी से परीक्षा मे असफल हो जावें तो हमारा मुनिधर्म धारण का सर्व प्रयास वृथा ही हो जावे। इसलिये हमे कभी शांत भाव का त्याग न करना चाहिये, कभी भी क्रोध के वश न होना चाहिये।

स्वसंवित्तिं समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥७७-१९॥

भावार्थ :- जब कषायो का विषमज्वर बिल्कुल शात हो जाता है तब ही संयमी मुनियो के भीतर उत्तम आत्मतत्व स्वसवेदनरूप झलकता है। अर्थात् तब ही वे शुद्धात्मा का अनुभव कर सकते हैं।

रागादिपङ्कविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि ।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७-२३॥

भावार्थ :- रागद्वेषादि कर्दम के अभाव से जब चित्तरूपी जल प्रसन्न या शुद्ध हो जाता है तब मुनि को सर्व वस्तुओ का स्वरूप स्पष्ट भासता है।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८-२३॥

भावार्थ :- वीतरागी साधु के भीतर ऐसा कोई अपूर्व परमानद पैदा होता है कि जिसके सामने तीन लोक का अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१०३-३२॥

भावार्थ :– हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा के द्वारा सर्व जगत के तत्वों को दिखाने के लिये अनुपम दीपक के समान, उपाधिरहित, परमानदमय, परममुनियो को भेदविज्ञान से प्रगट ऐसे आत्मा का अनुभव कर ।

(२६) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते हैं :–

संगं विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निस्पृहाः ॥५–३॥

भावार्थ :– ज्ञानी महात्मा इच्छारहित होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिये परिग्रह को त्याग कर एकांत स्थान पर्वत की गुफा आदि मे तिष्ठते है ।

निवृंत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः ॥१४–१२॥

भावार्थ :– जहा पापो से विरक्ति हो व शुभ कामो मे प्रवृत्ति हो वह व्यवहारनय से चारित्र मुनियो के वह तेरह प्रकार है ।

संगं मुक्त्वा जिनाकारं धृत्वा साम्यं दृशं धियं ।
यः स्मरेत शुद्धचिद्रूपं वृत्तं तस्य किलोत्तमं ॥१६—१२॥

भावार्थ :– जो कोई परिग्रह को त्यागकर व जिनेन्द्र के समान निग्रंथ-रूप धारण कर समता, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का धारी हो, शुद्ध चैतन्यस्वरूप का ध्यान करता है, उसी के उत्तम चारित्र होता है ।

शुद्धे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरनिश्चला ।
तच्चारित्रं परं विद्धि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ॥१८ – १२॥

भावार्थ :– निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में जो निश्चलता से स्थिति प्राप्त करना वह कर्मों का नाशक निश्चय सम्यक्चारित्र है ऐसा जानो ।

सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कर्मावश्यकानां
वृत्तादीनां दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीनां त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना—
माप्तैरुक्तं वरतरकृपया सर्वमेतद्धि शुद्ध्यै ॥४—१३॥

भावार्थ :– श्री अरहत भगवन्तो ने अत्यन्त कृपा करके वताया है कि ये सव काम आत्मा की शुद्धि के लिये ही करने योग्य हैं – (१) परमपूज्य

देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति, वन्दना व पूजा । (२) सामायिक प्रतिक्रमण आदि छः नित्यकर्मों का तथा सम्यक्चारित्र का दृढता से पालना । (३) उत्तम तप करना, (४) तीर्थयात्रा करनी, (५) परिग्रह आरम्भ आदि का त्यागना, (६) क्रोध मान आदि कषायो का जीतना ।

विशुद्धिसेवमासक्ता वसंति गिरिगह्वरे ।
विमुच्यानुपमं राज्यं सुखानि धनानि च ॥१७—१३॥

भावार्थ :- जो मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं वे उसकी सिद्धि के लिये अनुपम राज्य, इन्द्रियसुख तथा धनादि परिग्रह को त्याग कर पर्वत की गुफा में निवास करते हैं ।

विशुद्धिः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।
परमाचरणं सैव मुक्तेः पंथाश्च सैव हि ॥१९—१३॥

तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा ।
प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥२०—१३॥

भावार्थ :— आत्मा विशुद्धि ही परम धर्म है, यही आत्मा को सुख की खान है । यही परम चारित्र है, यही मोक्ष मार्ग है । इसलिये बुद्धिमान मुनि का कर्तव्य है कि प्रतिक्षण सदा शुद्ध चैतन्यस्वरूप के मनन से इसी आत्मशुद्धि का अभ्यास करे ।

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि निर्जने निवासमंतर्बहिःसंगमोचनं ।
मौनं क्षमातापनयोगधारणं चिच्चिंतयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ॥११—१४॥

भावार्थ :— जो कोई महात्मा शुद्ध चैतन्यरूप के मनन के साथ २ व्रतों को पालता है, शास्त्रो को पढ़ता है, तप करता है, निर्जन स्थान मे रहता है, बाहरी भीतरी परिग्रह का त्याग करता है मौन धारता है, क्षमा पालता है व आतापनयोग धारता है वही मोक्ष को पाता है ।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।
तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥१०—१५॥

भावार्थ :— शास्त्र को पढकर, गुरु से समझकर व साधर्मी की सगति से आत्मा के ज्ञान को पाकर उसी का सहारा लेकर बैठ और ध्यान कर, अन्य सगति का त्याग कर ।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च तत्त्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीना मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥८—१६॥

भावार्थ :— परिग्रह का त्याग, निर्जन स्थान, तत्वज्ञान, सर्व चिताओ का त्याग, बाधा रहितपना, मन वचन काय का निरोध, ये ही ध्यान के साधन मोक्ष के प्रयोजन से कहे गए हैं ।

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचिंतया ।
तदन्यचिंतया नूनं बध्येतैव न संशयः ॥६—१८॥

भावार्थ :— यदि शुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तवन किया जावे तो क्षरण क्षरण में कर्मों से मुक्ति होती चली जायेगी और यदि पर पदार्थों का चिन्तवन होगा तो प्रति समय कर्मों का बन्ध होता ही रहेगा, इसमें कोई सशय नही है ।

(२८) पं. बनारसीदासजी बनारसीविलास में कहते हैं :—

[छप्पय]

जिन पूजहु गुरुनमहु, जैन मत वैन बखानहु ।
सघ भक्ति आदरहु, जीव हिंसा नविधानहु ॥
झूठ अदत्त कुशील, त्याग परिग्रह परमानहु ।
क्रोध मान छल लोभ जीत, सज्जनता ठानहु ॥
गुणिसंग करहु इन्द्रिय दमहु, देहु दान तप भावजुत ।
गहि मन विराग इहिविधि चहहु, जो जगमें जीवनमुकत ॥८॥

[सवैया इकतीसा]

सुकत की खान इन्द्र पुरीकी नसैनी जान,
पापरजखंडन को, पौनरासि पेखिये ।
भव दुख पावक बुझायवे को मेघ माला,
कमला मिलायवे को दूती ज्यो विशेखिये ॥
सुगति वधूसो प्रीत पालवे को आलीसम,
कुगति के द्वार दृढ, आगलसी देखिये ।
ऐसी दया कीजै चित; तिहु लोकप्राणीहित,
और करतूत काहू; लेखे मे न लेखिये ॥२५॥

जाके आदरत महा रिद्धिसो मिलाप होय,
मदन अव्याप होय कर्म बन दाहिये ।
विघून विनास होय गीरबाण दास होय,
ज्ञान को प्रकाश होय भो समुद्र थाहिये ।।
देवपद खेल होय मगलसो मेल होय,
इन्द्रिनि की जेल होय मोक्षपथ गाहिये ।
जाकी ऐसी महिमा प्रगट कहै कौंरपाल,
तिहुँलोक तिहुँकाल सो तप सराहिये ।।८२।।
पूरब करम दहै, सरवज्ञ पद लहै,
गहै पुण्यपथ फिर पाप मैं न आवना ।
करुना की कला जागं कठिन कषाय भागे;
लागं दानशील तप सफल सुहावना ।।
पावै भवसिंधु तट खोलै मोक्षद्वार पट,
शर्म साध धर्म की धरा मे करै धावना ।
एते सब काज करै अलख को अग धरै,
चेरी चिदानद की अकेली एक भावना ।।८६।।

[सबैया तेईसा]

धीरज तात क्षमा जननी परमारथ मीत महा रुचि भासी ।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा मति, पुत्रवधू समता प्रतिभासी ।।
उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र महोदयदासी ।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग, यों मुनि को कहिये गृहवासी ।।७।।
(२९) प. बनारसीदासजी नाटक समयसार में कहते हैं :—

[सवैया इकतीसा]

लज्जावंत दयावत प्रसन्न प्रतीतवत,
पर दोष को ढकैया पर उपकारी है ।
सौम्यदृष्टि गुणग्राही गरिष्ट सबकों इष्ट,
सिष्ट पक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है ।।

विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तज्ञ धरमज्ञ,
न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी ।
सहज विनीत पाप क्रियासो अतीत ऐसो,
श्रावक पुनीत इकवीस गुणधारी ॥५५॥

कोई क्रूर कष्ट सहे तपसों शरीर दहे,
धूम्रपान करे अधो मुख व्हैके भूले है ।
केई महाव्रत गहे क्रिया मे मगन रहे,
वहे मुनिभार पै पयार कैसे पूले है ॥
इत्यादिक जीवनि को सर्वथा मुकुति नाहि,
फिरे जगमाहि ज्यो वयार के वघूले है ।
जिन्हके हिये मे ज्ञान तिन्हही को निरवाण,
करम के करतार भरम मे भूले है ॥२०॥

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवत कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप है ।
कालसों अतीत कर्म चालसो अभीत जोग,
जालसो अजीत जाकी महिमा अनूप है ॥
मोह को विलास यह जगतको वास मै तो,
जगत सो शून्य पाप पुण्य अध कूप है ।
पाप किने किये कोन करे करि है सो कौन,
क्रिया को विचार सुपने की दोर धूप है ॥६१॥

भेष में न ज्ञान नहिं ज्ञान गुरु वर्तन में,
मंत्रजंत्र गुरुतंत्र में न ज्ञान की कहानी है ।
ग्रन्थ में न ज्ञान नही ज्ञान कवि चातुरी मे,
बातनि मे ज्ञान नही ज्ञान कहा वानी है ॥
तातें भेष गुरुता कवित्त ग्रन्थ मत्र बात,
इनीते अतीत ज्ञान चेतना निशानी है ।
ज्ञान ही मे ज्ञान नही ज्ञान और ठोर कहू,
जाके घट ज्ञान सोही ज्ञान की निदानी है ॥१११॥

हासी मे विषाद बसे विद्या मे विवाद बसे,
काया में मरण गुरु वर्तन मे हीनता ।
शुचि मे गिलानि बसे प्रापती मे हानि बसे,
जय मे हारि सुन्दर दशा मे छबि छीनता ।।
रोग बसे भोग में सयोग मे वियोग वसे,
गुण मे गरव बसे सेवा माहि दीनता ।
और जग रीत जेती गर्भित असाता तेति,
साता की सहेली है अकेली उदासीनता ।।६।।

जे जीव दरवरूप तथा परयाय रूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है ।
जे अशुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषैसो विमुख ह्वै विरागता चहत है ।।
जे जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिको,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करत है ।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत है ।।३५।।

(३०) प. द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते हैं :—

[सवैया इकतीस]

काहूसौं ना बोलैं बैना जो बोलैं तौ साता दैना,
देखैं नाहीं नैना सेती रागी दोषी होइ कै ।
आसा दासी जानै पाखै माया मिथ्या दूर नाखै,
राधा हीयेमाही राखै सूधी दृष्टी जोइ कै ।।
इन्द्री कोई दौरे नाही आपा जानै आपा माही,
तेई पावैं मोख ठांही कर्म मैले धोइकै ।
ऐसे साधू बदौ प्रानी हीया वाचा काया ठानी,
जातैं कीजे आपा ज्ञानी भर्म बुद्धी खोइकै ।।२०।।

[छप्पय]

एक दया उर धरौ, करौ हिंसा कछु नाही ।
जति श्रावक आचरौ, मरौ मति अव्रतमाही ।।
रतनत्रै अनुसरौ, हरौ मिथ्यात अन्धेरा ।
दसलच्छन गुन वरौ, तरौ दुख-नीर सवेरा ।।
इक सुद्ध भाव जल घट भरौ, डरौ न सु-पर-विचार में ।
ए धर्म पच पालौ नरौ, परौ न फिरि ससार में ।।११।।

[सवैया इकतीसा]

आवके वरस घनै ताके दिन केई गनै,
दिन मे अनेक स्वास स्वासमांहि आवली ।
ताके बहु समै धार तामै दोष हैं अपार,
जीव भाव के विकार जे जे वात वावली ।।
ताको दड अब कहा लैन जोग शक्ति महा,
हौं तौ बलहीन जरा आवति उतावली ।
द्यानत प्रनाम करै चित्तमांहि प्रीत धरै,
नासियै दया प्रकास दास को भवावली ।।११।।

[सवैया तेईसा]

भौतन-भोग तज्यों गहि जोग, सजोग वियोग समान निहारैं ।
चन्दन लावत सर्प कटावत, पुष्प चढ़ावत खर्ग प्रहारै ।।
देहसौं भिन्न लखै निज चिन्न, न खिन्न परीसह मैं सुख धारैं ।
द्यानत साध समाधि आराधिकै, मोह निवारिकै जोति विथारै ।।१६।।

आठ धरै गुनमूल दुआदश, वृत्त गहैं तप द्वादस साधैं ।
चारि हु दान पिबै जल छान, न राति भखै-समता रस लाधैं ।।
ग्यारह भेद लहैं प्रतिमा सुभ, दर्सन ग्यान चरित्त अराधैं ।
द्यानत त्रेपन भेद क्रिया यह, पालत टालत कर्म उपाधैं ।।१९।।

लोगनिसौं मिलनौं हमको दुःख, साहनिसौं मिलनौ दुःख भारी ।
भूपति सौं मिलनौं मरनै सम, एक दसा मोहि लागत प्यारी ।।

चाह की दाह जलै जिय मूरख, वेपरवाह महा सुखकारी ।
द्यानत याहीतै ग्यानी अबछक, कर्म की चाल सबै जिन टारी ।।२७।।
निंदक नाही क्षमा उरमाही, दुखी लखि भाव दयाल करै है ।
जीवकौ घात न झूठ की बात न, लेहि अदात न सील धरै है ।।
गर्व गयौ गल नाहि कहू छल, मोम सुभावसी जोम हरै है ।
देहसौ छीन है ग्यान मे लीन हैं, द्यानत ते सिवनारि वरै है ।।४६।।

[सवैया इकतीसा]

वृच्छ फलै पर-काज नदी और के इलाज,
गाय-दूध सत-धन लोक-सुखकार है ।
चदन घसाइ देखौ कचन तपाई देखौ,
अगर जलाई देखौ शोभा विसतार है ।।
सुधा होत चदमाहि जैसे छाह तरु माहि,
पाले मे सहज सीत आतप निवार है ।
तैसे साधलोग सब लोगनि को सुखकारी,
तिनहीकौ जीवन जगत माहि सार है ।।८।।

[सवैया]

क्रोध सुई जु करै करमौ पर, मान सुई दिढ भक्ति बढावै ।
माया सुई परकष्ट निवारत, लोभ सुई तपसौ तन तावै ।।
राग सुई गुरु देवपै कीजिये, दोष सुई न विषै सुख भावै ।
मोह सुई जु लखै सब आपसे, द्यानत सज्जन सो कहिलावै ।।११।।
पीर सुई पर पीर विढारत, धीर सुई जु कषायसौ जूझै ।
नीति सुई जो अनीति निवारत, मीत सुई अघसौ न अरूझै ।।
औगुन सो गुन दोष विचारत, जो गुन सो समतारस बूझै ।
मजन सो जु करे मन मजन, अजन सो जु निरंजन सूझै ।।१२।।

(३१) भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास मे कहते हैं –

[सवैया इकतीसा]

दहिकें करम-अघ लहिकें परम मग,
गहिकें धरम ध्यान ज्ञान की लगन है ।

शुद्ध निजरूप धरै परसो न प्रीति करै,
वसत शरीर पै अलिप्त ज्यो गगन है ।।
निश्चे परिणाम साधि अपने गुणे अराधि,
अपनी समाधिमध्य अपनी जगन है ।
शुद्ध उपयोगी मुनि रागद्वेष भये शून्य,
परसो लगन नाहि आप मे मगन है ।।६।।

मिथ्यामतरीत टारी, भयो अणुव्रतधारी,
एकादश भेदभारी हिरदै वहतु है ।
सेवा जिनराज की है, यहै सिरताज की है,
भक्ति मुनिराज की है चित्त मे चहतु है ।।
वीसद्वै निवारी राति भोजन न अक्षप्रीति,
इन्द्रिन को जीति चित्त थिरता गहतु है ।
दयाभाव सदा धरै, मित्रता प्रगट करै,
पापमलपक हरै मुनि यो कहतु है ।।७।।

आतम सरूप ध्रुव निर्मल तत्त्व जानि,
महाव्रतधारी वन माहि जाहि बसे है ।
मोहनी जनित जे जे विकलप जाल हुते,
तिनको मिटाइ निज अतरग बसे है ।।
मनरूप पवनसो अचल भयो है ज्ञान,
ध्यान लाइ ताही के आनन्द रस रसे हैं ।
तजि सबसग भए गिरि ज्यो अडोल अग,
तेई मुनि जयवंत जगत में लसे है ।।७।।

परमाणु मात्र पर वस्तुसों न रागभाव,
विषय कषाय जिन्हें कबही न छाय है ।
मन वच काय के विकारकी न छाया रही,
पाया शुद्ध पद तहां थिरभाव थाय है ।।
जिनके विलास मे विनास दीसे बध हीको,
सहज प्रकाश होई मोक्ष को मिलाप है ।

धर्म के जहाज मुनिराज गुन के समाज,
अपने स्वरूप में बिराजि है आप हैं ।।५।।

[सवैया तेईसा]

पथ व्रहै सरवज्ञ जहा प्रभु, जीव अजीव के भेद बतैये ।
पथ वहै जु निर्ग्रन्थ महामुनि, देखत रूप महासुख पैये ।।
पथ वहै जहँ ग्रन्थ विरोध न, आदि औ अतलौ एक लखैये ।
पथ वहै जहां जीवदयावृष, कर्म खपाइकै सिद्ध मे जेये ।।२३।।
पथ वहै जहँ साधु चलै, सब चेतन की चरचा चित लैये ।
पथ वहै जहँ आप विराजत, लोक अलोक के ईश जु गैये ।।
पथ वहै परमान चिदानद, जाके चलै भव भूल न ऐये ।
पथ वहै जहँ मोक्ष को मारग, सूधे चले शिवलोक मे जैये ।।२४।।

[सवैया इकतीसा]

नरदेह पाये कहा पडित कहाये कहा,
तीरथ के न्हाये कहा तीर तो न जैहै रे ।
लच्छिके कमाये कहा अच्छ के अघाये कहा,
छत्र के धराये कहा छीनता न ऐहै रे ।।
केश के मुडाये कहा भेष के बनाये कहा,
जोवन के आये कहा, जराहू न खैहै रे ।
भ्रम को विलास कहा दुर्जन मे वास कहा,
आतम प्रकाश विन पीछें पछितैहै रे ।।६।।

जाके होय क्रोध ताके बोध को न लेश कहू,
जाके उर मान ताके गुरु को न ज्ञान है ।
जाके मुख माया वसै ताके पाप केई लसैं,
लोभ के धरैया ताको आरत को ध्यान है ।।
चारो ये कषाय सु तौ दुर्गति ले जाय,
'भैया' इहा न वसाय कछु जोर बलप्रान है ।
आतम अधार एक सम्यक प्रकार लसै,
याही तै आधार निज थान दरम्यान है ।।

[छप्पय]

जो अरहंत सुजीव, जीव सब सिद्ध भणिज्जे ।
आचारज पुन जीव, जीव उवझाय गणिज्जे ।।
साधु पुरुष सब जीव, जीव चेतन पद राजै ।
सो तेरे घट निकट, देख निज शुद्ध बिराजै ।।
सब जीव द्रव्य नय एक से, केवलज्ञान स्वरूप मय ।
तस ध्यान करहु हो भव्यजन, जो पावहु पदवी अखय ।।११।।

[सवैया]

जो जिनदेव की सेव करै जग, ता जिनदेव सो आप निहारै ।
जो शिवलोक वसै परमातम, तासम आसम शुद्ध विचारै ।।
आप मे आप लखै अपनो पद, पापरु पुण्य दुहूँ निरवारै ।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इहि भाति क्रिया करतारै ।।१२।।

[सवैया इकतीसा]

एक जीव द्रव्य मे अनत गुण विद्यमान,
एक एक गुण मे अनत शक्ति देखिये ।
ज्ञान को निहारिये तो पार याको कहु नाहिं,
लोक औ अलोक सब याही मे विशेखिये ।।
दर्शन की ओर जो विलोकिये तो वही जोर,
छहो द्रव्य भिन्न भिन्न विद्यमान पेखिये ।
चारित सो थिरता अनत काल थिररूप,
ऐसे ही अनत गुण भैया सब लेखिये ।।१३।।
महा मत्र यहै सार पच पर्म नमस्कार,
भो जल उतारै पार भव्य को अधार है ।
विघ्न को विनाश करै, पापकर्म नाश करै,
आतम प्रकाश करै पूरब को सार है ।।
दुख चकचूर करै, दुर्जन को दूर करै,
सुख भरपूर करै परम उदार है ।
तिहूँ लोक तारन को आत्मा सुधारन को,
ज्ञान विस्तारन को यहै नमस्कार है ।।५।।

[छप्पय]

दुविधि परिग्रह त्याग, त्याग पुनि प्रकृति पच दश ।
गर्हहि महाव्रत भार, लर्हहि निज सार शुद्ध रस ।
धर्हहि सुध्यान प्रधान, ज्ञान अमृत रस चक्खहि ।
सर्हहि परीषह जोर, व्रत निज नीके रक्खहि ।।
पुनि चर्ढहि श्रेणी गुण थान पथ, केवल पद प्रापति करहि ।
सत चरण कमल वदत करत, पाप पुज पकति हरहि ।।११।।

[सवैया इकतीसा]

भरम की रीति भानी परमसो प्रीति ठानि,
धरम की बात जानी ध्यावत घरी घरी ।
जिनकी बखानी वानी सोई उर नीके आनी,
निहचै ठहरानी दृढ ह्वके खरी खरी ।।
निज निधि पहचानी तब भयो ब्रह्म ज्ञानी,
शिवलोक की निशानी आपमे धरी धरी ।
भौ थिति विलानी अरि सत्ता जुहठानी,
तव भयो शुद्ध प्रानी जिन वैसी जे करी करी ।।१२।।



अन्तिम मंगल और प्रशस्ति

मगल श्री अरहत पद, मगल सिद्ध महान ।
मगल श्री आचार्य है, मगल पाठक जान ।। १ ।।
मगल श्री जिन साधु हैं, पच परम पद मान ।
भक्ति करै गुण हिय धरै, पावै नित कल्याण ।। २ ।।
सहज समाधि दशा भई, है आतम अविकार ।
ज्ञान देश सुख वीर्य मय, परम ब्रह्म सुखकार ।। ३ ।।
नही कर्म आठो जहाँ, नही शरीर मलीन ।
राग द्वेष मोहादिकी, नही व्यथा नहि हीन ।। ४ ।।
परमातम परमेश जिन, परम ब्रह्म भगवान ।
आतमराम सदा सुखी, गुण अनन्त अमलान ।। ५ ।।

जो जाने निज द्रव्य को शुद्ध सिद्ध सम सार ।
करै रमण होवै मगन, पावै गुण अधिकार ।। ६ ।।
आतम ज्ञान विलास से, सुखी होय यह जीव ।
भव दुख सुख मे सम रहे, समता लहै सदीव ।। ७ ।।
गृही होय या साधु हो, जो जानै अध्यातम ।
नरभव सफल करै वही, चाखै रस निज आतम ।। ८ ।।
आतम ज्ञान विचार से, जग नाटक का खेल ।
देखत है ज्ञानी सदा, करत न तासे मेल ।। ९ ।।
निर्धन हो या हो धनिक, सेवक स्वामी होय ।
सदा सुखी अध्यातम से, दुखी न कबहू होय ।। १० ।।
जगत जीव जानै सभी, निज सम भ्रात समान ।
मैत्री भाव सदा करै, हो सहाय सुख मान ।। ११ ।।
दुखित भुखित रोगी जगत, तापै करुणा धार ।
मदद करै दुख सब हरै, धरै विनय हर बार ।। १२ ।।
गुणिजन धर्मी तत्ववित्, देख प्रसन्न अपार ।
गुणग्राही सज्जन सदा, शुद्ध भावना सार ।। १३ ।।
विनय रहित हठ जो करै, धरै उपेक्षा भाव ।
द्वेष भाव चित्त न धरै, है सम्यक्त स्वभाव ।। १४ ।।
पर उपकार स्वभाव से, करै वृक्ष सम सार ।
अथवा सरिता जल समा, करै दान उपकार ।। १५ ।।
लक्ष्मी बल अधिकार सब, पर हित आवे काज ।
यही वान सम्यक्तकी, धरै सजन तज लाज ।। १६ ।।
राष्ट्र जाति जन जगत हित करै, धरै नहि चाह ।
महिमा सम्यक् ज्ञान की, प्रगटे हृदय अथाह ।। १७ ।।
लाभ हानि मे सम रहे, जीवन मरण समान ।
सम्यक्ती सम भाव से, करै कर्म की हान ।। १८ ।।
सहज परम सुख आप गुण, आपी मे हर आन ।
जो आपा को जानता, पावै सुख अघ हान ।। १९ ।।

ताके साधन कथन को, लिखा ग्रन्थ मन लाय ।
रुचि धारी अध्यातम के, पढो सुनो हरखाय ।। २० ।।
आपी साधन साध्य है, आपी शिव मग जाय ।
आपी शिवमय होत है, आपी आप समाय ।। २१ ।।
धर्म आप माही बसे, आपी धर्मी जान ।
जो धर्मी सो मुक्तिपथ, बही मुक्त सुख खान ।। २२ ।।
इसी तत्व को जानकर, रहिये ज्ञानी होय ।
सम दमसे निज ध्यानकर, बँधे कर्म सब खोय ।। २३ ।।
होय निरजन सिद्ध प्रभु, परमातम यति माथ ।
नित्य सुखी बाधा रहित, मूरत विन जगनाथ ।। २४ ।।
श्रीमद् रायचन्द्र कवि, शत अवधान कराय ।
गुर्जर भू भूषित कियो, परम बुद्धि प्रगटाय ।। २५ ।।
जैन शास्त्र बहु देखकर, अध्यातम रुचि धार ।
निश्चय नय के मनन से, उपजो सम्यक् सार ।। २६ ।।
सहजानन्द विलास मे, रत्नत्रय को पाय ।
सफल जन्म कवि ने किया, चारित्र पंथ बढाय ।। २७ ।।
दिव्य ज्योति निज तत्व की, प्रगट भई उमगाय ।
वाणी सरस सुहावनी, बुधजन प्रेम बढाय ।। २८ ।।
व्यवहारी कितने हुते, क्रियाकाड मे लीन ।
आतम तत्व लखे नही, कहै साधु सगहीन ।। २९ ।।
निज को तत्व दिखाइयो, भए सत्य पथ धार ।
निजानन्द को पायके, उमगे अधिक अपार ।। ३० ।।
थानक धारी साधुवर, बहु व्यवहार प्रवीण ।
निश्चय पथ ज्ञाता नही, बाहर तप मे लीन ।। ३१ ।।
सो श्रीमद् परसाद से, पायो तत्त्व असग ।
परम शिष्य उनके भए, श्री लघुराज अभग ।। ३२ ।।
श्रीमद् के पश्चात् बहु, किया प्रकाश स्वतत्व ।
बहु जन शिव मारग लखो, तजा स्वकल्पित तत्व ।। ३३ ।।
निकटानन्द अगास मे, आश्रम रम्य बनाय ।
नाम सनातन जैन का, दियो सकल सुखदाय ।। ३४ ।।

श्री जिन मंदिर तहँ लसै, उभय जु एकी थान ।
दिगम्बरी श्वेताबरी, करै भक्ति सब ग्रान ।। ३५ ।।
सर्व धर्म पुस्तक मिलै, ग्रध्यातम रस पोष ।
पढै बहुत नरनारि तहँ, जानै मारग मोष ।। ३६ ।।
नितप्रति धर्म उपदेश की, वर्षा करत महान ।
श्री लघुराज दयालु हो, सुनै भव्य दे कान ।। ३७ ।।
बहुत बार संगति मिली, महाराज लघुराज ।
ग्रध्यातम चर्चा चली, भयो सु ग्रातम काज ।। ३८ ।।
सहज सुख साधन निमित्त, जैन रिषिन के वाक्य ।
जो संग्रह हो जाय तो, पढै भविक ते वाक्य ।। ३९ ।।
ऐसी इच्छा पाय के, लिखा ग्रन्थ यह सार ।
भूलचूक कुछ होय तो, विद्वन् लेहु सम्हार ।। ४० ।।
लेखक नाम निक्षेप से, है सीतलपरसाद ।
लक्ष्मणपुर वासी सही, भ्रमत हरत परमाद ।। ४१ ।।
ब्रह्मचारि श्रावक कहे लोग भेष को देख ।
प्रेम कछुक वर्ते सही, श्री जिन ग्रागम पेख ।। ४२ ।।
छप्पन वय ग्रनुमान मे, ग्रमरावतिपुर ग्राय ।
वर्षाकाल विताइयो, बहु श्रावक सँग पाय ।। ४३ ।।
सिंहई पन्नालालजी, प्रोफेसर हीरालाल ।
श्री जमनापरसाद है, सब-जज चित्त रसाल ।। ४४ ।।
साधर्मी जन संग मे, सुख से काल विताय ।
लिख्यो ग्रन्थ निज हेतु ही, ज्ञान ध्यान मन लाय ।। ४५ ।।
ग्राश्विन सुदि ग्रष्टम दिना, मंगल दिन शुभ पूर्ण ।
वीर मुकत सम्वत् तभी, चौबिस साठ ग्रपूर्ण ।। ४६ ।।
विक्रम ? उन्निस इक्यानवे, सन् उन्निस चौतीस ।
सोलह ग्रक्टूबर सुभग, वंदहुँ वीर मुनीश ।। ४७ ।।
जगजन भाव बढाय के, पढै सुनै यह सार ।
मनन करै धारण करै, लहै तत्त्व ग्रविकार ।। ४८ ।।